साम्प्रदायिकता का अन्त, अस्पृश्यता का अन्त, बाल-विवाह का अन्त, बहु-विवाह प्रथा, विधवाओं की दुर्दशा मे सुधार, स्त्रियों की दशा में सुधार, श्रमिकों की स्थिति में सुधार। १६९-१८०

न्द्रहवाँ अध्याय— राष्ट्रीय आन्दोलन

सशस्त्र-क्रांति-कारण। राष्ट्रीय भावना की जागृति-जागृति के रण। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म-इतिहास। गांधी युग-असहयोग आन्दोलन, स्वराज्यदल, साइमन कमीशन, गोलमेज कांफ्रेंस, क्रिप्स योजना, भारत-छोड़ो प्रस्ताव, केबिनेट मिशन, स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता के बाद। १८१-१९८

दूसरा भाग-सामान्य विज्ञान

प्रथम अध्याय— विज्ञान:एक दृष्टि २०१-२०५

दूसरा अध्याय— पृथ्वी की उत्पत्ति

कांट एवं लापलेस की कल्पना, चैम्बरलेन और मोल्टनकी कल्पना, जीन्स और जेफरे की कल्पना, फान वायजेकर का नया सिद्धान्त। २०६-२११

तीसरा अध्याय— भूगर्भ एवं भूस्तर

स्येस की विचारधारा। पृथ्वी का धरातल-चट्टानें, भूचाल और ज्वालामुखी। परिवर्तनकारी शक्तियाँ-जल, तापक्रम, लहरें, बर्फ, वायु। मूगें की चट्टाने। २१२-२१७

चौथा अध्याय — कार्य:शक्ति और सामर्थ्य

कार्य—कार्य की इकाई, गुरुत्वाकर्षण इकाई। सामर्थ्य—सामर्थ्य की इकाई। कार्य और सामर्थ्य में अन्तर। शक्ति—शक्ति और सामर्थ्य में अन्तर। शक्ति के विभिन्न रूप। शक्ति का रूप परिवर्त्तन और शक्ति स्थिरता का सिद्धान्त। शक्ति का क्षय। २१८-२४८

पाँचवाँ अध्याय— द्रव्य या पदार्थ

द्रव्य क्या है? बनावट—अणु और परमाणु। पृथ्वी के बाह्य स्तर मे तत्वों का बितरण। गयात्मक अणु सिद्धान्त। अणु-परमाणु के आकार का स्थूल-चित्रण। परमाणु सम्बन्धी विचार-प्राचीन विचार, डाल्टन सिद्धान्त, आधुनिक विचार। कैथोड-किरणें—इलेक्ट्रान। धन-विद्युत युक्त रश्मियाँ। रदर फोर्ड का नाभिकीय सिद्धान्त। बोहर का परमाणु निरूपण। परमाणु संख्या। न्यूट्रान। बोहर-व्यूरी योजना। पदार्थ के अन्य मूलकण। द्रव्य की आधुनिक विचारधारा। २४९-२६८

अनुक्रमणिका—तत्वों की सूची २६९—२७२

षष्ठ अध्याय— परमाणु-नाभिक और परमाणु-शक्ति

रेडियम-धर्मिता की खोज। रेडियम धर्मी किरणें-अल्फा किरणें, बीटा-किरणें, गामा किरणें। रेडियम धर्मिता का सिद्धान्त। रेडियम धर्मी

परमाणुओं का विखंडन । समस्थानीय तत्व और सममारी तत्व । कृत्रिम विखंडन । रेडियम धर्मिता के उपयोग । परमाणु का नाभिक । परमाणु शक्ति । नाभिकीय विखंडन के व्यावहारिक उपयोग । भारत में प्रगति । सूर्य और तारों की शक्ति का स्रोत-अंतरिक्ष किरणें । २७३-२[illegible]

सातवाँ अध्याय— अणुओं का निर्माण

संयोजकता का इलेक्ट्रानिक सिद्धान्त । संयोजकता-वैद्युत बंधन, सह-बंधन और दाता बन्धन । द्रव्य के अविनाशत्व का नियम । स्थिर अनुपात का नियम । गुणक-अनुपात का नियम व्युत्क्रम-अनुपात का नियम । गैसीय-आयतन का नियम । २६८-३

आठवाँ अध्याय— कार्बन की अद्भुतता

प्रकृति में कार्बन । कार्बन के अपरूप । कार्बनिक यौगिकों के निर्माण का प्राण-शक्ति सिद्धान्त । प्राणशक्ति सिद्धान्त का अन्त । संयोजकता बंधन । कार्बनिक यौगिकों का विभाजन । यौगिकों के महत्वपूर्ण गुण । कार्बनिक यौगिकों का उपयोग । ३१०-३

नवाँ अध्याय— जीव-वस्तु के गुण

भूमिका, उत्तेजित्व, आत्मीकरण, वर्धन, मलोत्सर्ग, संतानोत्पादन, उच्चतर चेतना । ३२५-३

दसवाँ अध्याय— कोषाणु की संरचना

कोषाणु की खोज, इतिहास, संरचना, कोषाणु की रासायनिक संरचना,—प्रोटीन्स, फैट्स, कार्बोहाइड्रेट्स, नये कोषाणुओं का निर्माण । ३२६-३

ग्यारहवाँ अध्याय— चयापचय

चयापचय में जीव में होने वाली प्रक्रियाओं और परिवर्तनों का समावेश । उद्भिद व जड़ में चयापचय का प्रभाव, आंत्रकुल्या में वे रासायनिक प्रक्रियायें जिनसे चयापचय में सहायता मिलती है, वनस्पतियों में चयापचय ।

बारहवाँ अध्याय— पोषण

रासायनिक यौगिक, भोजन में पदार्थ—प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट्स खनिज, लवण, विटामिन, जल, कुछ सामान्य भोजनीय पदार्थों में पाये जाने वाले तत्व । ३४१-[illegible]

तेरहवाँ अध्याय— प्रजनन

प्रजनन क्रिया । शुक्र-कोष, डिंब कोष, गर्भाशय में नव-जीवन का विकास । गर्भाशय में बालक का पोषण । अलैंगिक प्रजनन । द्विभाजन क्रिया । बडिंग । ३४८-[illegible]

सामाजिक ज्ञान

प्रथम अध्याय

सामाजिक विकास की प्राथमिक गाथा

विषय प्रवेश—भूगर्भ-शास्त्र के पंडितों ने कठिन परिश्रम तथा निरन्तर संधान के वाद यह निर्धारित किया है कि हमारी पृथ्वी की आयु लगभग अरव साल है। इस दीर्घ अवधि का अधिकांश समय तो ऐसा था जिसमें ष्य का नामों निशान तक न था। पृथ्वी पर मनुष्य का आगमन एक तिकारी घटना थी। मनुष्य की कुछ अपनी विशेषताएँ थी जैसे कि मुक्त , वाणी की शक्ति तया सोचने-विचारने लायक मस्तिष्क। अपनी इन्हीं शेषताओं के कारण वह अन्य जीव-धारियों से पृथक रहा और अपने ही ान अन्य प्राणियों के साथ सामाजिक विकास करने में समर्थ हुआ। परन्तु स्थिति तक पहूंचने में कई युग व्यतीत हुए हैं। नाना प्रकार के परिवर्तनों ने गुजरना पड़ा है।

परन्तु परिवर्तन क्या है? जिस परिवर्तन में से हम गुजर रहे हैं वह है? क्या यह-प्रक्रिया (Process) है, विकास (Evolution) है उन्नति (growth) है? हमें इस पर विचार कर लेना चाहिए। परिवर्तन अर्थ है, किसी 'वस्तु' की 'समय' की दृष्टि से, 'भिन्न भिन्न' अवस्था। ंतु परिवर्तन एक ही समय में नहीं होता। इसके लिए यह आवश्यक है भी चीज हर समय अपने मूल रूप में ही नहीं रहे-बदलती रहे। प्रत्येक र्तन में तीन तत्व काम कर रहे होते हैं। ये तत्व है—वस्तु (object) भिन्नता fference) और समय (time) क्योंकि विना किसी वस्तु के परिवर्तन सवाल ही नहीं उठता। विना भिन्नता के भी परिवर्तन संभव नहीं और ही समय में भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यहां एक वात और ध्यान में ी चाहिए कि जिस प्रकार परिवर्तन में तीन तत्व काम करते हैं, वहां र्तन के तीन प्रकार भी होते है। ये इस प्रकार है—प्रक्रिया, विकास और ति।

अब हम सामाजिक परिवर्तन की तरफ आते हैं। सामाजिक-प्रक्रिया (soc-
ial process) सामाजिक विकास (social evolution) और सामाजिक
उन्नति (social progress) ये तीनों किसी न किसी रूप में सामाजिक
परिवर्तन के द्योतक है। प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य परिवर्तन की निरन्तरता
(continuity) से है, अर्थात् किसी वस्तु की समय की दृष्टि से निरन्तर
अवस्था, जो निरन्तर चाले कि अबाध गति से होती जाती है। एक के
दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, अनेक परिवर्तन लगातार होते चले जा रहे
हमारे समाज में भी लगातार एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा,
वर्तन होते ही रहे है और हो रहे है। इस प्रकार की परिवर्तन प्रक्रिया
किसी विशेष दिशा की तरफ नहीं होती है तो हम उसे केवल प्रक्रिया ही
है। परन्तु यदि परिवर्तन किसी निश्चित दिशा की तरफ हो रहे है तो
परिवर्तन की उस प्रक्रिया को विकास कहते हैं। विकास दो तरह का होता
बाह्य विकास और आन्तरिक विकास। इसी प्रकार विकास आगे की दि
भी हो सकता है और पीछे की दिशा में भी। परन्तु आगे की दिशा में
वाले विकास को हम 'उन्नति' कहते हैं। इसी उन्नति का मूल्यांकन किया
है। मूल्यांकन सब का भिन्न २ हो सकता है। 'एक की दृष्टि में अच्छा व
की दृष्टि में बुरा। इस दृष्टि से 'उन्नति' का अर्थ मूल्यांकन तो है, परन्तु
मूल्य जो आंकने वाले की दृष्टि से 'उन्नति' कहा जा सके। इसके लि
आवश्यक नहीं कि दूसरे की दृष्टि में भी वह 'उन्नत' ही हो।

प्रारम्भिक प्रक्रियाएँ (Early Processes)—अपनी प्रा
अवस्था में पृथ्वी चेतना हीन, निष्प्राण थी। फिर करोड़ों वर्षों के उ
प्राण का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग का नाम पूर्व तुम जीव काल रखा गया
इस युग के प्राणी जल में ही उत्पन्न होते थे। प्रारम्भिक जीवों में क्षुद्र
कोष, समुद्र-तृण, पादपों के तंतु आदि प्रमुख थे। फिर मत्स्य युग आया
मछलियों की उत्पत्ति हुई। स्थल पर सर्व प्रथम बुक रूपी प्राण की उत्पत्ति
फिर धीरे धीरे पंखों वाले पक्षी का जन्म हुआ। स्तनपेयी जीवों की
हुई। स्तनधारी जीवों की उत्पत्ति जीव-जगत में एक महत्वपूर्ण घटना थी।
कि इनके पूर्व के प्राणी अंडे देते थे और ये अपने अंडे अपने शरीर में ही

…र शिशु के परिपक्व होने पर उसे शरीर से बाहर निकालते और स्तन से दूध …ला कर उसका पालन करते थे। इसके बाद गैंडे, भैंसें, ऊंट, हाथी, घोड़ा …दि नाना प्रकार के पशुओं का जन्म हुआ।

मनुष्य रूपी प्राणी की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा … सकता। परन्तु आदि मानव के जो अवशेष उपलब्ध होते हैं उनसे प्रतीत …ता है कि मनुष्य विकास की तीन प्रक्रियाओं में से गुजरा है। इन तीन …क्रियाओं के कारण उसके तीन वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं;—

(१) भूमि पर निवास करने वाला वानर मनुष्य—अपनी प्रार…म्भक प्रक्रिया में आदि मनुष्य बन्दर के समान ही था। अन्तर केवल इतना ही … कि बन्दर पेड़ों पर रहता था और वानर-मानव भूमि पर रहता था। बन्दर … तरह इसके पूंछ भी नही थी। इसकी शारीरिक रचना मनुष्य से मिलती …ती थी। मनुष्य की तरह यह भूमि पर दो पावों से चलने लगे थे। परन्तु … प्राणी पूर्ण विकसित मनुष्य नहीं था। उसका मस्तिष्क बहुत छोटा था। … अर्द्ध विकसित मानव था।

(२) प्राचीन मानव—दूसरा वर्ग वह है जिसमें उसका मस्तिष्क कुछ …त हो जाता है और वह पूर्ण विकसित मनुष्य के काफी निकट आ जाता है. … प्राणी जावा में, दक्षिणी इंगलैण्ड तथा पश्चिमी यूरोप में पाये गये हैं, जिन्हें … निएन्डरथल-मानव (Neandertbal man) कहते हैं। निएन्डरथल …ष्य वर्तमान मनुष्य से काफी मिलते जुलते हैं। ये मनुष्य की भांति गुफाओं …हते थे। इन्हें अग्नि का ज्ञान था और सूखी पत्तियों पर पत्थर रगड़ कर आग …न करते थे। इनके पास सीदे-साधे परन्तु सुन्दर पत्थर तथा लकड़ी से बने …-शस्त्र होते थे, जिनका प्रयोग छोटे जानवरों के शिकार में किया जाता …। इनके वस्त्र चमड़े के होते थे परन्तु उनमें वर्तमान मानव की सभी विशे…एं नहीं थी। उनके हिचकी नहीं होती थी और वे बोलने में भी असमर्थ … इनके दांत हमारी भांति नहीं थे। मस्तिष्क का विकास भी पूर्णतयाः नहीं …ाया था। ऐसा अनुमान है कि निएन्डरथल-मानव और वर्तमान मानव में …जुल कर संतति उत्पन्न करने की प्रथा भी रही होगी अर्थात् इन दोनों वर्गों …र-नारी का सहवास भी होता रहा होगा।

(२) वर्तमान-मानव (पूर्ण विकसित मानव)—पूर्ण विकसित मानव का प्रादुर्भाव आज से लगभग २५ हजार वर्ष पहले हुआ था। इसका आदि रूप जो हमें ज्ञात है वह है – क्रो-मेगनन, क्योंकि सर्वप्रथम इसके अवशेष मेंगनन तथा ग्रिमाल्डी की गुफाओं में ही मिले हैं। इस वर्ग ने निअन्डरथल मानव को पराजित किया और धीरे २ निअन्डरथल मानव और उनके वर्ग के प्राणियों का अस्तित्व समाप्त हो गया और तब से अब तक इसी वर्ग का पृथ्वी पर राज्य है।

प्राथमिक समाज (primitive societies)—प्राथमिक युग में मनुष्य अन्य पशुओं की भांति एक पशु ही था। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिये अपने शरीर के साधनों का ही उपयोग करना पड़ता था। नखों की सहायता से वह चीर-फाड़ करता, दांतों की सहायता से काटता और हाथों की सहायता से अन्य काम करता था। परन्तु धीरे धीरे उसकी शक्ति का विकास शुरु हुआ। हम पहले भी कह आये हैं कि मनुष्य की अपनी विशेषताएं हैं—जैसे बृहत मस्तिष्क, ऊर्ध्वस्थिति, मुक्त हाथ तथा बोलने की शक्ति, जिनके कारण वह अपना विकास कर सका और अन्य प्राणियों तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सका।

धीरे धीरे मनुष्य अन्य साधनों का भी प्रयोग करने लगा। उसने पत्थर के अस्त्र-शस्त्र बनाये, धनुष-बाण का प्रयोग प्रारम्भ किया, और शिकार करना शुरु किया। प्रारम्भिक युग में मनुष्य शिकार द्वारा ही अपनी जीविका का निर्वाह करता था। अतः इस युग को 'फिरन्दर' (Nomadic) जीवन अथवा शिकारी जीवन कहते हैं। वह शिकार के पीछे पीछे चला-फिरा करता था। इसी घुमक्कड़ जीवन में प्राथमिक समाज की विशेषताएं छिपी पड़ी हैं। शिकार के अभाव में मनुष्य कन्द-मूल फल खाकर अपनी भूख मिटाता था। अभी वस्तुओं को एकत्र करके रखना उसने नहीं सीखा था। इसलिए जहां शिकार मिलता, कन्द-मूल, फल-फूल मिलते वहीं बस जाता था मनुष्य और ज्यों ही इन चीजों की कमी हुई वह एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान की तरफ चला जाता। उस युग में जनसंख्या भी कम थी मनुष्य छोटे २ समुदायों में (Groups) रहते थे। अभी उनमें सामाजिक, पारिवारिक आदि भावनाओं की उत्पत्ति

नहीं हुई थी। नर और नारी इच्छानुसार समागम करते थे कभी एक के साथ तो कभी दूसरे-तीसरे के साथ। विवाह जैसी बात का अभी प्रचलन नही हुआ था। संतान अपनी माता के साथ रहती थी। समागम के लिए खून का सम्बन्ध भी बाधक नहीं था। ऐसी ही अवस्था थी प्राथमिक समाज की। इस युग में सभी मनुष्यों को काम करना पड़ता था। सम्पत्ति की भावना का उदय नही हुआ था। यही कारण है कि कुछ लोग इस अवस्था को आदिम साम्यवाद (Primitive Communism) के नाम से पुकारते हैं।

घुमक्कड़ जीवन के उपरान्त 'चरवाहा-जीवन' (Pastoral life) का विकास हुआ। इस जीवन में मनुष्य-समूह की संख्या में वृद्धि हुई और अधिक संख्या में लोग एक साथ रहने लगे। इस जीवन को पशु पालन जीवन भी कहते हैं। मनुष्य पशुओं को पालता और जरूरत पड़ने पर उन्हें मार कर खा-पी भी जाता। धीरे २ उसे दूध, दही, मक्खन की शक्ति का पता चला और वह इनका प्रयोग करने लगा। सामूहिकता की भावना का भी विकास हुआ। संक्षिप्त में यह जीवन पहले के जीवन से अधिक उन्नत, अधिक संगठित और स्थिर था।

कृषि के आविष्कार ने मनुष्य के जीवन में महान् परिवर्तन का सृजन किया। चरवाहा जीवन के बाद कृषि जीवन का सूत्रपात हुआ। मनुष्य ने कृषि सम्बन्धी कार्य अनेक कठिनाइयों एवं प्रयोगों के पश्चात सीखा। इसके फलस्वरूप मनुष्य ने घुमक्कड़ जीवन का परित्याग करके एक जगह पर स्थायी रूप से रहना शुरू कर दिया। कृषि के द्वारा मनुष्य ने अनाज तथा शाक-सब्जी उत्पन्न करना सीख लिया परन्तु उसको सुरक्षित रखने के लिये, भोजन बनाने के लिये, खाने के लिये बर्तनों की आवश्यकता हुई। अतः उसने कुम्हार को चाक से मिट्टी के बर्तन बनाये। सामान के भार को ढोने के लिये तथा सवारी के लिये घोड़े, गधे तथा भैंसें का पालन प्रारम्भ हुआ। इस युग की अंतिम तथा महत्वपूर्ण विशेषता थी-मनुष्य के द्वारा बुनने की पद्धति को ढूंढ निकालना; जिससे बाद में कुटीर-उद्योग की नींव पड़ी।

संस्था तथा समिति (Institution and Association)
ोनों शब्द भिन्न २ अर्थो के द्योतक है और विद्वानों ने इन शब्दों का
ाग भी भिन्न २ प्रकार से किया है । इन दोनों शब्दों में अधिकतर
। उत्पन्न हो जाता है क्योंकि कई बार दोनों शब्द एक ही वस्तु को
ोधित करते है; जैसे-विद्यापीठ, स्कूल, अस्पताल इत्यादि। वैसे समिति
व एक मूर्त (Concrete) समूह है और संस्था मनुष्यों के मूर्त समूह
नियंत्रित करने का एक अमूर्त साधन है । हम समितियों के सदस्य
े हैं पर संस्था के सदस्य नहीं होते । समिति सदस्यता बतलाती है,
संस्था कार्य करने के ढंग को बतलाती है । वास्तव में समिति अपने
ा-विशेषों को सामने रखकर 'संस्थाओं' का निर्माण करती है; जैसे
रवार एक समिति है। विवाह, घर, आदि संस्था के रूप हैं । राष्ट्र एक
मति हैं परन्तु विधान एक संस्था । हम अपनी पुस्तक में समिति और
था को एक साथ मिलाकर अध्ययन करेंगे।

परिवार का जन्मः—सर्वप्रथम परिवार का जन्म हुआ । मानव
ाज का इतिहास परिवार से प्रारम्भ होता है । परिवार के सहारे ही
ाज की अन्य संस्थाओं और समितियों का जन्म हुआ । परिवार एक
ा समूह है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध विधिपूर्वक स्वीकार किया
ता है और इसे स्थिर रूप दिया जाता है तथा संतान की उत्पत्ति,
लन–पोषण का उत्तरदायित्व लेकर स्त्री-पुरुष साथ साथ रहते है।

सर्वप्रथम परिवार का जन्म कब और कैसे हुआ ? इस प्रश्न को
भी तक सुलझाया नहीं गया है और हमें भिन्न २ मतों के दर्शन होते है ।
छ विद्वानों की राय है कि प्रारम्भ में पितृ सत्तात्मक परिवार की उत्पत्ति
ई। नर मादा को अपने अधिकार में रखता था और उसे दूसरे नर के
ास नहीं जाने देता था। इस विचारधारा के प्रसिद्ध समर्थक डार्विन के
नुयायी वेस्टर मार्क है । दूसरे विचारकों का कथन है कि प्रारम्भ में
ातृसत्तात्मक कुटुम्ब की प्रधानता थी । स्त्रियां अनेक पुरुषों के साथ रहती
। और प्रत्येक पुरुष हर स्त्री से सम्बन्ध रख सकता था । ऐसी अवस्था

में संतान माता के नाम से ही पहचानी जा सकती थी । इसलिए पिता का कोई स्थान नहीं था ।

यह तो निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि किस के परिवार की उत्पत्ति पहले हुई । परन्तु परिवार की उत्पत्ति क्यों हुई इस बात पर प्रकाश डाला जा सकता है । हम प्रायः देखते हैं कि युवा में प्रत्येक प्राणी के अन्दर काम-वासना का उदय होता है, चाहे वह पशु हो या पक्षी या मनुष्य । स्त्री के कन्या हो जाने पर वह पुरुष को बाधित करने लगी कि यदि वह काम-वासना की तृप्ति चाहता है तो के भरण-पोषण की जिम्मेदारी में हाथ बटाये । यह स्वाभाविक है पुरुष ने इसे स्वीकार किया और इस प्रकार परिवार की उत्पत्ति हुई

मातृ सत्तात्मक परिवार—इस प्रकार के परिवार में माता प्रधानता होती है । विवाह के बाद, स्त्री अपने माता-पिता, भाई-बहन साथ रहती है, अर्थात् अपने लोगों के साथ जिनके साथ उनका रक्त सम्बन्ध है रहती है और उन लोगों के साथ नहीं रहती जिनके साथ रुधिर का सम्बन्ध नहीं है । पति, पत्नि के घर पर रहता है और पैदा करता है परन्तु संतान पर माता का अधिकार होता है । नाना, का अधिकार होता है । पति को अपने रक्त से संबंधित का भार उठाना पड़ता है । वह समय था भी उपयुक्त । शिकारी चरवाहा जीवन में मनुष्य के पास काफी समय था और वह दोनों अपने परिवार तथा पत्नि के परिवार, के लिये समय निकाल सकता था ।

पितृ-सत्तात्मक परिवारः—यदि हम यह स्वीकार कर भी लें आदिम अवस्था में मातृसत्तात्मक परिवार की प्रधानता थी तो भी मानना पड़ेगा कि कृषि के आविष्कार ने इस प्रथा को समाप्त कर दिया जब मनुष्य कृषि-कर्म में जुट गया तो उसके लिये पत्नि के घर कठिन हो गया क्योंकि कृषि के कारोबार में उसे इतना समय ही मिलता था इस हालत में पत्नि को अपना परिवार छोड़ना पड़ा पति के साथ, पति के परिवार में रहना पड़ा होगा । इस प्रकार के परि में माता के स्थान पर पिता की प्रधानता होती है ।

विवाह के रूपः—हमने परिवार की उत्पत्ति का अध्ययन किया। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों से हुआ है। यौन-सम्बन्धों को स्थिर बनाये रखने के लिए दूसरों की स्वीकृति चाहिए और दूसरों की उपस्थिति में सभी को मान्य विवाह जैसा संस्करण होना चाहिए। प्रारम्भ में विवाह के क्या क्या रूप थे? यह हम निश्चित तौर पर नहीं कह सकते परन्तु विवाह के दो रूप-एक-विवाह (Monogamy) और बहु-विवाह (Polygamy) एक विवाह में एक पुरुष एक ही स्त्री से और एक स्त्री एक ही पुरुष से सम्बन्ध रखते हैं। बहु विवाह में स्त्री और पुरुष दोनों एक से अधिक स्त्री-पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। बहु-विवाह के तीन प्रमुख भेद पाये जाते हैं-- (१) बहु-भार्यता (Polygamy) -एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध (२) बहु-भर्तृता (Polyandry) -एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बन्ध और (३) यूथ-विवाह (Group Marriage)-अनेक पुरुषों के अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध। यूथ विवाह शायद बहुत पहले की अवस्था में रहा होगा। आधुनिक समय में तो केवल बहु-भार्यता तथा एक-विवाह ही प्रचलित है!

विवाह के नियमः—प्रारम्भिक अवस्था में विवाह कहाँ पर कर सकते हैं और कहाँ नहीं कर सकते, इसके बारे में कोई बाधा नहीं थी। जाति-पांति, आदि उस युग में विकसित ही नहीं हुये थे। न ही रुधिर की समानता का प्रश्न था। प्राथमिक अवस्था में भाई-बहन की शादी होती थी। हां, पिता-पुत्री और माता-पुत्र की शादी का उल्लेख नहीं मिलता। धीरे २ वर्ण व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था के कारण वैवाहिक नियम कठोर हो गये। धर्म के विकास का भी वैवाहिक नियमों पर बहुत प्रभाव पड़ा! समान रुधिर वालों में विवाह होना बन्द हो गया। हिन्दुओं में तो सगोत्र में भी शादी नहीं हो सकती।

वन्यजाति (Tribe) (कबीला) परिवार से वन्य-जाति की उत्पत्ति हुई। बहुत से मनुष्य सम्मिलित होकर खानाबदोशी जत्था (Band) के रूप में एक निश्चित भू- भाग में जीविका-निर्वाह के साधनों को ढूंढते थे। धीरे-२ इन जत्थों ने खानाबदोशी झुण्ड (Hordes) का रूप धारण कर

लिया। परन्तु जब झुण्ड की सदस्य संख्या बढ़ने लगी तो सम्पूर्ण झुण्ड को छोटे २ समूहों में विभाजित होना पड़ा। ये समूह अपने २ क्षेत्र में घूमते रहते थे परन्तु इनका नियंत्रण झुण्ड के मुखिया के द्वारा होता था। इस प्रकार ये समूहों के झुण्ड को 'वन्य जाति' कहकर पुकारा जाने लगा। एक वन्य जाति परिवारों का एक संकलन है, जिसका एक नाम होता है, जो एक बोली बोलती है, एक सामान्य भू भाग पर अधिकार रखती है। एक वन्य जाति का सामाजिक संगठन एक खानाबदोशी झुण्ड से अधिक विकसित होता है। इसकी एकता रक्त सम्बन्धों पर आश्रित रहती है।

गोत्र (Clan) (कुल) परिवार के बाद गोत्र का भी प्रमुख स्थान है। परिवार का सूत्र बढ़ता जाता है तो कई लोग जीविका निर्वाह के लिए दूर दूर चले जाते है। कई लोग जो दूर दूर बिखरे होते थे, और अपने को किसी एक ही पूर्वज की संतान मानते थे, वे सब इस संगठन के अंग माने जाते थे। इन्हें एक गोत्र (Clan) का कहा जाता था, और इन सबका शासन, इनकी व्यवस्था, इनके लड़ाई-झगड़ों का निपटारा परिवार का मुखिया करता था। जिस परिवार में अपने पूर्वजों का सारा इतिहास मौजूद होता था, सारी परम्परा वर्तमान थी, वही परिवार; गोत्र का मुखिया समझा जाता था।

वर्ण और जातिः—प्रारम्भिक अवस्था में न तो वर्ण व्यवस्था थी और न जाति प्रथा ही। सम्पूर्ण मानव समाज आखेट के द्वारा अपना पेट भरता था। धीरे धीरे कृषि, पशुपालन, भाण्ड कला, उपकरण निर्माण, चित्रकला आदि कार्यों का विकास होता गया और भिन्न २ समूहों ने कतिपय धन्धों में योग्यता प्राप्त करली। कई धन्धे अच्छे, कई साधारण और कुछ बुरे समझे जाने लगे। समाज में विषमता उत्पन्न हुई। काम के अनुसार समाज में वर्ण की उत्पत्ति हुई। एक बार काम के आधार पर जब समाज की व्यवस्था हो गई, तो उनकी संतान भी वही काम करने लगी। इस प्रकार पहले कर्म से फिर जन्म से कामों का बंटवारा हुआ। 'कर्म' के बंटवारे को 'वर्ण-व्यवस्था' और फिर 'जन्म' से चल पड़ने की प्रथा का 'जाति-व्यवस्था' नाम पड़ा। वर्ण व्यवस्था कब तक चलती रही और कब समाप्त हो गई इसे ठीक तरह से ...... जा सकता। आज हम अपने समाज में केवल जाति व्यवस्था

पते है, वर्ण व्यवस्था नहीं। हिन्दू समाज में इस समय जो व्यवस्था चल रही है वह कर्म पर आधारित न होकर 'जन्म' पर आधारित है।

राष्ट्र की उत्पत्ति तथा विकासः—राष्ट्र की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों की भिन्न २ धारणाएँ हैं। कुछ विचारक इसकी उत्पत्ति का 'मनोवैज्ञानिक' कारण बतलाते है तो दूसरे विचारकों की मान्यता है कि इसकी उत्पत्ति प्रारम्भिक संगठनों से धीरे २ हुई है। मोरले (Morley) के अनुसार मनुष्य ने अपनी सामाजिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये राष्ट्र का निर्माण किया। यह राष्ट्र की उत्पत्ति का मनोवैज्ञानिक पहलु है। विल्सन (Wilson) का विचार है कि परिवार से बढ़ते बढ़ते राष्ट्र की उत्पत्ति हुई जबकि कामन्स (Commons) का कथन है कि सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु राष्ट्र का जन्म हुआ। कोई 'युद्ध' को राष्ट्र की उत्पत्ति का आधार मानता है। यह सभी आधार राष्ट्र की उत्पत्ति में सहायक थे परन्तु केवल किसी एक ही आधार पर राष्ट्र की उत्पत्ति नहीं हुई थी।

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य शिकारी जीवन व्यतीत करता था। शिकार के समय मनुष्य समूह में घूमा करते थे। अर्थात् परिवार के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के साथ उसे शिकार पर जाना पड़ता था। इन सब व्यक्तियों को नियंत्रण में रखना पड़ता था। एक व्यवस्था में रहना पड़ता था। यही शासन था और यहीं पर, इसी व्यवस्था में राष्ट्र का आधार भूत एक तत्व प्रकट हो गया। राष्ट्र का दूसरा आधार तत्व है-भूमि। शिकारी अवस्था में इस तत्व का विकास नहीं हो पाया परन्तु, जब कृषि का आविष्कार हुआ तो मनुष्य ने भूमि के मूल्य को समझा। अतः उस युग के मुखिया को भूमि सम्बन्धी अधिकार भी मिल गये और वह भूमि की उचित व्यवस्था करने लग गया। इस प्रकार राष्ट्र के दूसरे आधार तत्व भूस्वामित्व का विकास हुआ। जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ भूमि का मूल्य भी बढ़ने लगा और भूमि को सम्पत्ति माना जाने लगा। अब दूसरे समूहों की भूमि को हड़पने के लिये युद्ध भी होने लगे। इस प्रकार राष्ट्र के दो और आधार तत्वों सम्पत्ति और युद्ध का विकास हुआ। इससे पहले राष्ट्र का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था क्योंकि सभी मनुष्य एक समान थे। परन्तु युद्ध, सम्पत्ति और भूस्वामित्व से समाज में वर्ग

भेद बढ़ा । भू-स्वामी तथा भूमि हीन वर्ग उत्पन्न हुये । दास प्रथा प्रचलित हुई
दासों पर शासन किया जाने लगा । एक विस्तृत मानव समूह का एक
भूखण्ड पर अधिकार स्थापित हो गया । इन सबको नियंत्रण में रखने के
विशेष नियम अपने आप बनते गये और यह विस्तृत भूखण्ड धीरे २ राज्य
परिवर्तित हो गया ।

राजा और राज्य की उत्पत्ति:—इस समय तक राजा की उत्पत्ति
नहीं हुई थी । भूस्वामी अपने हितों की सुरक्षा के लिये अनेक लड़ाकू दल
सरदार रखा करते थे और समय समय पर उन्हें भूमि बांटते रहते थे । धीरे
भूस्वामी राजा बन बैठे और सरदार सामन्त हो गये और जितनी भूमि पर
उनका अधिकार था, वह राज्य कहलाने लगा ।

परन्तु समाज शास्त्री राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी
निश्चित विचारधारा पर सहमत नहीं है । कुछ का कथन है कि राज्य
उत्पत्ति शक्ति के द्वारा हुई अर्थात् युद्धों के द्वारा हुई । यह बात कुछ अंश
तो सही मानी जा सकती है परन्तु आधार रूप में नहीं । क्योंकि शक्ति के
सहारे स्थापित संस्था या समिति स्थायी नहीं होती जबकि राज्य एक स्थायी
संस्था है । दूसरी विचारधारा 'दैवी-सिद्धान्त' वालों की है, जिसके अनुसार
राज्य की उत्पत्ति ईश्वर ने की । इसी कारण राजा को ईश्वर का पुत्र या
प्रतिनिधि समझा जाता था । इस मत का प्रारम्भ से लेकर मध्यकाल तक
बहुत प्रभाव रहा । परन्तु आधुनिक युग में जबकि जनता अन्धविश्वास तथा
धर्म की झूठी श्रद्धा के धरातल से ऊपर उठ चुकी है, इस मत की कोई
मान्यता नहीं रह गई है । तीसरी विचारधारा सामाजिक समझौते
(Social Contract) की है । इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक हॉब्स
लॉक और रूसो है । यद्यपि इन तीनों की प्रारम्भिक विचारधारा में कुछ
अन्तर है परन्तु अन्तिम मंजिल एक ही है । इनके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था
में मनुष्य सुखी था, न समाज था और न राज्य । परन्तु धीरे २ भूमि
सम्पत्ति की भावना ने लोगों में झगड़ालू प्रवृत्ति का विकास किया जिससे
मुक्ति पाने के लिये तथा उचित व्यवस्था के लिये सब लोगों ने मिलकर समझौता
किया और अपने अधिकारों को एक संस्था के सुपुर्द कर दिया ।

ंस्था राज्य कहलायी। यह सिद्धान्त देखने में सुन्दर दिखलाई पड़ता है], वास्तविक सत्य से काफी दूर है। आज के युग में जो सर्वमान्य सिद्धान्त ाह है–विकासवाद का सिद्धान्त इसके अनुसार राज्य धीरे २ विकसित । परिवार के अनुशासन तथा नियंत्रण के आधार पर धीरे २ राज्य जैसी ा का जन्म हो गया। इसकी उत्पत्ति तथा विकास धर्म, रक्त, जाति, ौगोलिक परिस्थितियां आदि विभिन्न तत्वों का सहयोग हैं।

सामाजिक उन्नति के प्रमुख सहायक तत्वः– प्रारम्भिक प्रक्रियाऐं, ाज और सामाजिक संस्थाओं का मूल क्या है, इसका अध्ययन करने के रान्त एक समस्या और बच जाती है। वह है समाज के प्रभावक तत्व – वे व जिनकी सहायता से समाज उन्नति की ओर अग्रसर हुआ है। सभ्यता र संस्कृति का विकास हुआ है। ये तत्व निम्न है :—

(१) पैतृकता और वातावरण (Heredity and environm- **nt)** भयंकर गर्मी के दिन आते है। काले काले वादल उमड़-घुमड़ कर बरसते और किसान वीज वोता है, अच्छी खाद देता है, सिंचाई से पानी पहुंचाता है र फिर अच्छी लहलहाती फसल को देखकर प्रसन्न होता है। इसका क्या ारण है ? अच्छा वीज और अनुकूल वातावरण। खराव वीज या खराब तावरण से फसल विगड़ जाती है। इसी प्रकार समाज में कुछ व्यक्ति प्रतिभा म्पन्न होते है, कुछ साधारण बुद्धि के और कुछ मूर्ख। इसका कारण भी च्छी पैतृकता और अच्छा वातावरण है।

पैतृकता मनुष्य को अपने माता–पिता से विरासत में मिलती है। यह ाह गुण है जो बच्चा अपने माता-पिता से जन्म के कारण पाता है। फ्रांसिस ाल्टन ने लिखा है कि महानता पैतृकता द्वारा निर्धारित होती है। पैतृकता के कारण ही मनुष्य की एक जाति अपनी कार्यक्षमता और बौद्धिक विकास में दूसरों से भिन्न है हमारे पूर्वजों ने भय होने पर पलायन, क्रोध होने पर लड़ना, आश्चर्य होने पर जिज्ञासा आदि कई शताब्दियों के वाद सीखा था। ये गुण हमें वंश परम्परा से प्राप्त होते गये और आज जो बच्चा पैदा होता है उसे ये गुण जन्म के साथ ही साथ स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाते है। उसे

हो भोजन की खोज में जाता है, जिससे वहां के सभाओं में सभ्यता का
ा नही हो सका है। समशीतोष्ण कटिबन्धो में भोजन प्राप्त करना बहुत
ल काम है। अतः यहां के समाजों को साहित्य, कला और विज्ञान की
करने का समय भी मिलता है। इसके कारण सामाजिक जीवन में भी
ा आ जाती है। समुद्र के किनारे रहने वाले लोग अच्छे नाविक होते है।
रे देशों के मनुष्यों के सम्पर्क में आते-रहते है, इस कारण उनके विचार
होते है। दूसरी तरफ पहाड़ियों से घिरे मानव-समाज के विचार संकु-
होते है। यही कारण है कि सड़क के किनारे या शहर के पास का
अपने सामाजिक जीवन में पहाड़ी गांव से भिन्न होता है। इसमें सन्देह
ही मनुष्य की सांस्कृतिक उन्नति ने उसे भौगोलिक वातावरण की उपेक्षा
सिखा दिया है। उसके बनाये जहाज समुद्र की छाती चीरते हुए अपना
बनाते है, पहाड़ों को काट कर उसने रास्ते बनाये है। परन्तु जब मानव
ा अपनी प्राथमिक अवस्था में था, भौगोलिक परिस्थितियों की उपेक्षा
की जा सकी होगी। भौगोलिक वातावरण समाज के जीवन साधन के
रण प्रस्तुत करता है। सभ्यता इन उपकरणों की सीमाओं का उल्लघंन
कर सकती।

(३) प्राणी-शास्त्रीय तत्व (Biological factors) हमारा
ज आज जो कुछ है, वह वही है जो हमारे माता-पिता ने अपने संस्कारों
रूप में हमें दिया है, और भावी समाज उसी ढंग का होगा जो अपनी संतान
देंगे। यह तीसरा तत्व है जो समाज की उन्नति में सहायक होता है।
तत्व के अन्तर्गत लिग-भेद, प्रजाति (Race) आदि आते है और इनके
रण ही समाज की एक निश्चित दिशा में, एक सीमा तक उन्नति होती
ती है। इसके अतिरिक्त और भी तत्व है जैसे परिवार, कुल, कबीला,
का हम अध्ययन कर चुके है।

समाज की उन्नति में प्रोद्योगिकी भूमिका (Role of Techn-
gy) प्रोद्योगिकीय तत्वों का समाज की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ है।
रम्भ से लेकर आज तक की सामाजिक उन्नति प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से
द्योगिकीय तत्वों के कारण ही फलती फूलती रही। शिकारी जीवन में

द्वितीय अध्याय

सभ्यता और सस्कृति का प्रसार

कृषि के आविष्कार ने मनुष्य समाज को उपजाऊ भूमि के आस-
निवास स्थान बनाने को बाधित किया। उपजाऊ भूमि के साथ साथ
प्राप्ति का भी ध्यान रखा गया, ताकि आवश्यकता पड़ने पर सिंचाई
ावन्ध भी किया जा सके। पशुओं को प्रचुर मात्रा में जल मिल
। रहने के लिए ईटों के लायक मिट्टी तथा उसको बनाने के लिए
मिल सके। क्योंकि अब दस-बीस परिवारों की समस्या नहीं थी
सैंकड़ों-हजारों परिवारों का प्रश्न था। ऐसे स्थान नदियों की घाटियों
पलब्ध हुए। जहां प्रचुर मात्रा में जल था, उपजाऊ भूमि थी, घरों
ानाने के लिए ईटों का निर्माण करने वाली मिट्टी थी। यही कारण है
विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएं नदियों की घाटियों में विकसित हुई
। उनमें से प्रमुख थी-मिश्र में नील नदी की सभ्यता, मेसोपोटेमिया
जला और फरात नदियों की घाटी में विकसित होने वाली सुमेरियन,
लोन, असीरियन सभ्यताएं, भारत में सिन्धु नदी की घाटी सभ्यता
चीन में ह्वांग हो और यांगत्सी नदियों की घाटी में विकसित होने
ी प्राचीन चीनी सभ्यता। फिर कालान्तर में यूनानी, ईरानी, रोमन
दि सभ्याताओं का विकास हुआ। दक्षिणी अमेरिका में मय सभ्यता
उत्थान हुआ था। इस अध्याय में हम मिश्र, सुमेर, बेबीलोन, चीन,
ाया, पेरू,-मैक्सिको, यूनान तथा रोम एवं मध्यकालीन सभ्यता के प्रमुख
ाणों का क्रमबद्ध अध्ययन करेगें।

(१) मिश्र की सभ्यता एवं सस्कृतिः—"मिश्र नील नदी का
दान है।" नील नदी के कारण ही मिश्र की प्राचीन सम्यता उन्नति
चरम सीमा पर पहुंच सकी थी। मिश्र की सभ्यता लगभग ५०००
प्राचीन है और शायद विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। ईसा पूर्व

४००० साल से लेकर ४०० वर्ष पूर्व तक मिश्र पर लगभग तीस व‍ं- ने शासन किया। कूफू अथवा चिओप्स मिश्र का महान् सम्राट् हु‍ जिसने संसार प्रसिद्ध गीजा के पिरामिड़ों का निर्माण करवाया।

धार्मिक विचारधारा:—प्राचीन युग में मिश्र के लोग अं‍धवि‍ की भावना से ओत-प्रोत थे। इसी कारण वे एक परमात्मा की उपा‍ न कर, अनेक देवी-देवताओं की उपासना करते थे। 'रा' (सूर्य)‍ 'ओम्मन' भी कहा जाता था, उनका प्रमुख देवता था। प्रत्येक ग्राम‍ नगर में उसके मंदिर थे। 'सिबू' आकाश का देवता था। 'नुइत'‍ की देवी मानी जाती थी। प्राकृतिक शक्तियों की उपासना के अ‍ति‍ जादू-टोना, तंत्र-मंत्र आदि में भी मिश्र के लोगों की श्रद्धा थी। वे‍ पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार आत्मा अमर थी।‍ के समय आत्मा शुद्धि के लिये परलोक गमन करती थी और शुद्धि‍ उपरान्त पुनः अपने मृतक शरीर में प्रवेश करती थी। इस विश्वास‍ आधार पर वे लोग अपने मृतक शरीरों को विशेष मसालों की सहा‍ से सुरक्षित रखते थे जिसे 'ममी' कहा जाता था। मिश्री सम्राट्‍ प्र‍ प्रमुख पुरोहित माना जाता था।

सामाजिक जीवन:—मिश्र का सामाजिक जीवन सीधा‍ एवं सरल था। सम्पूर्ण समाज तीन प्रमुख वर्गों-सामन्त, मध्यम तथा‍ में विभाजित था। मिश्र के सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता‍ मातृसत्तात्मक लक्षण में विद्यमान थी। यह नारी की मर्यादा तथा अधिक‍ का द्योतक था। मिश्र के शासक अपने रक्त की शुद्धता को कायम र‍ के लिये अपनी बहन से भी शादी कर लेते थे। नारी को नर के स‍ ही अधिकार प्राप्त थे। विवाह-विच्छेद की प्रथा भी उस युग में विद्य‍ थी। लोगों के जीविका की आधारशिला कृषि थी। पशुपालन ‍ उद्योग-धंधों का भी सामाजिक जीवन में प्रमुख स्थान था। आभूषणों‍ भी प्रचलन था।

कला की प्रगति:—मिश्र की कलात्मक रचनाएं विश्व के मह‍ ‍रचनाओं में गिनी जाती हैं। सृष्टि के भयंकर परिवर्तनों के उपरान्त

ो कला-कृतियाँ विशेषकर पिरामिड आज भी आधुनिक कलाकारों को
ाी दे रही है। गीजा के महान् पिरामिडों का निर्माण उस युग में कैसे
ं हो सका होगा जब कि यातायात के साधनों का, वैज्ञानिक यन्त्रों का
र्भाव नहीं हो पाया था। एक पिरामिड़ की ऊँचाई ४५० फीट, एक भुजा
लम्बाई ७५० फीट है। और ढ़ाई-ढ़ाई टन वजन के २३ लाख पत्थर के
लगे हुए हैं। यह हमारी कल्पना के बाहर है कि इस रेगिस्तानी मैदान
ाधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता के विना, विशालकाय पत्थरों को
ों मील की दूरी से कैसे लाया गया होगा; कैसे उन्हें चुना गया होगा।
मिड़ों के आंतरिक भाग में भवन के विशाल कमरे की भाँति 'ममी' को
का स्थान बनाया जाता था।

पिरामिड़ के बाहर, मन्दिर से मिलता-जुलता भवन होता था, जिसके
बीच एक विचित्र मूर्ति रखी जाती थी, जिसे 'स्फिक्स' कहते हैं। मनुष्य
शेर की मिश्रित मूर्ति, जिसका मुख मनुष्य का, परन्तु शरीर शेर का। इस
की लम्बाई २४० फीट और ऊँचाई ६६ फीट है। मूर्ति को देखने से ऐसा
ा होता है मानो कोई जीवित प्राणी ही बैठा हो। कलात्मक उन्नति मिश्र
ता का प्रमुख लक्षण है।

ारनाक का मंदिर अति भव्य है। इस मंदिर की एक सुरंग में १३६ पत्थर
चित्रित स्तम्भ १६ पंक्तियों में खड़े हैं। दीवारों पर भव्य तथा आकर्षक
कारी की गई है। इसी प्रकार अबूसिम्बेल का मंदिर भी वास्तुकला का
ा नमूना है। ठोस पत्थर की निर्मित ८० से ९० फीट ऊँची, मिश्री
कों की मूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर है।

लेखन कला:—संभवतः लेखन कला का आश्चर्यजनक आविष्कार
प्रथम मिश्र में ही हुआ। मिश्रवासियों की लेखनकला चित्रलिपि पर
ारित थी। उनको स्वरज्ञान नहीं था। वे केवल व्यंजनों का ही बोध
सकते थे। चित्रों, संकेतों एवं व्यंजनों की सहायता से वे अपने विचारों को
ाबद्ध करते थे। मिश्र के निवासी कागज, स्याही तथा कलम का प्रयोग
ा थे। पेपिरस नामक वृक्ष की छाल से कागज तैयार किया जाता था।

काजल और गोंद के मिश्रण से स्याही बनाई जाती थी और सरकंडे की कलम का प्रयोग किया जाता था। इंग्लैंड के संग्रहालय में १३५ फीट लम्बा व १७" इंच चौड़ा कागज जो मिश्र की खुदाई से प्राप्त हुआ था, अभी तक सुरक्षित रखा है। मिश्री साहित्य प्रधानतया धार्मिक था।

विज्ञान:-मिश्री सभ्यता इस क्षेत्र में आगे थी। मृतक शरीरों को हजारों वर्षों तक सुरक्षित रखने की सामर्थ्य, उनकी अपूर्व सफलता थी। विश्व के प्रथम पंचांग का निर्माण भी मिश्र वालों ने ही किया था। सर्व प्रथम मिश्र वालों ने यह आविष्कार किया कि एक साल में ३६५ दिन होते हैं। उन्होंने एक साल १२ महीनों और प्रत्येक मास को ३० दिनों में विभक्त कर रखा था कहते थे कि प्राचीन मिश्र के लोगों को ४८ प्रकार के आपरेशन ज्ञात थे 'इम्होटप' इस युग का प्रसिद्ध चिकित्सक था।

साम्राज्यवादी भावना, कलात्मक सजीवता तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण मिश्री सभ्यता का स्थान विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में महत्वपूर्ण है। इसने हमें पंचांग, ज्योतिष, दशमलव पद्धति का ज्ञान प्रदान किया।

सुमेरियन सभ्यता एवं संस्कृति

जिस युग में मिश्र की सभ्यता का विकास हो रहा था, उसी युग में पश्चिमी एशिया की दजला और फरात के मध्यवर्ती हरे-भरे भू-भागों पर सभ्यता एवं संस्कृति का प्रादुर्भाव हो चला था। इस प्रान्त को उस समय में मेसोपोटेमिया—दो नदियों के बीच का भू-भाग कहते थे। इसी प्रान्त में सुमेरियन, बेबीलोन, असीरियन, काल्डियन आदि सभ्यताएं, एक के बाद एक क्रमशः विकसित हुईं। आधुनिक समय में इस प्रान्त को ईराक कहते हैं।

प्राचीन मेसोपोटेमिया में सर्व प्रथम ग्रामों और नगरों में सिचाई का प्रादुर्भाव हुआ था। प्रारम्भ में सुमेर लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया। फिर बेबीलोन, असीरिया, कैल्डिया, पर्शियन आदि जातियों का क्रम से अधिकार रहा। सुमेरिया के महान् शासकों में उरुकागिना, सरगन प्रथम तथा गुडिया का महत्वपूर्ण स्थान है।

न्याय—इस युग की न्याय व्यवस्था सुगम होती थी परन्तु नियम कठोर होते थे। न्याय मंदिरों में होता था। यौन तथा व्यापार सम्बन्धी नि-

स्थाओं का विशेष महत्व होता था। राजा सर्वोच्च न्यायधीश होता था, परन्तु उसे भी न्याय का पालनकरना पड़ता था। सुमेरिया का न्याय-विधान पारस्परिक झगड़ों को रोकने में वहुत रूचि रखता था।

समाज—समाज तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित था। श्रीमन्तों को अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे और निम्न वर्ग अधिकारों से शून्य था। नर व नारी को समान अधिकार थे। परन्तु फिर भी नारी, नर की सम्पत्ति समझी जाती थी और पुरुष अपनी स्त्री को बेच भी सकता था। इस प्रकार का विरोधाभास अन्यत्र कम देखने में आता है। तलाक प्रथा भी विद्यमान थी। उस समय का समाज वहुत ही निर्धन था

सुमेर की भूमि उपजाऊ थी। अतः कृषि की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता था। कृषि की उन्नति के साथ साथ हलों को भी उन्नत कर लिया।गया था। हलों में वीज रखने की भी व्यवस्था थी।सिचाई के लिए वड़े २ बांधों तथा नहरों का निर्माण किया गया था। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन तथा अन्य उद्योग-धंधे भी काफी विकसित हो चुके थे।

धार्मिक विचारधाराः—सुमेर लोग भी नाना प्रकार के देवी-देवताओं की उपासना करते थे। उनके मुख्य देवता थे-शमश (सूर्य), अनिल (वायु), अनु (अकाश) इश्तर (पृथ्वी) इत्यादि। इसके अतिरिक्त वे अन्य प्राकृतिक शक्तियों की भी उपासना करत थे। वे लोग भी आत्मा को अमर मानते थे और मृतक के साथ उसके प्रिय व्यक्तियों;-विशेषकर पत्नि व रखेल को भी कभी-कभी जीवित ही दफना देते थे। यह एक विचित्र वात थी जिसका उल्लेख अन्य किसी सभ्यता में नहीं पाया जाता।

लेखन कलाः—सुमेर के लोग मिट्टी की पट्टियों पर नुकीली लकड़ी की लेखनी से लिखते थे। इससे नोकदार अक्षर लिखे जाते थे। इस कारण सुमेरिया की लिपि को सूच्याकार या कीलाक्षर कहते हैं। वाद की वर्णमालाएं सुमेरियां के सूच्याकार और मिश्र की चित्रलिपि के सम्मिश्रण से वनी हैं।

कलाः—तत्कालीन सुमेरिया के मानव समाज पर मंदिरों का प्रभुत्व जमा हुआ था। सुमेर वालों ने महान् मंदिरों का निर्माण करके अपनी कला का परिचय दिया। मंदिरों का निर्माण आग में पकी हुई ईंटों से किया जाता

था । उर, निप्पर तथा खफाजे स्थानों के मंदिर और मूर्तिया महत्वपूर्ण है । नालियों तथा नहरों का निर्माण गुम्बज, महाराब तथा स्तम्भों का प्रयोग सर्वप्रथम सुमेर लोगों ने ही किया था । मूर्तिकला विशेष उन्नत नहीं थी । भद्दी एवं भौंड़ी आकृति प्रधान तथा भावों के अभाव में विशालकाय मूर्तिया कलात्मक दृष्टि से उच्चश्रेणी की नहीं कही जा सकती ।

विज्ञान:—विज्ञान की दौड़ में सुमेरवासी काफी आगे थे । वे लोग ६० की संख्या से गणना करते थे । १ मिनट में ६० सेकंड तथा ६० मिनट का १ घंटा । प्रत्येक वर्ष को १२ महीने में तथा प्रत्येक मास को ३० दिन में विभाजित करते थे । दिन और रात्रि को केवल १२ घंटों में विभाजित किया जाता था । उन्होंने अनेकों नक्षत्रों को ढूंढ कर जगत को आश्चर्य चकित कर दिया था । रोमन लोगों ने उनकी इस विद्या का पूर्ण लाभ उठाया ।

बेबीलोन की सभ्यता एवं संस्कृति

दजला और फरात की घाटी में सुमेरिया की सभ्यता के उपरान्त, बेबीलोन की सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ । इस सभ्यता का काल २२०० ई. पू. से १३०० ई. पू. तक माना जाता है, परन्तु हमें हम्मूर बी के शासन काल के अतिरिक्त अन्य राजाओं की पूर्ण जानकारी नहीं है । हम्मूर बी अपने युग का न्यायप्रिय तथा शक्तिमान शासक था । उसके नियमों से अंकित विशाल प्रस्तर स्तम्भ उपलब्ध हुआ है ।

प्रशासन तथा न्याय:—राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था और सम्पूर्ण राष्ट्र उसकी आज्ञाओं का पालन करता था । प्रशासन सुव्यवस्थित था । सम्पूर्ण साम्राज्य अनेक प्रांतों में और प्रांत अनेक ग्रामों में विभाजित थे । इस समय के नियम कठोर थे । हम्मूर बी ने बेबीलोन को एक नवीन विधि-संग्रह प्रदान किया । इस विधि-संग्रह में कुल २८० कानून है । उसके नियमों की आधारशिला "प्रतिशोध अथवा जैसे को तैसा" के सिद्धान्त पर अवलंबित थी । उदाहरण के लिये यदि किसी कारीगर द्वारा निर्मित भवन गिर जाय और भवन के गिरने से मकान मालिक की मृत्यु हो जाय तो कारीगर को मृत्युदंड दिया जाता था । यदि मकान-मालिक के पुत्र अथवा पुत्री की मृत्यु हो जाय तो कारीगर के पुत्र अथवा पुत्री को मृत्युदंड दिया

जाता था । न्यायविभाग कई भिन्न २ न्यायालयों में विभाजित था । एक न्यायालय में पराजित हो जाने के वाद उस न्यायालय से उच्च न्यायालय में अपील करने की प्रथा थी । नियम वहुत कठोर थे और सख्त सजा दी जाती थी ।

समाजः—समाज पांच या इससे भी अधिक वर्गों में विभाजित था । परन्तु नियम की दृष्टि से तीन वर्गो-अमलू, मुश्किनु तथा अरदू में विभाजित था । प्रथमश्रेणी के व्यक्तियों को अपने ऊपर किये गये शारीरिक आघात का प्रतिकार करने का अधिकार था परन्तु यदि वे स्वयं कोई अपराध करते तो उन्हें भी कड़ा दंड दिया जाता था । इस वर्ग में राजवंश तथा पुरोहित वर्ग के व्यक्ति होते थे । द्वितीय श्रेणी में श्रमिक, शिल्पकार, व्यापारी तथा शिक्षक आदि होते थे । इन्हें शारीरिक आघातों का प्रतिकार करने का अधिकार नहीं था, परन्तु धन लेकर वे अपना प्रतिकार पूरा कर लेते थे । स्वयं द्वारा अपराध करने पर इन्हें कोड़ों से भी पीटा जाता था । अंतिम श्रेणी दासों तथा गुलामों की थी जिनके पास किसी प्रकार के अधिकार नहीं थे ।

वेवीलोन समाज का पारिवारिक जीवन अत्यन्त ही मधुर था । स्त्री का स्थान वहुत सम्मानपूर्वक था । वह सम्पत्ति की उत्तरधिकारिणी हो सकती थी, उसे तलाक देने का भी अधिकार था । व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों को कठोर दंड दिया जाता था । वेवीलोन समाज में "सांकल्पित विवाह" (Trial Marriage) अर्थात वास्तविक विवाह के पूर्व विवाह एवं ग्रहस्थ जीवन का रिहर्सल करके देखने की प्रथा भी प्रचलित थी ।

धर्म—वेवीलोनिया के लोग भी वहु देवतावाद के उपासक थे । नाना प्रकार के देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी । 'मार्दुक' उनका प्रमुख देवता था । 'ईश्तर' प्रेम व युद्ध की देवी थी । वे अपने देवताओं की मूर्तियां वनाते और इन मूर्तियों को मंदिरों में स्थापित करके उनकी उपासना करते थे । पशु वलि भी दी जाती थी । देवदासी प्रथा का भी प्रचलन था । वेवीलोनिया की प्रत्येक स्त्री मंदिर में एक वार किसी अन्य पुरुष से सहवास करना धर्म समझती थी ।

कला—कला के क्षेत्र में वेवीलोनिया पीछे ही रहा । हालांकि शिखराकार मंदिर वनाये जाते थे, जिन्हें 'जिग्गुरात' कहते हैं, और जिनके

मीनारों की ऊंचाई ६५० फीट तक होती थी, परन्तु उनमें कलात्मक सौंदर्य और आकर्षणशक्ति का अभाव था। संगीत के क्षेत्र में अवश्य ही प्रगति की गई। बांसुरी, बीन, मशकबाजा, तुरही, भोंपू, ढोल, वीणा, मजीरा आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग करना वे लोग अच्छी तरह से जानते थे।

शिक्षाः—बेबीलोन में शिक्षा को बहुत महत्व दिया जाता था। शिक्षा प्रायः मंदिरों में दी जाती थी। मिट्टी की स्लेट पर लकड़ी की लेखनी से लिखने की प्रथा थी इनकी लिपि भी चित्रलिपि तथा सांकेतिक लिपि थी। पहाड़ों की चट्टानों पर एक महाकाव्य लिखा हुआ प्राप्त हुआ है जिसका नाम "गिलगमिश" है। बेबीलोनिया वालों को व्याकरण, शब्द-कोष तथा भाषा-विज्ञान का अच्छा ज्ञान था।

चीन की सभ्यता एवं संस्कृति

चीन की सभ्यता अति प्राचीन है और भारतीय सभ्यता के समान आज भी संशोधित रूप में विद्यमान है। चीन की प्रारम्भिक सभ्यता का विकास 'ह्वांग-हो' और 'यांगत्से कियाग' नदियों की उपत्यका में हुआ था। प्रारम्भ में छोटे २ ग्रामों की सत्ता थी परन्तु धीरे धीरे २ नगरों की सत्ता स्थापित हुई और १६५० ई. पू. में शांग-वंश की नींव रखी गई। इस वंश के शासकों ने चीन की राजनैतिक एकता स्थापित की और पृथक २ नगर राज्यों की सत्ता को समाप्त किया। शांग वंश के उपरान्त चाऊवंश ने ११२५ ई. पू. से २५० ई. पू. तक, चीन वंश ने २५० ई. पू. २०६ ई. पू. तक शासन किया। चीन वंश का महान सम्राट् त्सिनशी था। इसने बर्बर हूणों के आक्रमणों को रोकने के लिए चीन की विशाल दीवार का निर्माण करवाया जो कि १८००० मील लम्बी, २० फीट चौड़ी और २२ फीट ऊंची थी तथा १०० गज के अन्तर ४० फीट ऊँची मीनारें बनी हुई थीं। फ्रांस के दार्शनिक वाल्तेयर ने लिखा है कि "मिश्र के पिरामिड् इस दीवाल के सन्मुख तुच्छ है। इस वंश के उपरान्त हानवंश का उत्थान हुआ। इसी वंश के समय में आचार्य कश्यप मांतंग ने चीन को बौद्ध धर्म का संदेश प्रदान किया। इसी युग में मुद्रण कला का

आविष्कार हुआ। इसी समय चीन में दो महान् दार्शनिको लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ और उनकी शिक्षाओं का प्रसार हुआ।

प्रशासनः—प्रारम्भ में चीन में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का विकास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप पृथक पृथक नगर राज्यो का विकास हुआ। परन्तु महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के प्रयत्नों ने राजतंत्र की स्थापना करने में सहायता दी और फिर धीरे २ साम्राज्यवादी प्रशासन का रूप भी अस्तित्व में आ गया। सम्राट् देव पुत्र या देव प्रतिनिधि समझा जाता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। उसके अधिकारो की कोई सीमा न थी। विशाल चीनी साम्राज्य प्राँतों में विभाजित था। प्रांतपति सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे।

सामाजिकः पितृमूलक परिवार प्रथा का प्रचलन था। शायद प्रारम्भिक अवस्था में मातृसत्तात्मक परिवार का प्रभुत्व रहा हो। चीनी समाज में स्त्री को अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। कन्याओं को अपने कौमार्य की रक्षा करनी पड़ती थी। विवाह राज्य की ओर से नियुक्त अधिकारी करवाता था। वहुविवाह तथा तलाक प्रथा का प्रचलन था। चीनी समाज श्रेणियों में विभाजित नहीं था परन्तु ऊंच-नीच वर्ग की भावना अवश्य रही होगी।

कार्य व पेशे की दृष्टि से चीनी समाज पांच प्रमुख वर्गों—पंडित, कृषक, शिल्पी, व्यापारी तथा सेवक में विभाजित था। परन्तु यह विभाजन जन्म या वंश के आधार पर नहीं था। चीन ही केवल ऐसा देश था जहाँ पर सैनिक होना अपमानजनक समझा जाता था। राज्य परिवारों को वैधानिक रूप प्रदान करता था।

धार्मिक विचारधाराः—प्रारम्भिक युग में चीनी लोग विविध देवी-देवताओं की उपासना करते थे। प्रत्येक वस्ती का पृथक पृथक देवता होता था। देवताओं की प्रसन्नता के लिए पूजा-पाठ तथा वलि चढ़ाते थे। प्राकृतिक शक्तियों की उपासना भी की जाती थी। जादू-टोना तथा अन्धविश्वाध की भावना भी विद्यमान थी। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में कन्फ्यूशियस तथा लाओत्से ने धार्मिक क्षेत्र में नवीन विचारों का प्रचार किया!

लाओत्सेः—६०४ ई. पू. में लाओत्से का जन्म हुआ था। लाओत्से ने मनुष्यों को नियति द्वारा निर्धारित्त मार्ग पर विना किसी हिचकिचाहट के

स्वतन्त्र रूप से चलने का मूल मंत्र सिखाया। वह जीवन को क्षण भंगुर मानता था। उनका कहना था कि अपने आपको सृष्टि के पथ पर उसके प्रवाह में, निश्चिंत हो चलने दो। लाओत्से को चीन का "गौतम" तथा "वृद्ध-दार्शनिक" के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। उसका प्रमुख उपदेश भी बुद्ध के समान ही था कि मनुष्य अपनी इच्छाओं के दमन के उपरान्त ही प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को चाहिये कि भावनाएं और इच्छाओं के कारण अपनी आध्यात्मिक शांति को नष्ट न होने दे। मनुष्य को भोगविलास के जीवन से बचकर पवित्र और सादा जीवन व्यतीत करना चाहिये। लाओत्से का धर्म टाउ-धर्म कहलाया। कालान्तर में इसमें जादू-टोने का समावेश होने के कारण इसका अन्त हो गया।

कन्फ्यूशियसः—कन्फ्यूशियस का असली नाम "कुंग-फूत्सी" था। उसे दार्शनिक 'कुंग' भी कहा जाता था। कुंग का जन्म ५५० ई. पू. में हुआ था। वह महात्मा बुद्ध का समकालीन था। लाओत्से की भांति कन्फ्यूशियस की विचारधारा भी चीन के प्राचीन ग्रन्थों-यूकींग (परिवर्तन के नियम) तथा 'शूकिंग' (इतिहास के नियम) पर अवलंबित थी। वह विविध देवी-देवताओं की उपासना के पक्ष में नहीं था, बल्कि सदाचारमय और पवित्र जीवन के पक्ष था। उसका कहना था कि मनुष्य को केवल व्यक्तिगत स्वार्थ, उन्नति या कल्याण की कामना न करके सम्पूर्ण मानव जाति की उन्नति कल्याण तथा सुख-समृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। कन्फ्यूशियस ने गुरु और शिष्य सम्प्रदाय की परम्परा स्थापित की। उसके विचारों और लेखों को आदर्श गुणों की पुस्तक कहा जा सकती है। अर्थात् सुहृदय शिष्ट मानवीय जीवन के शिष्टाचार के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं।

महात्मा बुद्ध की भांति कन्फ्यूशियस का क्षेत्र भी ईश्वर या आत्मा न होकर मानवीय समाज था। उसने अपने उपदेश छोटी छोटी कहावतों एवं मुहावरों के रूप में दिये। जैसे—'सतर्क व्यक्ति कभी गल्ती नहीं करता, 'बिना विचार का अध्ययन व्यर्थ है' तथा सत्य को पहचानने के उपरान्त उसका प्रयोग न करना कायरता है।" उनका सबसे बड़ा उपदेश था—"कोई बात यदि

तुम पर लागू की जाय और तुम्हें अच्छी न लगे तो तुम वही बात दूसरों पर लागू न करो।"

लाओत्से और कन्फ्यूशियस :—लाओत्से और कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं में कुछ अन्तर या मतभेद था। लाओत्से का कथन था कि मनुष्य को भोग-विलास से बचकर पवित्र व सादा जीवन व्यतीत करना चाहिये। कन्फ्यूशियस जीवन के नियंत्रण एवं विनय पर जोर देता था। लाओत्से त्याग और तपस्या का पक्षपाती था, कन्फ्यूशियस शिष्टता का

बौद्ध धर्म:—हम पहले कह आये हैं कि हानवंश के शासन काल में आचार्य कश्यप मातंग ने चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। धीरे २ सम्पूर्ण चीन में बौद्ध-धर्म का प्रसार हो गया। क्योंकि इस धर्म में दोनों महान् पुरुषों-लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का समन्वय था। इस धर्म ने चीनी जनता को संतुष्ट कर दिया और आज भी चीन में इसी धर्म को प्रधानता है। चीनी लोगों ने इन तीनों को 'त्रयोज्ञान" कहा है !

विभिन्न क्षेत्रों में सभ्यता का विकास:—भारत की भांति चीन भी कृषि प्रधान देश है। कृषि कार्य के लिये चीनी लोगों ने नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था की। उस समय का चीनी किसान फसलों को बिना बदले एक ही खेत से वर्ष भर में दो अथवा तीन फसल उत्पन्न करने की योग्यता रखता था। चीन का प्रिय पेय चाय है परन्तु उस समय इसका प्रयोग औषधि के रूप में किया जाता था। रेशम के कीड़ों को पालकर रेशम बनाने की कला का ज्ञान सर्वप्रथम उन्होंने प्रदान किया था।

चीन की कला भी बहुत उन्नत थी। मिट्टी के चमकीले बर्तन बनाने में वे अन्य लोगों से कहीं अधिक कुशल थे। विशाल बौद्ध मंदिरों तथा मठों की निर्माण कला अपने ढंग की अनोखी ही है। कन्फ्यूशियस का मन्दिर और उसकी मूर्ति, कला की दृष्टि से अति सुन्दर है। चीन की हस्तकला भी प्राचीन युग में काफी उन्नत हो चुकी थी। असंख्य प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास हो चुका था। हस्तकला की सैंकड़ों दुकानें थीं। रेशम, चाय, चीनी, मिट्टी के बर्तन, कागज, बारूद आदि वस्तुएं विदेशों को भी भेजी जाती थीं। व्यापार के लिए सिक्के तथा ऋण की व्यवस्था थी। चीनी लोग स्वावलंबी थे।

पाश्चात्य देशों ने जब चीन के साथ व्यापार शुरू किया था तो उन्हें चीनी लोगों को सोना-चांदी देना पड़ता था, क्योंकि उस समय कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसका उत्पादन चीन में न होता था।

शिक्षा और साहित्यः—बहुत पुराने समय से ही चीनी लोगों ने लिखने का आविष्कार कर लिया था। सर्वप्रथम चित्रलिपि का प्रयोग किया गया था। सात साल की आयु में बालक शिक्षा शुरू करता था। निर्धन बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध ग्राम-पंचायतें करती थी। व्याकरण, को तथा धर्म ग्रन्थों को शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया जाता था। प्रदेश की परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थी को "हिस ऊत्सेई" स्नातक) की उपाधि तथा प्रांत की परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले को "चू-जेन' (वाचस्पति) की उपाधि दी जाती थी।

भाषा की दृष्टि से चीन में एकता नहीं है। वहां अनेक भाषाएँ बोली जाती थी। परन्तु फिर भी 'मन्दारिन" सर्व प्रचलित भाषा थी। चीन की भाषाओं में विभिन्नता है परन्तु लिपि में समानता है। चाहे एक चीनी दूसरे चीनी की भाषा न समझता हो परन्तु उससे पत्र-व्यवहार कर सकता है। चीनी लिपि के विविध चिन्ह जिनकी संख्या सैकड़ों में है; भाव व वस्तु सूचक है।

कागज और मुद्रण कला का आविष्कार सबसे पहले चीन में हुआ था। परन्तु इससे भी पहले चीन में पुस्तकें लिखी जाने लग गई थी। मुद्रण के आविष्कार से तो चीनी साहित्य की बहुत अधिक उन्नत्ति हो गई। चीनी पंडितों ने विश्व कोष के रूप में बहुत सी पुस्तकों का संकलन किया। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र, कृषि विज्ञान और ज्योतिष पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

ईरान की सभ्यता एवं संस्कृति

आधुनिक ईरान का प्राचीन नाम फारस या पर्शिया था। सन् १९२५ ई. से फारस का नाम ईरान पड़ गया। फारस का केन्द्र मरुस्थल से परिपूर्ण परन्तु जलाशयों का अभाव नहीं है। इस देश की प्रमुख नदियां 'सर' तथा [illegible] है। ईरानी लोग नार्डिक जाति के आर्य थे और इनका मूल निवास [illegible] बाल्टिक सागर था। कुछ विद्वानों के मतानुसार कैस्पियन सागर के

रवाना होने वाले आर्य समूह की एक शाखा ईरान में आ बसी और दूसरी भारतवर्ष में।

ईरान का प्रारम्भिक इतिहास मीड जाति की उन्नत्ति से प्रारम्भ होता है। कालान्तर में मीड जाति और ईरानियों के बीच ईरान की प्रभुता के लिए संघर्ष हुआ और ईरानी शासक साइरस अथवा कुरूप ईरान का एकीकरण करने में सफल हुआ। दारा अथवा दाहिर महान् के शासनकाल में ईरानी साम्राज्य का अत्यधिक विकास हुआ। परन्तु यूनान के साथ लड़े गये संघर्षों ने ईरान का पतन कर दिया।

प्रशासन तथा न्यायः—सम्राट् ईश्वर का अवतार समझा जाता था। उसके अधिकार असीमित थे। सम्पूर्ण साम्राज्य प्रांतों में विभाजित था। प्रांत को क्षत्रयी कहते। सम्पूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल फैला हुआ था। यह एक महत्वपूर्ण व प्रथम वस्तु थी जो सर्वप्रथम ईरानी प्रशासन के समय में विकसित हुई। प्रशासन की सफलता के लिये पक्की सड़कों का निर्माण किया गया था।

ईरान के सफल प्रशासन की आधारशिला उसकी न्याय व्यवस्था थी। सम्राट् न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके नीचे एक प्रमुख न्याया-धीश तथा सात उपन्यायाधीश होते थे। ग्राम में पंचों द्वारा न्याय किया जाता था। झगड़ों को विधिवत् समझाने के लिए वकील होते थे। वकीलों की उत्पत्ति सर्वप्रथम ईरान में हुई थी। ईरानी विधान उदार था परन्तु भयङ्कर अपराधों के लिए अति क्रूर भी था।

ईरान में अनिवार्य सैनिक शिक्षा थी। १५ साल की आयु से लेकर ५० वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों को सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता था।

सामाजिक स्थितिः—ईरानी समाज स्वच्छता, पवित्रता तथा नैतिकता का उत्तम उदाहरण था। वे लोग मिलनसार प्रवृति के, मधुर भाषा-भाषी; अतिथि सत्कार करने वाले तथा बन्धुत्व की भावना का परिचय देने वाले थे। ईरानी समाज में कुटुम्ब का विशेष महत्व था। समाज में विवाह का महत्व

अधिक था। अविवाहित स्त्री-पुरुषों को निम्न दृष्टि से देखा जाता था लड़के लड़की को अपना जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति उन्नत थी। उन्हें पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त थे। वे राजकीय पदों पर भी नियुक्त की जा सकती थी तथा सम्पत्ति रख सकती थी दाहिरमहंदि के उपरान्त यूनानी आक्रमणों के भय के कारण ईरानी स्त्री का पतन हुआ और वह पर्दे में बन्द कर दी गई।

ईरानी समाज भी भिन्न २ वर्गों में विभाजित था। सामन्त, पुरोहित, व्यापारी तथा शिल्पी, किसान तथा श्रमिक, और दास तथा गुलाम। प्रथम दो का राज्य में सम्मान था और अन्तिम दो की स्थिति दयनीय थी। उनका दमन व शोषण किया जाता था।

शिक्षा और साहित्यः—शिक्षा का कार्य मन्दिरों में होता था। पुजारी लोग शिक्षा देते थे। राज्य या समाज की तरफ से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। ईरानियों की भाषा संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। ईरानी भाषा के दो प्रमुख रूप हैं-जेन्द तथा पहलवी। ईरान के निवासियों ने बेबीलोनियों की लिपि सीख ली थी परन्तु बाद में उन्होंने ३६ अक्षरों की वर्णमाला तैयार करली। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवेस्ता' है।

कलाः—यूनानी आक्रमणों ने ईरान के भव्य प्रासादों को ध्वंसित कर दिया था परन्तु फिर भी उनके अवशेष परसिपोलिस, सूसा, पेरेसग्रेड, बाबुल आदि नगरों में उपलब्ध हुए हैं। इन अवशेषों से मालूम होता है कि ईरानियों ने कला के क्षेत्र में मौलिक उन्नति नहीं की थी। उन्होंने मिश्र, सुमेर तथा बेबीलोन की कला के विभिन्न तत्वों का समन्वय करके अपनी कला को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया था। इसी कारण उनकी कला अधिक आकर्षक दिखाई पड़ती है। विशाल भवनों के निर्माण में स्तम्भों का प्रयोग किया जाता था। मूर्तियों में सजीवता, सौन्दर्य तथा कलात्मक गुणों का अच्छा चित्रण होता था। भवनों को सजाने के लिये चित्रकारी का काम किया जाता था।

धार्मिक विश्वासः—प्रारम्भ में ईरानी लोग भी विविध देवी-देवीताओं की उपासना करते थे। उस समय उनके प्रमुख देवता—अहुरमज्जद, मित्र तथा अनाहित थे। अग्नि की पूजा भी की जाती थी। अन्धविश्वास तथा जादू-टोने

का भी अभाव नहीं था। धार्मिक पूजा तथा कर्मकाण्ड 'अथूवन' की सहायता से संपादित किये जाते थे।

६०० ई० पू० के लगभग में 'जरथुस्त' ने ईरानी धर्म में क्रांति उत्पन्न कर दी। उसने बहुदेवतावाद तथा अन्धविश्वासों का खण्डन किया और एकेश्वरवाद अर्थात् अद्वैतवाद अर्थात् एक परमात्मा की भावना जाग्रत की।

जरथुस्त, बुद्ध, महावीर लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस के समकालीन थे। अनेक कठिनाइयों के बाद उन्हें इलहाम अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ और वे अपने नवीन ज्ञान का उपदेश देने लगे। महान् सम्राट् दारा ने उन्हें अपना गुरु बनाया और उनका धर्म राजधर्म हो गया। इस्लामी धर्म के प्रचार के पूर्व तक ईरान का धर्म जरस्थुस्त का धर्म ही रहा। भारत के पारसी आज भी इस धर्म को मानते है।

जरथुस्त ने विविध देवताओं की उपासना का विरोध किया और पुरोहितों द्वारा प्रचलित अन्ध विश्वास का खण्डन किया। उन्होंने बतलाया कि अहुरमज्जद सर्वव्यापक, न्यायप्रिय तथा बन्धुवात्सल्य से परिपूर्ण देव है। उसका कोई रूप नही है। वह सत्य का, शुभ कर्मों का देवता है। अहिरमन, कुकृत्यों का, वैमनष्य का देवता है।

जरथुस्त ने लोगों को बतलाया कि आत्मा अमर है। शरीर नश्वर है। उसके विचारों में मनुष्य शरीर कोई महत्व नहीं था। अतः मृत्यु के उपरान्त मृतक शरीर को पशु-पक्षियों के लिए छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार जरस्थुस्त ने एकेश्वरवाद, नैतिक एवं पवित्र, शुभकर्मो पर आधारित, उदारता, शिष्टाचार तथा बंधुत्व से परिपूर्ण धर्म का प्रचार किया। उसके सिद्धान्त "अहुन वेतो" तथा "अवेस्ता" में संग्रहित है। कालान्तर में उसके अनुयायियों के भ्रष्ट आचरण के कारण उसके धर्म का पतन हुआ और इस्लाम का प्रचार हुआ।

यूनान की सभ्यता एवं संस्कृति

यूनान को प्राचीन समय में 'हेलाज' भी कहते थे। हेलाज पर्वत की दुर्गम उपत्यकाओं ने सम्पूर्ण यूनान को अनेक हिस्सों में विभाजित कर रखा

था । इस कारण इन उपत्यकाओं में विकसित होने वाले नगर एक दूसरे से शृंखलाबद्ध न हो सके और प्रत्येक नगर के रीति-रिवाज स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए । उनमें 'ओलिम्पक' खेलों तथा प्राचीन दन्तकथाओं के सहारे ही एकता की भावना बनी हुई थी । यूनान की प्रारम्भिक सभ्यता और संस्कृति की झलक अन्धकवि होमर की प्रसिद्ध रचनाओं—इलियड और ओडेसी में मिलती है । होमर द्वारा वर्णित घटनाएँ काल्पनिक भी हो सकती है ।

संक्षिप्त इतिहासः—हेलनीज (यूनान) निवासियों के आगमन के पूर्व एजियन सागर तथा द्वीपों पर 'भूमध्य सागरीय' जाति के मनुष्य निवास करते थे और इनकी सभ्यता 'मिनोआ की सभ्यता' के नाम से प्रसिद्ध थी। ई० पू० २००० में नार्डिक जाति के आर्यों की उपजाति ने यूनान में प्रवेश किया और शीघ्र ही सम्पूर्ण यूनान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । इन लोगों ने अनेक नगरों तथा उपनिवेशो की स्थापना की जिनमें मिलेटस, साइराक्यूज स्पार्टा, एथेन्स, थैसली प्रमुख थे । नगर राज्यों के विकास-काल में यूनान को ईरान से संघर्ष करना पड़ा । मेराथन, थर्मोपली, प्लूटियस और माइकेल के युद्ध संसार प्रसिद्ध है । यूनान की विजय हुई और ईरानी साम्रज्य का पतन हुआ परन्तु शीघ्र ही स्पार्टा और एथेन्स और बाद में स्पार्टा और थीब्ज के मध्य गृह युद्ध हुआ जिसके परिणाम स्वरूप मेसीडोनिया का विकास हुआ और उसके होनहार नेता सिकन्दर महान् ने यूनानी साम्राज्य का विकास किया । कालान्तर में यूनान पर रोम का अधिकार हो गया ।

यूनानी सभ्यता की पृष्ठ-भूमिः—यूनानियों ने प्राचीन सभ्यताओं से बहुत कुछ सीखा और बहुत कुछ संसार को प्रदान किया । प्राचीन युगों में भाषा, अग्नि, औजारों का प्रयोग, अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग, सिलाई, चित्रकला पत्थर काटने की कला, आभूषण बनाने की कला का ज्ञान प्राप्त किया । नवीन पाषाण युग ने उन्हें कृषि, पशुपालन, भवन-निमाण कला तथा कुटीर उद्योग का ज्ञान दिया । क्रीट-फोनेशिया, मिश्र सुमेरिया से उन्होंने कला, शिक्षा आदि ग्रहण की । भूमध्य सागरीय देशों से भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, शृंगार प्रसाधन का ज्ञान सीखा । इस प्रकार यूनान ने विविध सभ्यताओं के तत्वों

आत्मसात् करके एक नूतन सभ्यता और संस्कृति का निर्माण ही नही किया वल्कि यूरोप में इसका प्रचार भी किया।

नगर-राज्यों के काल में:—यूनान की भूमि पर विविध नगर राज्यों का पृथक् पृथक् रूप से विकास हुआ था। प्रत्येक राज्य ने यूनानी सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में कुछ न कुछ सहयोग अवश्य ही दिया। परन्तु हम केवल दो प्रमुख नगर राज्यो-स्पार्टा तथा एथेन्स की सभ्यता का ही अध्ययन करेंगे।

स्पार्टा:—स्पार्टा कुलीन राजतन्त्र तथा सैनिक शक्ति का गढ़ था। स्पार्टा के चारों तरफ दीवार नहीं थी परन्तु लोहे की तलवारों से सुसज्जित योद्धा दीवार का काम करते थे। स्पार्टा नगर की शिक्षा महत्व पूर्ण थी। शिक्षा का तात्पर्य वर्णाक्षर के ज्ञान से नहीं वल्कि जीवन की शिक्षा से है। वच्चे के जन्म लेने पर उसका निरीक्षण किया जाता और कमजोर तथा वदसूरत वच्चों को मार डाला जाता था। पुरुप अपने घरों में न रह कर सैनिक छावनी में रहते थे। साल में एक वार वच्चों की कठोर एवं क्रूर रीति से शारीरिक परीक्षा ली जाती थी। लड़कियों को कठोर शारीरिक शिक्षा दी जाती थी ताकि उनकी संतानें हृष्ट-पुष्ट हों। स्पार्टा की इस प्रणाली के कारण स्पार्टा यूनान की सर्वोच्च सैनिक शक्ति वन गया। परन्तु कला, शिक्षा एवं साहित्य में पीछे रह गया।

एथेन्स: - एथेन्स ने न केवल सभ्यता एवं संस्कृति का विकास ही किया परन्तु उसका प्रसार भी किया। एथेन्स उस युग के यूनान का, जिसका आदर्श नगर राज्य था एक आदर्श नगर राज्य था। प्रारम्भ में एथेन्स में भी सामन्तों और निरंकुश व्यक्तियों का ही शासन था। परन्तु ड्राकों तथा सोलोन के सुधारों के परिणाम-स्वरूप वाद में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई और सर्व साधारण को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुये।

पेरीक्लीज का युग:—पेरीक्लीज के समय में एथेन्स अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया। उस समय के एथेन्स की सभ्यता सम्पूर्ण यूनान की सभ्यता की द्योतक वन गई थी। पेरीक्लीज एथेन्स के प्रभावशाली नेता जविसदीनोज का पुत्र था। ४६१ ई० पू० में एथेन्स के प्रशासन की वागडोर पेरीक्लीज के हाथ में आ गई। उसने एथेन्स का विकास किया। प्रजातांत्रिक

संगठन को दृढ बनाया । सभ्यता और संस्कृति की उन्नति में अपूर्व सहयोग दिया ।

पेरीक्लीज ने एथेन्स वालों को संगीत तथा नाटक में और अधिक उन्नति करने की प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप संगीत तथा नाट्यकला उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई । महान् दुखान्तः नाटककार एसकाइल्स, सोफोक्लीज तथा यूरीपाइड्स इसी युग में हुये थे । सुखान्त नाटककार ऐरिस्टोफेनीज भी, जिसे अब तक कोई पार न पा सका, इसी युग की महान् विभूति थी ।

कला के क्षेत्र में भी एथेन्स ने इस युग में अभूतपूर्व उन्नति की । कला की झांकी वहां के भव्य मन्दिरों में उपलब्ध होती है, विशेषकर एथेनादेव की पार्थनाव मंदिर मे, जिसके भग्नावशेष आज भी विद्यमान है । इस मंदिर में वास्तुकला, स्थापत्यकला, तथा चित्रकला के सर्वोच्च नमूने दिखाई देते हैं ।

एथेन्स के इतिहासकार भी इस युग में पीछे नहीं रहे । इतिहास का पिता 'हेरोडोटस' जो कि विदेशी था, इसी युग में एथेन्स आया था । महान् इतिहासकार थुसीडाइडिज भी इसी युग में हुआ । काव्य कला की दृष्टि से पिंडार उस युग का महान् कवि था । वह भी विदेशी था परन्तु एथेन्स के वैभव को देखकर चकित हो गया था ।

सामाजिक स्थिति : यूनानी समाज तीन वर्गों में विभाजित था उच्च, साधारण तथा निम्न । यूनानी समाज में स्त्री का समान था । उसे शिक्षा दी जाती थी परन्तु उसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी । वह सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती थी । उसे राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे । समाज का संगठन ठोस था । परिवार का महत्व था । परिवार का मुखिया पिता होता था । विवाह के पूर्व लड़के लड़कियों के मिलने की प्रथा थी । साधारणतः बहुपत्नि विवाह की प्रथा नहीं थी ।

धार्मिक विचार :— यूनानी लोग नाना प्रकार के देवी-देवताओं की उपासना करते थे । उनके देवता मनुष्य ही थे परन्तु मनुष्य के दुर्गुणों से रहित । उनके हृदय में देवताओं के प्रति सम्मान, श्रद्धा तथा भय की भावना विद्यमान थी । उनके प्रमुख देवता थे–जीयस, डेमीटर, एथेना, हेड्स, एपोलो, डायोनीसस । जीयस का सम्मान सम्पूर्ण यूनान में था । देवताओं की उपासना

विधि यूनान में विचित्र ढंग की थी। वे अधिक समय व्यय नहीं करते थे। आत्मा के बारे में यूनानी लोग निराशावादी थे। उनके कथानुसार मृत्यु के उपरान्त जीवन दुखमय हो जाता था। यह कैसे हो जाता था इनकी विशेष व्याख्या नही की गई है। कुछ दार्शनिक मृत्यु के उपरान्त सुखद जीवन की भी कल्पना करते थे।

पेरीक्लीज के उपरान्त यूनानी सभ्यता :— पेरीक्लीज की मृत्यु के उपरान्त एथेन्स की राजनीतिक शक्ति एवं साम्राज्य का अन्त हो गया परन्तु बौद्धिक क्षेत्र में एथेन्स आगे ही रहा। पेरीक्लीज के बाद यूनान की राजनीति, सामाजिक स्थिति तथा कला और साहित्य में महान् परिवर्तन हुआ।

कला में नवीन प्रवृति :— प्राचीन युग के अनुशासन तथा पवित्रता की शृंखलाओं में नियंत्रित कला इस युग में स्वतन्त्र तथा चित्ताकर्षक हो उठी। वास्तुकला तथा स्थापत्य कला अब मंदिरों तक ही सीमित न रही बल्कि व्यक्तिगत भवनों, मकबरों तथा थियेटरों में विकसित होने लगी। जीवित पुरुषों की प्रतिमाएं बनाई जाने लगी तथा देवताओं को मानवीय रूप से अंकित किया जाने लगा। हरमीस तथा एफ्रोडाइस की विशाल मूर्तियां स्त्री-सौन्दर्य के आकर्षण से परिपूर्ण थी। बहुत से कलाकारो ने नग्न सौन्दर्य को अंकित करने में ही परमानन्द अनुभव किया।

साहित्य :— साहित्य की भी उन्नति हुई परन्तु उसकी शैली में भी परिवर्तन आ गया। अब नाटक खेले जाते थे राजनीतिज्ञों तथा नेताओं का मजाक उड़ाने को, न कि धार्मिक कथानक को लेकर। इस युग में भाषण भी एक कला मानली गई। अतः भाषण कला की शिक्षा दी जाने लगी। भाषण कला का क्षेत्र इतिहास, राजनीति, साहित्य तथा दर्शन तक विस्तृत था। डीमॉसदोनीस उस युग का प्रसिद्ध वक्ता था। उसने युनानियों को भाषण कला की सूक्ष्म बातें सिखलाई। यूनान की सभ्यता में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दार्शनिकों का है।

दार्शनिकों में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू का प्रमुख स्थान है। प्लेटो, सुकरात का शिष्य था और अरस्तू प्लेटो का। सुकरात सत्य की खोज में

दिन-रात एथेन्स की गलियों, बाजारों आदि में भ्रमण किया करते थे। वे ज्ञान का पाठ पढ़ाते थे। निर्धन हो चाहे अमीर, वे प्रत्येक से सवाल-जवाब करते थे और इसी पद्धति से ज्ञान का प्रसार करते थे। एथेन्स उसकी प्रतिभा को नहीं समझ सका और उनकी हत्या कर दी प्लेटो एक महान् शिक्षक और लेखक था। उसने ब्रह्म, सृष्टि आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Republic" है। यह उस युग की राजपद्धति तथा प्रजातांत्रिक प्रणाली के ज्ञान से परिपूर्ण है। अरस्तू अपने युग का सर्वप्रमुख मेधावी विद्वान था। वह सिकन्दर महान् का गुरु भी था। इस महापुरुष का ज्ञान अगाध था तथा प्रत्येक विषय पर इसका पूर्ण अधिकार था। वह तर्कशास्त्र का प्रकाण्ड पंडित था। उसके तर्कों को आज भी नहीं भुलाया जा सकता। उसने विश्व-बन्धुत्व की भावना को विकसित करने में सहयोग दिया।

निष्कर्ष : "मशीनों के अतिरिक्त हमारी संस्कृति (पाश्चात्य संस्कृति) का कदाचित ही कोई ऐसा लौकिक तत्व हो, जिसका उद्भव यूनान में न हुआ हो। हमारी संस्कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी प्रेरणा यूनान से न मिली हो।" (विलड्ङ्रा) वास्तव में यह कथन सत्य के अधिक निकट है और यूनानी सभ्यता की पृष्ठभूमि पर ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का विकास हुआ है।

रोम की सभ्यता और संस्कृति

भूमिका :—ईसापूर्व १००० के लगभग इटली के अपेननाइन पहाड़ी की उपत्यका की भूमि पर एक दूसरे से संबंधित लेटिन आर्यों की अनेक जातियाँ निवास करती थीं। ये निवासी कृषि, तथा पशुपालन का कार्य करते थे। इनमें शिक्षा का अभाव था और वे भवन-निर्माण कला से अनभिज्ञ थे। ९०० ई. पू. के लगभग इटली में यूट्रास्कन जाति ने यूनान तथा बेबीलोन की सभ्यता को इटली में फैलाया। कालान्तर में यूनानी लोगों ने भी इटली में अनेक उपनिवेश स्थापित किये और यह प्रांत 'बृहत्तर यूनान' के नाम से पुकारा जाने लगा। उस समय तक इतिहास में रोम का कोई महत्व नहीं था।

संक्षिप्त इतिहास : जनश्रुति के अनुसार रोम नगर का निर्माण ७३५ ई. पू. में दो जुड़वा भाइयों रोम्यूलस और रम्यूस के द्वारा टाइबर नदी के किनारे पर किया गया था। कालान्तर में यूट्रास्कन जाति ने रोम पर अधिकार कर लिया। ५०६ ई. पू. में रोमन लोगों ने अपने आपको स्वतन्त्र कर लिया। इसके बाद रोम शनैः शनैः उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। सर्व प्रथम रोम ने यूट्रास्कन जाति को पराजित किया। इसके बाद ३३६ ई. पू. तक अपने ही स्वबन्धुओं को पराजित करके सम्पूर्ण लेटियम प्रांत पर रोम का अधिकार स्थापित किया गया। इसके बाद रोम और वृहत्तर यूनान का संघर्ष हुआ जिसमें रोम विजयी हुआ। फिर कार्थेज से, जो उस समय संसार की सर्वश्रेष्ठ जल शक्ति थी, संघर्ष हुआ। इतिहास में यह संघर्ष 'प्यूनिक युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे और अंतिम युद्ध में कार्थेज का पतन हुआ और रोम का साम्राज्य सिसली, कोर्सिका, सार्डिनिया, स्पेन तथा उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका तक फैल गया।

सेनापतियों का युग :— इन युद्धों ने सेनापतियों की शक्ति को विकसित किया। उस समय पॉम्पी, सुला, मेरियस, क्रेसस तथा जूलियस सीजर प्रमुख थे। सीजर बहुत महत्वाकांक्षी था। उसने गॉल जाति को पराजित करके सम्पूर्ण जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैण्ड पर रोम का अधिकार किया। पाम्पी तथा सीजर के पारस्परिक संघर्ष में पाम्पी मारा गया और सीजर रोम का तानाशाह बन गया। सीजर ने बहुत से सुधार किये। उपनिवेश बसाये। इटली के नागरिकों को रोम की नागरिकता प्रदान की। परन्तु कुछ विद्रोहियों ने ब्रूटस तथा केसियस के नेतृत्व में षडयन्त्र रचकर सीजर की हत्या करदी। सीजर के दो सेनापतियों-मार्क एन्टोनी तथा ओक्टेवियस ने हत्यारों को पराजित करके रोम साम्राज्य को दो भागों में बांट लिया। परन्तु शीघ्र ही दोनों में युद्ध हुआ जिसमें मार्क एन्टोनी पराजित हुआ और ओक्टेवियस रोम का एकमात्र शासक रह गया।

साम्राज्यवादी युगः— ओक्टेवियस ने आगस्टस की उपाधि ग्रहण की। यद्यपि उसने सम्राट् की उपाधि धारण नहीं की परन्तु वह प्रथम सम्राट् माना जाता है। उसके चार वंशजों ने ६८ वर्षों तक राज्य किया। अंतिम वंशज

नीरो था। नीरो के उपरान्त सेना की शक्ति से सम्राट् बनते, बिगड़ते रहे। सन् ३२४–३३७ ई. में कान्सटेनटाइन महान् रोम का सम्राट् हुआ। इस सम्राट् ने ईसाई धर्म को ग्रहण किया। इसके पूर्व ईसाई धर्म पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। इसी के समय में रोमन साम्राज्य दो हिस्सों में विभाजित हो गया—पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य। पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया बनाई गई। पांचवी शताब्दी में बर्बर जातियों के आक्रमण से पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।

प्रशासन व्यवस्थाः— प्रारम्भ में रोम प्रजातांत्रिक राज्य था। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का संचालन सीनेट के हाथ में था और सीनेट में उच्च वर्ग (पैट्रीसियन) का एकाधिकार था। सीनेट के नीचे असेम्बली थी। प्रत्येक नागरिक को असेम्बली की सदस्यता प्राप्त थी परन्तु असेम्बली के अधिकार सीमित थे। इनका काम सीनेट के प्रस्तावों पर स्वीकृति देना मात्र था। प्रारम्भ में प्रशासन के अधिकार सीनेट द्वारा निर्वाचित दो कौंसल—न्यायाधीश तथा सेनापति के आधीन थे। कालान्तर में 'प्रिसटोरस', सेन्सरस तथा ईडिल्स नामक कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। ये सभी कर्मचारी असेम्बली द्वारा निर्वाचित किये जाते थे परन्तु उच्चवर्ग के लोग ही उम्मीदवार हो सकते थे।

सर्वसाधारण के अधिकारों में वृद्धिः—असंतुष्ट सर्वसाधारण ने रोम त्यागने की धमकी दी; इस पर ४९३ ई. पू. में उन्हें अपने 'ट्रिब्यून' के चार अधिकारियों को चुनने का अधिकार दिया गया। कुछ समय बाद नियमों को लिखित रूप दिया गया और असेम्बली का प्रजातांत्रिक ढंग पर पुनर्निर्माण किया गया। धीरे २ सभी पदों पर साधारण लोगों को चुने जाने का अधिकार दिया गया। बाद में सीनेट की सदस्यता भी प्लिबियन (साधारण वर्ग) लोगों के लिये उन्मुक्त कर दी गई। प्यूनिक युद्धों ने देश में अराजकता को जन्म दिया। सीनेट तथा असेम्बली के अधिकारों को ताक पर रख दिया गया और सेनापतियों ने निरंकुश शासकों की भांति शासन किया। आगस्टस ने इस अराजकता का अन्त करके वंशानुगत सम्राटों की परम्परा को जन्म दिया।

स्थानीय स्वराज्यः—रोमन प्रशासन में स्थानीय स्वराज्य का अत्यधिक महत्व था। बड़े २ नगरों की आंतरिक व्यवस्था तथा स्वास्थ्य, सफाई,

जल व्यवस्था आदि नगरपालिकाओं के आधीन थी। नगरपालिका के सदस्यों का निर्वाचन जनता करती थी। सदस्यों को वेतन नहीं मिलता था। आर्थिक दृष्टि से नगरपालिकायें आत्म निर्भर होती थी। ग्रामों का प्रबन्ध ग्राम पंचायतों द्वारा होता था। वे भी आत्म निर्भर संस्थाएं थी।

सामाजिक जीवनः—प्रारम्भिक प्रजातांत्रिक रोम का समाज वर्गो में विभाजित नहीं था। परन्तु धीरे २ रोमन समाज दो प्रमुख वर्गो में–पेट्रोसियन तथा प्लिवियन अर्थात् उच्चवर्ग और साधारण वर्ग में विभाजित हो गया। उच्चवर्ग भूमि का मालिक वन गया। भूमि को जोतने वाले क्लाइन्ट कहलाये। फिर एक नवीन वर्ग-दास वर्ग की उत्पत्ति हुई। दासों की स्थिति दयनीय थी। रोमन समाज पितृ मूलक था। परिवार दो प्रकार के होते थे–एगनेट और कागनेट। एगनेट पिता के रक्त से सम्वन्धित व्यक्ति होते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली ही विद्यमान थी। स्त्रियों को विशेषाधिकार तो नहीं थे परन्तु समाज में उनका काफी सम्मान था। रोमन समाज में विवाह का अत्यधिक महत्व था। तलाक प्रथा प्रचलित थी परन्तु वहुत कठिन थी। रंग-विरंगे वस्त्रों का अधिक प्रयोग किया जाता था। सोलह वर्ष की आयु प्राप्त होने पर लड़के को सफेद वस्त्र धारण करने पड़ते थे। यह उसके पौरुष का प्रतीक था।

साम्राज्यवादी काल में रोमन समाज रसातल को चला गया। इस युग में वर्ग भेद वढ़ा और उच्चवर्ग यूनान की दार्शनिकता से प्रभावित होकर भोग-विलास की ओर अग्रसर हुआ। रक्तपात से आमोद-प्रमोद किया जाने लगा। खेल के मैदान में ग्लेडियेटर (दास सैनिकों) को मृत्यु पर्यन्त लड़ाना साधारण वात थी। परिवार की नैतिक भावना नष्ट हो चुकी थी। विवाह को दो दिलों का अस्थायी सम्वन्ध माना जाने लगा। समाज में वेश्या वृत्ति का विकास हुआ। धर्म के पवित्र वन्धन टूट चुके थे। आगस्टस ने प्राचीन समाज की पुनः प्रतिष्ठा का अथक प्रयत्न किया। प्रणय गीतों के कवि ओविड को तथा अपनी स्वयं की पुत्री को जो कि प्रेमव्यापार के लिये वहुत प्रसिद्ध थी, देश से निर्वासित किया गया। परन्तु फिर भी सुधार न हो सका।

धार्मिक सुधारः—प्रारम्भिक रोम विविध देवताओं की उपासना करता था। प्रत्येक घर का पृथक् पृथक् देवता होता था। 'लारेस' 'पिनेटस' 'वेस्ता'

'जुपिटर' 'मार्स' आदि देवता प्रमुख थे। रोमन लोगों ने यूनानी देवताओं का नाम संस्करण कर अपना लिया था, जैसे यूनानी देवता 'जीयस' का रूपान्तर 'जुपिटर' आदि आदि। परन्तु रोमन लोगों में आध्यात्मिक भावना का अभाव था। दिसम्बर में सेटर्न (कृषि देवता) के सम्मान में सात दिन तक उत्सव मनाया जाता था।

साम्राज्यवादी काल में रोमन देवता भुला दिये गये। क्योंकि जनता का विश्वास कम हो गया था। उच्चवर्ग सांसारिक भोग-विलास की तरफ आकर्षित हो चुका था। कालान्तर में इटली में क्रमशः जुड़ावाद, मिथ्रावाद तथा ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ। ईसा मसीह का जन्म आगस्टन युग में हो चुका था। परन्तु ईसाई धर्म का व्यापक प्रभाव २५० ई० तक नहीं पड़ा। ईसाई लोगों को घोर यातनाएं दी गई। अन्त में कान्सटैनटाइन के समय में ईसाई धर्म की उन्नति हुई और वह राजधर्म बन गया।

शिक्षा तथा साहित्यः—रोमन शिक्षा प्रणाली में व्याकरण, अङ्कगणित तथा नैतिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता था। अनुशासन का महत्व भी सिखलाया जाता था। वे लोग कलम और स्याही का प्रयोग करते थे। कोमल पत्रों, पेड़ की छालों तथा मोम लगे लकड़ी के टुकड़ों पर लिखा जाता था। साहित्य के क्षेत्र में यूनानी साहित्य का अनुकरण किया गया। होमर के ग्रन्थों का लेटिन में अनुवाद किया गया। टैरेन्स तथा प्लेटस सफल सुखान्त नाटककार थे। कैटेलस प्रसिद्ध कवि था। सिसरो एक प्रभावशाली वक्ता तथा गद्य का लेखक था। साम्राज्यवादीकाल में साहित्य की उन्नति हुई। 'वरजिल' सुप्रसिद्ध कवि था। होरेस तथा ओविड़ भी सफल कवि थे।

विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। एल्डर प्लिनी ने "प्राकृतिक इतिहास" लिखा। सेनेका ने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष, भूगर्भ विज्ञान तथा खगोल विद्या का विश्लेषण किया। गेलेन उस युग का प्रमुख चिकित्सक था। टोलेमी तथा एग्रिप ने नये २ मानचित्र बनाये।

कला की उन्नतिः—कला के क्षेत्र में रोम वालों ने यूनान से बहुत कुछ सीखा। रोम ने ज्वालामुखी से निकली हुई मिट्टी, पत्थर और ईंटों के सहयोग से निर्मित 'कंक्रीट' का आविष्कार तथा प्रयोग किया। इससे भवनों की भव्यता,

सौन्दर्यता तथा दृढ़ता का विकास हुआ। इसकी सहायता से निराधार गुम्वदों तथा मेहरावों को वनाया जाने लगा। उस युग का सर्व सुन्दर मन्दिर पेन्थीयन मन्दिर था जिसमें रोमन शैली का कलात्मक चमत्कार देखने योग्य था। ''सरकस-मैक्सिमस' भी अद्भुत इमारत थी। 'कोलोशियम' नाट्य-भवन तो कलात्मक गुणों के कारण विश्वविख्यात था। आज भी इन भव्य भवनों के अवशेष उनकी स्मृति को ताजा कर रहे हैं। मूर्तिकला के क्षेत्र में रोमन कलाकारों ने वास्तविक भाव-मुद्रा को अंकित करने का प्रयत्न किया। मार्क्स औरिलीयस की मूर्त्ति अत्यधिक उच्चकोटि की है। पांम्पी नगर के भग्नावशेष से प्राप्त चित्रकला के नमूने रोमन चित्रकला की उत्तमता को प्रमाणित करते हैं। संगीत के क्षेत्र में रोमन लोग अपनी मौलिकता को कायम न रख सके।

सिंहावलोकनः—''यदि यूनान ने एक सुविकसित संस्कृति को जन्म दिया तो रोम ने उसकी रक्षा की और उसे दूर-दूर तक फैलाया। यूनानियों के आदर्शवाद को उन्होंने व्यावहारिक रूप प्रदान किया और अपनी अद्वितीय व्यावहारिक प्रतिभा की सहायता से विश्व को एक विकसित न्याय शास्त्र प्रदान किया।''—(विलड्ंरा) आज हम प्रशासन की शक्तियों का जो पृथकीकरण देखते हैं, अर्थात् कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका, उसका सर्व-प्रथम प्रयोग रोम ने ही किया। रोम ने ही लिखित विधान की आवश्यकता को स्पष्ट किया। रोम ने ही सर्व-प्रथम दास तथा नागरिकों को समानाधिकार दिया। रोम ने ही शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण का प्रयोग हमारे सामने रखा। रोम ने सर्वप्रथम कानून-व्यवस्था का संगठन किया। प्रजातन्त्र की प्रमुख संस्थाओं-उच्च सदन तथा निम्न सदन एवं वहुमत प्रणाली का प्रयोग किया। पूर्व और पश्चिम की विचार-धाराओं का समन्वय करके एक दूसरे को समीप लाने का प्रयत्न किया। यह थी रोम की सभ्यता और संस्कृति की देन, जिसको अपना कर आधुनिक युग आगे वढ़ रहा है। आधुनिक युग की सभ्यता में रोमन संस्कृति के मौलिक तत्वों की ही प्रधानता हैं।

अरव की सभ्यता

प्राचीन संसार के वहुदेवतावाद, जादू-टोना तथा अन्धविश्वास का खंडन कर, विश्व को सर्व प्रथम एकेश्वरवाद के ज्ञान से परिचित कराने का

श्रेय अरब के निवासियों को है। अरब की मरुभूमि से ही संसार की दुखी जनता को सांत्वना देने वाली तथा ज्ञान पिपासा को तृप्त करने वाली यहूदी, ईसाई और इस्लाम की धार्मिक धाराएँ प्रवाहित हुई तथा सम्पूर्ण संसार को प्रभावित करने में सफल हुई।

यहूदी और ईसाई धर्म:—सर्वप्रथम यहूदी धर्म का उद्भव हुआ। इस धर्म को जुड़ावाद भी कहते हैं। यहूदी या हिब्रू जाति अरब के मरुस्थल में यायावर जीवन व्यतीत करने वाली सेमेटिक जाति थी। यहूदी जाति ने बतलाया कि ईश्वर एक है। वह निराकार है, एक पवित्र आत्मा है। वह सर्वव्यापक, न्यायप्रिय तथा कृपा सिन्धु है। उसका अस्तित्व मंदिर और मूर्तियों में नहीं बल्कि मानव के मानस में है। उसके शुभ कर्मों में है। इस धर्म के धार्मिक सिद्धान्त "ओल्डटेस्टामेंट" (पुरानी बाइबल) में लिपिबद्ध है। कालान्तर में इसी ग्रन्थ के आधार पर महात्मा ईसा ने ईसाई धर्म को जन्म दिया। ईसा ने सर्वप्रथम इस बात को बतलाया कि ईश्वर किसी एक जाति का, राष्ट्र का, समूह का नहीं है, अपितु सर्व व्यापक है। सर्व प्रिय है। प्रथम बार ईसा ने यहूदी धर्म पर आघात किया क्योंकि यहूदी लोगों की मान्यता थी कि ईश्वर उनका ही शुभचिन्तक है। प्रारम्भ में ईसाई धर्म के समर्थकों पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये परन्तु महान् सम्राट् कान्सटेनटीन के शासन प्रबन्ध में वह राज धर्म बन गया और आज सम्पूर्ण पाश्चात्य संसार उसकी उपासना करता है।

इस्लाम की उत्पत्ति:—यहूदी और ईसाई धर्म का उद्भव तो अरब में हुआ परन्तु उनका प्रभाव अन्य देशों पर पड़ा। अरब के निवासी अपने प्राचीन विश्वासों पर ही जमें रहें। इस्लाम की उत्पत्ति ने अरब लोगों के जीवन की धारा को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया। इस्लाम की उत्पत्ति और विकास में जहाँ तलवार की शक्ति ने सहयोग दिया वहाँ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तत्कालीन अरब जहां इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ था जड़तावादियों का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ की अधिकांश जनता निर्धन थी और निर्धनता के कारण स्वार्थ तथा लालच का बोलबाला था। धन उपार्जित करने के लिये निम्न से निम्न तथा भ्रष्ट से भ्रष्ट उपायों

का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियों की स्थिति दयनीय। वे पुरुषों के भोग-विलास का साधनमात्र थीं। अरबी जनता घोर मूर्तिपूजक थी। हजारों की संख्या में उनके देवता। सबसे अधिक प्रतिष्ठा मक्का मे स्थित "कावा" (काला पत्थर) की थी। ऐसी परिस्थिति थी अरब की जब हजरत मुहम्मद ने अन्ध विश्वास रहित, आडम्बरहीन, सीधे सादे ढंग मे एक ईश्वर की उपासना हेतु इस्लाम को जन्म दिया। इस्लाम ने धार्मिक, तथा सामाजिक समानता एवं कर्तव्यनिष्ठ उपासना का संदेश भी दिया। यह सांसारिकता के समीप तथा वैराग्य से दूर है।

इस्लाम का प्रसारः— हजरत मुहम्मद की मृत्यु (६३२ ई) के उपरान्त उनके धर्म उत्तराधिकारी को 'खलीफा' के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस्लाम तथा खलीफाओं की शक्ति का उत्थान एवं पतन आज भी एक रहस्य-मय पहेली है। किन्तु दो-तीन कारण बहुत स्पष्ट है। प्रथम, धार्मिक उत्साह द्वितीय, आर्थिक कठिनाइयाँ तथा तृतीय, पड़ौसी देशों में व्याप्त अराजकता तथा अव्यवस्था।

सर्वप्रथम सम्पूर्ण अरब में इस्लाम का प्रचार हुआ। इसके उपरान्त सीरिया तथा परशिया में इस्लाम का प्रचार हुआ। धीरे २ मिश्र, बाइजेण्टिया, सिसली, कार्थेज, स्पेन, रूसी तुर्किस्तान, भारत के सिन्धु प्रान्त तथा चीन के पश्चिमी सीमान्त तक अरब का अधिकार और इस्लाम का प्रचार हुआ। लड़खड़ाते हुये पूर्वी रोमन साम्राज्य ने इस प्रसार को रोकना चाहा परन्तु रोक न सका और अरबों ने उस पर अपना स्थापित कर लिया। ईसाइयों के धर्म स्थानों (जेरूसलेम आदि) को लेकर मध्ययुग में ईसाइयों तथा अरबों में अनेक धर्म युद्ध लड़ गये परन्तु सफलता अरबों के पक्ष में रही।

समन्वित सभ्यता :—इस्लाम की उत्पत्ति के पूर्व अरब की सभ्यता उन्नत नहीं थी। परन्तु ज्यों २ इस्लाम का प्रसार होता गया त्यों त्यों अरब लोग अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क में आते गये जिसके फल स्वरूप उनमें शिक्षा, शिष्टाचार, कला आदि का विकास हुआ। अरबों ने यूनानी, भारतीय तथा ईरानी सभ्यता से बहुत कुछ सीखा और इस ज्ञान को सुरक्षित रखा तथा कालान्तर में इसका प्रसार भी किया। इतना ही नहीं बल्कि अरबों ने यूनानी

तथा भारतीय ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद भी किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरबों की सभ्यता विभिन्न सभ्यताओं के मौलिक तत्वों का समन्वित रूप थी और मध्ययुग तक पाश्चात्य संसार तथा मध्य एशिया और कुछ अंशों में भारत में भी इसी समन्वित सभ्यता का विकास होता रहा।

प्रशासन:—प्रारम्भ में इस्लामी प्रशासन प्रजातांत्रिक था परन्तु उमैया वंश के समय से राजतन्त्रीय प्रणाली का विकास हुआ तथा खलीफा का पद वंशानुगत बन गया। खलीफा धर्म तथा राजनीति का सर्वोच्च अधिकार होता था और कुरान की धाराओं के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का उसके ऊपर अंकुश नहीं था। खलीफाओं के शासनकाल में केन्द्रीय, प्रांतीय तथा स्थानीय प्रशासन का विकास हुआ। न्याय, कर, पुलिस, यातायात, गुप्तचर आदि विभागों का विकास हुआ। खलीफाओं ने जनता की भलाई के लिए बड़ी २ सड़कों, बड़े २ भवन, पुल और बाँध बनवाये। नवीन नगरों की स्थापना की। व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन दिया।

सामाजिक जीवन: यद्यपि इस्लाम सामाजिक समानता में विश्वास करता है परन्तु फिर भी उसके समर्थकों में वर्ग भेद तो विद्यमान है ही कुलीन वर्ग का विशेष महत्व था। कुलीन लोगों को घोड़ों पर चढ़ने का अधिकार था परन्तु सर्व साधारण वर्ग इस अधिकार से वंचित था। स्त्रियाँ चुस्त और रंगीन कपड़े पहनती थीं और पर्दे की प्रथा थी। पुरुष को चार पत्नियाँ रखने की छूट थी। तलाक प्रथा भी प्रचलित थी। संगीत, काव्य, घुड़दौड़, कुश्ती, शिकार इत्यादि मनोरंजन के मुख्य साधन थे।

आर्थिक जीवन:—इस्लाम धर्म ने अरबों के आर्थिक जीवन को भी बदल दिया। खलीफाओं के युग में कृषि पर विशेष ध्यान दिया गया तथा सिंचाई के साधनों का विकास किया गया। अरबों ने उद्योग-धन्धों में अपूर्व उन्नति की। उन्होंने दूसरे देशों से हवा से चलने वाली चक्कियाँ प्राप्त करली थीं। जल-घड़ी द्वारा समय निर्धारित किया जाता था। वे धातुओं के बर्तन तथा आभूषण बनाने में निपुण थे। मोसल, दमिश्क, और अदन सूती तथा ऊनी कपड़ों के लिये प्रसिद्ध थे। दमिश्क की तलवारें, सीडोन और टायर की शीशे

की वस्तुएँ बगदाद के मिट्टी के वर्तन, रवका और फारस के तेल तथा सुगंधित इत्र समस्त यूरोप में विख्यात थे।

धार्मिक विचार:—इस्लाम की उत्पत्ति के वाद सम्पूर्ण अरव इस धर्म का उपासक वन वया और संसार के विविध देशों में इसका प्रचार भी किया। प्रारम्भ में इस्लाम का रूप वहुत सरल था और इसके सिद्धान्त "कुरान" नामक ग्रन्थ में संग्रहित है। समय के साथ साथ इसकी सरलता नष्ट होती गई और जटिलता का प्रवेश हुआ। "लाइलाह इल्लिलाह मुहम्मदुर्रसूललिल्लाह" इस्लाम का मूलमन्त्र है। अर्थात् अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है और मुहम्मद उसके रसूल है। इसके अतिरिक्त इस धर्म के प्रत्येक अनुयायी के लिये पांच कृत्य–कलमा पढना, नमाज पढ़ना, रोजा रखना, जकात देना तथा हज करना, आवश्यक है। कालान्तर में इस धम में दो सम्प्रदायों–शिया तथा सुन्नी का प्रादुर्भाव हुआ। इस्लाम में रहस्यवाद का भी विकास हुआ और इसमें विश्वास रखने वालों को 'सूफी' कहा जाता है।

दर्शन:—७५० ई० में मुतजालित विचारों के साथ इस्लामी दर्शन का विकास प्रारम्भ हुआ। इस्लामी दर्शन यूनानी, हिन्दू तथा ईसाई दर्शन से प्रभावित है। इस्लामी दर्शन की विचारधारा कुरान के अमरत्व को नहीं मानती थी। इस विचार धारा का विकास खलीफा हारून उल रशीद के समय में हुआ। इब्ज यूसुफ, अवुल हसन और मुहम्मद अबू प्रसिद्ध दार्शनिक थे। अविसेना के उपरान्त इस्लामी दार्शनिक विचारधारा की मौलिकता नष्ट हो गई।

साहित्य: - इस्लामी साहित्य में उपन्यास तथा नाटकों का अभाव है, परन्तु काव्य व कहानियों की प्रधानता है। हसन इब्नहानी अरव का प्रसिद्ध कवि था। उसे सुरा, सुन्दरी और संगीत से वड़ा प्रेम था। अल भरीरी अरव का अन्धकवि था। फिरदौसी का "शाहनामा" उत्कृष्ट रचना है। उमर ख्याम की रुबाईयाँ और सादी की "गुलिस्तां वोस्ता" अनुपम कृतियाँ हैं। आबूजफर मुहम्मद और अलमसूदी प्रसिद्ध इतिहासकार थे। भौगोलिक ग्रन्थों की भी रचना की गई।

कला तथा विज्ञान:—इस्लाम मूर्ति तथा चित्रों में विश्वास नहीं करता अतः इस्लामी कला की झलक केवल वास्तुकला के क्षेत्र में ही दिखलाई देती

है। अरबों ने मिश्र, सीरिया, ईरान, भारत आदि देशों की कलाओं का मिश्रण कर एक नवीन शैली का निर्माण किया। यही कारण है कि स्पेन के आलम्ब्राह्म से लेकर भारत के ताज तक इस्लामी वास्तुकला में विभिन्न शैलियों की प्रधानता दिखलाई देती है। अरब कलाकार पत्थर को काट कर सुन्दर जालि और अलंकारपूर्ण वस्तुएँ बनाने में दक्ष थे।

अरबों ने गणित और ज्योमिति का ज्ञान यूनानियों से, चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान मिश्र, भारत और यूनान से प्राप्त किया। भौतिक, खगोल और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने उन्नति की। रेजेज प्रसिद्ध चिकित्सक था। अविसेना तथा अवेरोज प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। बीज गणित के क्षेत्र में अरबों की देन मौलिक है। अरबों ने भारतीय अङ्कों का व्यवहार सीखा तथा समस्त विश्व को शून्य (अङ्क) के विषय में परिचित कराया।

निष्कर्ष:—यद्यपि अरबों और तुर्कों ने इस्लाम का प्रचार करने के लिए अनेक गिरजाओं और मन्दिरों को तोड़ा परन्तु उनके सामाजिक जीवन ने पूर्व और पश्चिम के देशों को प्रभावित किया। अरबों ने सभी सभ्यताओं से कुछ न कुछ ग्रहण किया और उस ज्ञान को अपने ग्रन्थों में संग्रहित करके सुरक्षित रखा। इन ग्रन्थों का मध्यकाल में लेटिन भाषा में अनुवाद किया गया और अप्रत्यक्ष रूप से अरबों तथा तुर्कों ने यूरोप के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को संभव बनाया पश्चिम को पूर्व के ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराया और इस प्रकार पूर्व व पश्चिम में सम्पर्क स्थापित किया।

मध्यकालीन यूरोपीय सभ्यता

यूरोपीय मध्ययुग का प्रारम्भ चौथी शताब्दी ई० में माना गया है इस शताब्दी में प्रारम्भ में जर्मन जातियों के आक्रमणों का सबसे अधिक जोर रहा था तथा उनके कारण रोमन साम्राज्य को भीषण हानि उठानी पड़ी थी। इस युग की समाप्ति के विषय में मत स्थिर करना दुष्कर है। सन् १४५० ई० और सन् १५०० ई० के मध्य कुछ ऐसे आन्दोलन तथा परिवर्तन हुये (उदाहरण के लिये धार्मिक क्रांति, नवीन आविष्कार, निरंकुश सत्ता की स्थापना आदि) जिनसे युग परिवर्तन में अत्यधिक सहायता मिली। अतः हम

मध्ययुग का काल ३५० ई० से १५०० ई० तक निश्चित कर सकते है। सर्व-प्रथम हम मध्ययुग के प्रमुख स्तम्भों का उल्लेख करेंगे। उसके वाद सभ्यता की विशेषताओं का।

अन्धयुगः—जर्मन जातियाँ युद्धप्रिय तथा सभ्यता से बिल्कुल वंचित थी। उनके आगमन से रोमन सभ्यता तथा समाज को भयङ्कर क्षति सहन करनी पड़ी। यूरोप के इतिहास में एक अन्धयुग प्रारम्भ हुआ जो छठी शताब्दी ई० से आठवी शताब्दी ई० तक स्थापित रहा। इस अन्धयुग में भी जर्मन जाति के कई प्रसिद्ध सम्राट् हुए, जिन्होने सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति में कोई बात शेष न रखी, जैसे फ्रांस का सम्राट् शार्लमेन अथवा चार्ल्स महान्। इन सबके प्रयत्नों से जर्मन जातियों में सभ्यता का विकास हुआ। राष्ट्रीय जागृति हुई जिसके फलस्वरूप इंगलैण्ड फ्रांस, डेन्मार्क आदि में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई।

पवित्र रोमन सम्राट— पवित्र रोमन सम्राट् एवं पोप यह दो ऐसी महान् शक्तियाँ थी जिनके प्रभाव में यूरोप के अधिकतर देश थे। मध्यकालीन युग के इतिहास में इनका नाम अवसर सुनाई पड़ता था। होली रोमन साम्राज्य की स्थापना का श्रेय फ्रांस के सम्राट् शार्लमेन तथा जर्मनी के सम्राट् ओटो प्रथम को है। ईसाई धर्म के सर्वोच्च पदाधिकारी पोप ने रोम में दोनों को मुकुट पहनाया था। अतः वे पवित्र रोमन सम्राट् और उनका साम्राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के नाम से प्रसिद्ध हुये। सन् १८०६ ई० में नेपोलियन बोनापार्ट ने इसका अन्त कर दिया।

पोपः—यों तो प्रत्येक नगर में एक विशप रहता था किन्तु रोम के विशप का पद सर्वोच्च समझा जाता था। रोम में ही सेंट पाल तथा पीटर का बलिदान हुआ था। पोप शब्द का अर्थ है 'पापा' अथवा 'पिता'। सन् १०७३ ई० तक प्रत्येक विशप को पोप कहा जाता था परन्तु इसके बाद केवल रोम के विशप को ही पोप कहा जाने लगा। सोलहवीं सदी तक धार्मिक विषयों में पोप का निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। वह बड़े से बड़े सम्राट को भी

ईसाई धर्म से निर्वासित कर सकता था। एक समय पोप ग्रेगरी सप्तम (१०७३-१०८०) किसी कारणवश होली रोमन सम्राट् हेनरी चतुर्थ से अप्रसन्न हो गया। अतएव उसने उसे ईसाई धर्म से निर्वासित कर दिया। हेनरी ने केनोसा स्थान पर पोप से क्षमा मांगी। इसके लिये उसे तीन दिन तक नंगे पैर पोप के सामने खड़ा रहना पड़ा था। पोप एक महान् शक्ति थी। वह ईसाई धर्म का पथ-प्रदर्शक था।

धर्मयुद्धः—इस्लाम का प्रसार यूरोप में भी हुआ। तुर्कों ने ईसाइयों के पवित्र स्थान जेरुसलेम पर अधिकार करके ईसाई यात्रियों पर अत्याचार करने शुरू कर दिये। अतएव ईसाइयों ने पोप तथा होली रोमन सम्राट् की संरक्षता में १२ वीं तथा १३ वीं शताब्दी में उनके विरुद्ध आठ युद्ध किये जो इतिहास में धर्मयुद्धों (crusades) के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु ईसाई अपने उद्देश्य में सफल न हो सके अर्थात् तीर्थ स्थानों पर अरबों का ही अधिकार रहा।

सामन्तवाद और शौर्य भावनाः—मध्ययुग की सभ्यता की प्रमुख विशेपता सामन्तवादी प्रथा (Feudalism) थी। यूरोप के पश्चिमी देशों में इसका खूब प्रचार था। जागीरदार कहने को तो सम्राट् के अधीन थे; किन्तु वास्तव में वे अत्यन्त शक्ति-शाली थे तथा सम्राट् की बहुत कम परवाह करते थे। वे किसानों के साथ भी बहुत खराब व्यवहार करते थे। कहीं २ बड़े जागीरदारों के अधीन छोटे जागीरदार भी थे। सामन्तवादी युग में कृपकदास (Serfs) का जीवन सन्तोष जनक नहीं था। करों के भार से उसकी कमर हमेशा झुकी रहती थी। उसके गाढ़े पसीने की कमाई का अधिकांश हिस्सा सामन्त प्रभु की सेवा में चला जाता था।

डा० विलडुरा ने सत्य ही कहा है कि "इतिहास की अधिकांश आर्थिक, और सामाजिक रचनाओं के समान सामन्तवाद भी स्थान, समय और मानव स्वभाव की आवश्यकताओं के अनुकूल था।" 'असभ्य जातियो के विध्वंसात्मक आक्रमणों के फलस्वरूप यूरोप में जो अराजकता उत्पन्न हो गई थी उसका अन्त करके एक सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करने का महत्वपूर्ण कार्य सामन्तवाद द्वारा ही सम्पादित हुआ।

उस युग का सामन्त भोग विलासी न था । वह साहसिक होता था । ;सकी रगरग में शौर्य भावना व्याप्त थी । उसे भोग विलास की अपेक्षा रण रंग-भूमि ज्यादा प्रिय होती थी । सम्पत्ति और प्रभुत्व से सम्पन्न होने के रान्त भी उसमें आलस्य एवं अकर्मण्यता के दोष नही थे । नाइट (सामन्त द्धा) प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे; वास्तव में यह उनके जीवन का केन्द्र-न्दु था । प्रतियोगिता में वीरता का प्रदर्शन किया जाता था तथा विजयी द्धा को पुरस्कृत किया जाता था । कुलीन वर्ग का व्यक्ति ही 'नाइट' बन ता था । प्रत्येक युवक को नाइट बनने के लिये कठोर अनुशासन में रहना ता था । शौर्य का प्रारम्भ दसवी शताब्दी में हुआ था तथा १३ वी शताब्दी अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था । शौर्य का प्रभाव मध्ययुग समाज, शिक्षा; कला तथा भाषा और साहित्य पर पड़ा ।

सामाजिक जीवन:—मध्यकालीन समाज अनेक वर्गों में विभाजित । कुलीन वर्ग का समाज में विशेष सम्मान था । उनके महलों और वस्त्रों अभिजात्य टपकता था । उच्च वर्ग के पादरियों का भी समाज में महत्वपूर्ण न था । निम्न वर्ग के पादरियों को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता । निम्नवर्ग में दो श्रेणियां थीं—दासता के बन्धन से मुक्त लोगों की तथा ीनों की दासता में भकड़े हुए लोगों की । व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य मध्ययुग के सामाजिक जीवक को बदल दिया । यद्यपि यह परिवर्तन धीमा परन्तु स्पष्ट था । व्यापारियों ने समाज में अपना सम्मान बढ़ाया । इसके ोरिक्त असंख्य लोग कृषि कार्य छोड़ कर नगरों में जा बसे—व्यापार करने लिये या व्यापारियों की नौकरी के लिये ।

आर्थिक जीवन:—मध्यकालीन आर्थिक जीवन जागीरदारी प्रथा से ावित था । जागीर में छोटे २ गांव होते थे । प्रत्येक जागीरदार आर्थिक में आत्म निर्भर होता था । कृषि जीविका की मुख्य आधार शिला थी । ा पुराने ढग पर होती थी । अतः भूमि की उपज नहीं बढ़ती थी । संवाहन : यातायात की सुविधायें नहीं थी । सड़कों पर चोर और डाकू लूटमार

किया करते थे। धर्मयुद्धों के बाद व्यापार वाणिज्य का विकास हुआ। इस युग में व्यापक पैमाने पर सिक्कों का प्रचलन हुआ। फ्रांस में टैम्पलर बैंक की स्थापना हुई। अन्य देशों में भी बैंकों की स्थापना की गई। जिससे व्यापार वाणिज्य का विकास हुआ। जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन में परिवर्तन हुआ।

शिक्षा और साहित्यः—शिक्षा का कार्य गिरजाघरों के हाथ में था। सिकन्दरिया और एंटियोक के दार्शनिक स्कूलों को ईसाई धर्म के स्कूलों में बदल दिया गया। मध्ययुग में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ। धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों की मांग बढ़ती गई। बोलोग्ना, पेरिस और सोलरनों के विश्वविद्यालय यूरोप में प्रसिद्ध थे। १५वीं शताब्दी में यूरोप में ७० विश्वविद्यालय थे। परन्तु उनका कोई संगठन नहीं था; कक्षाओं में छात्रों की उपस्थिति नहीं ली जाती थी, भवनों का तथा खेल-कूद की व्यवस्था का अभाव था। प्रत्येक छात्र को व्याकरण, पद्य, तर्क, संगीत, अंकगणित, ज्योमिति तथा नक्षत्र विद्या की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता था। लेटिन शिक्षा का माध्यम थी। कालान्तर में प्रादेशिक भाषाओं का महत्व बढ़ गया।

मध्ययुग के साहित्य में प्रणय, वीरता और लोक कथाओं का स्थान सर्वप्रमुख है। चौसर ने "केन्टरबरी टेल्स" और लॅगलैण्ड ने "दी विजन आफ पार्यस प्लोमैन लिखा। स्पेन का राष्ट्रीय महाकाव्य "पोयमा डेल सिड" की रचना भी इसी युग में हुई। दांते की 'डीवाइन कामेडी" उस युग की मशहूर प्रसिद्ध पुस्तक थी। इस युग में इतिहास के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की भी वृद्धि हुई।

दर्शनः—मध्ययुग का दर्शन 'स्कालिस्टिक" कहा जाता है। इसका आधार अरस्तू का तर्कशास्त्र और सेन्ट तथा आगस्टाइन का तत्वज्ञान था। जोएन्नीज स्कॉटस इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक था। गरबर्ट ने अरबी व हिन्दू दार्शनिक विचारों को यूरोप के लोगों को समझाया। एबेलार्ड, ट... [illegible] भी प्रमुख दार्शनिक थे।

कला:—मध्ययुग की कला अपने पूर्वकालीन युग की कलाओं का समन्वित रूप थी। गिरजाघरों ने कला द्वारा ईश्वर की महानता को प्रदर्शित किया, परन्तु कुलीन वर्ग के मनुष्यों ने कला द्वारा अपने महलों की शोभा बढ़ाई। मध्ययुग की वास्तुकला की दो श्रेणियां थी—रोमेनस्क और गोथिक। रोमेनस्क शैली पर रोमन महराव तथा आँतरिक भाग के अलंकरण का प्रभाव था। पिसा का गिरजाघर, फ्लोरेन्स का सेन मिनिएटो का गिरजाघर इस शैली के अनुपम कलात्मक उदाहरण है। गोथिक शैली में धार्मिक भावना का अभिव्यक्ति करण पूर्ण रूप से हुआ है। इस शैली की विशेषता थी नोकदार मेहराव। इस शैली के गिरजाघर फ्रांस में पाये जाते हैं।

मूर्ति कला के क्षेत्र में गोथिक शैली ने विशेष प्रगति की। इस शैली में कोमलता, सुन्दरता, और आत्मिक भावना को प्रकट करने का सुन्दर तरीका था। कालान्तर में लौकिक जीवन से संवोधित मूर्तियों का भी निर्माण किया गया। स्लूटर का 'वेल आफ मोजेज' तथा डोनाटेलों का 'सेन्ट जार्ज" इस युग की प्रसिद्ध मूर्तियां थीं। चित्रकला की भी उन्नत्ति हुई। गियटो इस युग का प्रसिद्ध चित्रकार था। इस युग में रंगीन कांच द्वारा अलंकरण करने का कार्य वहुत निपुणता के साथ किया जाता था।

मध्ययुग की देन:—विलड्रा ने मध्ययुग को 'धर्मयुग (The age of Faith) कहा है क्योंकि उसके अनुसार इस युग में तीन महान् धार्मिक विचारधाराओं का विकास हुआ। इस युग की प्रत्येक वस्तु पर धार्मिक विचारों का प्रभाव स्पष्ट था। इस युग में शिक्षा का प्रचार हुआ, विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति हुई। शिष्टाचार और कोमल भावनाओं को समाज में स्थान मिला। आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनों ने यूरोप और पूर्वी देशों के बीच सम्पर्क स्थापित किया। राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना और राष्ट्रीय भावनाओं का संचार हुआ। प्रोफेसर स्वेन ने मध्ययुग की देन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "मध्ययुग ने आधुनिक युग का निर्माण किया।" इस युग में पूर्व और पश्चिमी सम्यताओं के बीच

सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप नवयुग या बौद्धिक पुनरुत्थान की पृ
भूमि का निर्माण किया गया ।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. सभ्यता और संस्कृति के प्रसार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।

२. विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का तुलनात्मक विवरण दीजिए ।

३. "आधुनिक युग की सभ्यता में रोमन सभ्यता एवं संस्कृति के मौलिक तत्वों की प्रधानता है ।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत है ?

४. मध्ययुग में सभ्यता और संस्कृति का प्रसार व विकास शिथिल क्यों पड़ गया ? समझाइए ।

तृतीय अध्याय

पूर्व औद्योगिक आर्थिक प्रगति

किसी भी सामाजिक संस्था की उत्पत्ति बताना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि प्राचीन व्यवस्था के कोई चिन्ह नहीं मिलते हैं। आदिम युग में मनुष्य की पहली आवश्यकता भोजन रही होगी। कहीं कहीं ठंडे जलवायु वाले स्थानों में वस्त्रों की भी आवश्यकता रही होगी। इन्हीं दो आवश्यकता पर आर्थिक प्रगति आधारित है। अब हम आदिम निवासियों के समय से लेकर पूर्व औद्योगिक विकास के पूर्व तक की आर्थिक प्रगति का अध्ययन करेंगे।

प्रारम्भिक काल:—प्रारम्भ में और कई शताब्दियों तक, जब कि मनुष्य अन्य पशुओं की भांति एक पशु ही था, मनुष्य का जीवन कन्द; मूल, फल-फूल तथा वृक्षों की जड़ों आदि पर ही निर्भर था। मानव भोजन की तलाश में इधर-उधर भटकता फिरता था। उस युग में सम्पत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। आर्थिक प्रगति का सूत्रपात नहीं हुआ था। मनुष्य कभी वृक्षों पर निवास करता रहा होगा। वह अपनी क्षुधा तृप्ति के लिये कन्दमूल, फल इत्यादि एकत्र करता रहा होगा।

शिकारी अवस्था:—धीरे धीरे फल संचय के युग से आगे बढ़ कर मनुष्य ने शिकार करना सीखा। इस युग का मनुष्य भी जंगली था। उसके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन कम थे। अतः उसे व्यक्ति से अधिक समाज पर भरोसा रखना पड़ता था। इसीलिये उसकी जो कुछ भी थोड़ी बहुत सम्पत्ति थी, वह सामूहिक थी। "कुछ" इसलिये कि उसके उपयोग की वस्तुओं में जल्द खराब होने वाली वस्तुएं अधिक थीं। मारे हुए शिकार के मांस को वह देर तक नहीं रख सकता था। इसलिये संग्रह कम था, सम्पत्ति कम थी और जो कुछ भी थी वह सम्मिलित थी, क्योंकि सम्मिलित श्रम से प्राप्त होती थी। इस अवस्था को "आदिम साम्यवाद" के नाम से सम्बधित किया जाता है। साथ मिल कर श्रम करते थे, साथ संग्रह करते थे और साथ ही भोजन करते थे।

इस युग में श्रम का विभाजन लिंग पर आधारित था। पुरुष शिकार जैसे कठिन कार्य करता था और स्त्री भोजन बनाती थी तथा अन्य कम ... वाले कार्य करती थी।

पशुपालन अवस्थाः—आदिम साम्यवादी समाज के अन्तिम ... अवस्था में परिवर्तन होने लगा और सम्पत्ति तथा असमानता आने लगी थी। पहिले बाहरी आदमियों से वस्तुओं के आदान-प्रदान से, फिर धीरे-धीरे विनिमय (पण्य) वस्तु के द्वारा। फिर परिवारों के सदस्यों में भी वस्तुओं की अदला-बदली तथा सम्पत्ति का तारतम्य बढ़ने लगा। इसका कारण था पशु-पालन व्यवस्था। कभी २ मनुष्य ने मनोरंजन के लिये घोड़े, गाय, भेड़-बकरी के बच्चों को भी पाला था; किन्तु अब उसे पशु पालन के आर्थिक लाभ ... होने लगे और इस प्रकार जीविका का एक नया साधन मनुष्य के हाथ ... आया। पशु उसकी सम्पत्ति हो गई। परन्तु पशुधन भी सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती थी। घर और चरागाह की भाँति उस पर भी व्यक्ति का अधिकार नहीं स्वीकार किया गया। आरम्भ में पशु-पालन शिकार के परिशिष्ट रूप के तौर पर मांस और चमड़े के लिये स्वीकार किया गया था। दूध-मक्खन का उपयोग बहुत पीछे किया जाने लगा।

इसी युग में मनुष्य ने भुने मांस का प्रयोग अधिक कर दिया। फलस्वरूप बर्तनों की आवश्यकता हुई। चमड़े का उपयोग भी वस्त्र तथा जूते के लिये किया जाने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप वस्त्र सीने वालों की तथा जूतों को बनाने वालों की आवश्यकता हुई। धीरे-धीरे व्यवसायी श्रेणियों की उत्पत्ति हुई। दोनों एक दूसरे की चीजों को लेने के लिये निश्चय ही विनिमय की चीजें तैयार करने लगे होंगे, और इससे गृहशिल्प में भी कुछ उन्नति हुई होगी। ... सब प्रारम्भिक अवस्था में ही था।

कृषि अवस्थाः—पशुपालन ने पुरुषों की सत्ता की स्थापना की ... वैयक्तिक सम्पत्ति का रास्ता खोल दिया। कृषि के आविष्कार ने मानव ... को स्थिर बनाया, और यद्यपि भूमि को अब भी सम्मिलित सम्पत्ति माना ... था परन्तु भूमि का उपयोग और उपज वैयक्तिक बन गये थे। भूमि पर किसी एक व्यक्ति का, या परिवार का नहीं बल्कि सम्पूर्ण कबीले का अधिकार ...

जाता था। धीरे २ भूमि पर वैयक्तिक अधिकार भी स्थापित हो गया। फलस्वरूप भूमि का विनिमय, रेहन तथा बेचन की प्रथा का भी विकास हुआ और भूमि भी सम्पत्ति के रूप में समझी जाने लगी। कृषि के कारण भोजन की अधिक सुरक्षा हो जाने से अधिक लोग एक स्थान पर रहने लगे और छोटे छोटे गांवों का निर्माण हुआ। शनैः शनैः वस्त्र, मिट्टी के वर्तन इत्यादि भो मनुष्य बनाने लगा। इन वस्तुओं के कारण सम्पत्ति एकत्रित होने लगी। प्रारम्भ में नुकीली लकड़ी जिसे 'हो' (Hoe) कहा जाता है, भूमि को खोदने के काम में लाई जाती थी। फिर हल का आविष्कार हुआ। हल के आविष्कार से बढ़ई तथा लुहार का व्यवसाय बढ़ा।

धातु कालः—आदिम अवस्था में मनुष्य के श्रम के सहायक पत्थर, लकड़ी तथा नुकीली हड्डियां थीं। मनुष्य इन्हीं की सहायता से श्रम करता था और जीविका निर्वाह के साधन प्राप्त करता था। कड़े पत्थरों की तलाश करते समय मनुष्य को तांबे के प्रायः शुद्ध टुकड़े मिले। पत्थर से बढ़कर इसको तेज और मजबूत धार की उपयोगिता को समझने में उसे देर न लगी। मिश्री जाति ने सर्वप्रथम धातु का प्रयोग किया और मिश्र के महान् पिरामिड़ जो कि ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व बनाये गये थे इसका प्रत्यक्ष सबूत है। शायद इसी युग में जस्ता-तांबे से मिश्रित धातु पीतल का भी पता लगाया गया। तांबे के मिलने से जहां मनुष्य अपने मानव और पशु शत्रुओं के मुकाबले में अधिक मजबूत हो गया था, वहां अब उसे शिल्प सम्बन्धी हथियारों हल के फालों तथा दूसरे सामान को अधिक मजबूत बना सकता था। अपने तेज हथियारों से जंगल को साफ कर अब मानव खेती को ज्यादा बढ़ा सकता था। अच्छे वर्तन बनाकर पके मांस तथा अनाज को खा सकता था। लोहे के आविष्कार ने तो समाज में भारी परिवर्तन ला दिया। कई स्वतन्त्र पेशों का जन्म तथा विकास हुआ जिसके आधार पर आर्थिक प्रगति की नींव रखी गई।

हस्त-कलाः—तांबा, टीन, सोना, गिलट, लोहा और चांदी इत्यादि धातुओं का पता लगाने के उपरान्त हस्तकला का विकास हुआ। हस्तकला के कारण सम्पत्ति का विकास हुआ और मनुष्य के लिये अनेक क्षेत्र खुल गये।

जैसे खेती के लिये भी अधिक हाथों की जरूरत थी, लेकिन शिल्प को बढ़ाकर धन अर्जन करने का आम उद्देश्य था। सभी पुराने शिल्प पहले एक ही घर के लोग करते थे, किन्तु अच्छी किस्म की वस्तुओं की मांग ज्यादा थी, इसलिये अब उनके लिये विशेषज्ञ की जरूरत पड़ी। इसी समय स्वामी तथा दास दो अलग वर्ग बने। श्रम का विभाजन हुआ। दास काम करने के लिये और स्वामी शोषण करने के लिये। समाज में आर्थिक प्रगति हुई। खेती से शिल्प अलग कर दिया गया। कुछ लोग सिर्फ शिल्प को ही अपना व्यवसाय बनाने पर मजबूर हुए।

विनिमय और वाणिज्यः—हस्तकला के कारण वस्तुओं का विनिमय अधिक बढ़ने लगा। इससे व्यापार वाणिज्य की उत्पत्ति हुई। परन्तु प्रारम्भ में चीजों को खरीदने और बेचने की सारी जिम्मेदारी लेकर बैठा बनिया मौजूद न था। वाणिज्य अभी एक अलग वर्ग का पेशा नहीं बना था, बल्कि प्रत्येक शिल्पी स्वयं अपने सामान को आवश्यक चीजों के बदले में बदलता था। इस विनिमय प्रथा में निर्जीव पदार्थ तथा विक्रेय पशु ही नहीं, बल्कि दास-दासी भी शामिल थे। इसके बारे में एक मजेदार चुटकला विख्यात है। एक बार पेरिस के नागरिकों ने सुदूर स्थान की एक नर्तकी को निमंत्रित किया और दर्शकों ने अनाज, भेड़-बकरियां, गाये फल भेंट किये। नर्तकी के साथियों ने अनाज, भेड़-बकरियों और फलों का उपयोग किया। परन्तु जो वस्तुएं बच गई उसका विनिमय कैसे किया जाय और उन्हें अपने स्थान तक कैसे ले जाया जाय? यह एक जटिल समस्या बन गई। अन्त में उस नर्तकी को खाली हाथ ही वापिस लौटना पड़ा। यह सब घटनायें तथा अवस्थाएं दासता युग की है।

सामन्तवादी युग में बनिया या व्यापारी का जन्म हुआ। दो उत्पादकों के अपने सौदे के विनिमय में कई दिक्कतें थी। प्रत्येक उत्पादक के लिये यह संभव नहीं था कि वह अनिश्चित समय तक अपनी वस्तुओं को लेकर बैठा रहे या घूमता रहे। आखिर उसे घर के और कामों को भी देखना था। हाट में बैठे या दिन भर निरर्थक घूमने से वह उत्पादन का काम नहीं कर सकता था। फिर इस समय तक कीमती धातुओं के टुकड़ों का सिक्के के समान प्रचलन तथा प्रयोग शुरू हो गया था। अतः कुछ व्यक्ति विशेष प्रकार की

वस्तुओं को खरीद कर एक निश्चित स्थान पर बैठने लग गये और कीमती वस्तुओं तथा धातु के टुकड़ों के बदले में क्रय-विक्रय करने लगे। इस प्रकार धीरे २ व्यापारी वर्ग की उन्नत्ति हुई। व्यापारी वर्ग ने शीघ्र ही सामन्त तथा शासकों का भी आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। व्यापार की उत्पत्ति के साथ ही साथ, आवागमन के साधनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। कुछ समय बाद सड़कों का भी विकास हुआ।

हस्तकला, व्यापार-वाणिज्य एवं विनिमय के संयुक्त विकास के कारण आर्थिक प्रगति हुई। इस आर्थिक प्रगति की निम्न विशेषताएं हैं :— (१) धातु-धन के साथ साथ मुद्रा, पूंजी और सूद के व्यवसाय का आरम्भ; (२) उत्पादक व्यक्तियों के बीच बनियों का एक "बिचवई" वर्ग के रूप में आना; (३) भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व, तथा उसके रेहन-बेंची का अधिकार; (४) उत्पादन के ढंग में दासों के श्रम का अधिक प्रचार। इसके अतिरिक्त एक और विशेषता है—सारी सम्पति को हस्तान्तरित होने देने का आरम्भ, जिसके अनुसार संपत्ति का मालिक; मरने के बाद के लिये भी—अपनी संपत्ति को दूसरों के अधिकार में दे सकता है। एथेन्स में यह अधिकार सोलोन के समय (५९० ई. पू.) तक अज्ञात था। रोम में इसके पूर्व ही इसका प्रचलन हो चुका था। जर्मनी में इसका प्रारम्भ ईसाई प्रचारकों के द्वारा किया गया। भारत में यह बहुत समय पहिले से ही अमल में लाया जाता रहा है।

आत्म-निर्भर आर्थिक व्यवस्था का अन्त:—व्यापार और वाणिज्य का प्रारम्भ तो हुआ परन्तु फिर भी यन्त्रों के आविष्कारों के पहले संसार की आर्थिक व्यवस्था अपनी २ सीमा में आत्मनिर्भर थी। गांव के निवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आप करते थे। परन्तु ज्यों २ व्यापार का विकास होता गया आत्म-निर्भरता भी नष्ट होती गई। अब उत्पादन केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही नहीं किया जाने लगा बल्कि अन्य गांवों और नगरों के निवासियों के लिये भी किया जाने लगा। इसके साथ ही साथ अनेक औद्योगिक केन्द्रों और नगरों का भी विकास हुआ। इन नवीन नगरों के निवासी केवल उत्पादन का काम करने लगे। उन्हें कृषि कर्म से कोई रुचि नहीं थी। गांव वाले इनकी वस्तुओं को दुकानदारों के माध्यम से खरीद लेते और कार-

खानों के मालिक श्रमिकों से वस्तुएं बनवा लेते तथा दुकानदारों को दे देते थे। सिक्के के प्रचलन ने इस प्रकार की व्यवस्था को विकसित होने में बहुत सहयोग दिया।

मध्य-कालीन युग:—मध्य-कालीन युग में आर्थिक क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। उत्पादन का सब कार्य प्रायः उसी भांति होता रहा जिस भांति प्राचीन यूनानियों अथवा रोमनों के समय में होता था। हाँ, व्यापार वाणिज्य के क्षेत्र में वृद्धि अवश्य हुई। पूंजीवाद का प्रारम्भ हुआ और छोटे मोटे कारखानों का निर्माण भी किया गया। धर्म-युद्धों तथा भौगोलिक खोजों के कारण नवीन देशों से सम्पर्क बढ़ा और अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी बढ़े। परन्तु उत्पादन की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अब भी प्राचीन ढंग से कृषि की जाती थी। कपड़ा प्राचीन ढंग के करघों द्वारा बुना जाता था बढ़ई और लोहारों को सारा कार्य हाथ से करना पड़ता था। तिजारती वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राचीन ढंग की मन्द चाल वाली गाड़ियों द्वारा भेजी जाती थीं। लन्दन से रोम तक पत्रों के पहुँचने में उतना ही समय लगता था जितना कि कान्सटेन्टाइन के शासन काल में लगता था। कला-कौशल का प्रबन्ध समितियों (Guilds) के आधीन था। व्यापार की वस्तुयें अधिकतर हाथ से बनाई जाती थीं। जहाँ मशीनों का चलन था वहाँ मशीनों को भी हाथ से चलाया जाता था। तिजारती वस्तुओं पर कभी २ एक देश से गुजरने में पचास बार चुंगी देनी पड़ती थी। परन्तु यह सब औद्योगिक क्रान्ति ने एक जादूगर की भांति बदल दिया।

प्राचीन अर्थ व्यवस्था के प्रमुख लक्षण:—पूर्व औद्योगिक व्यवस्था का अध्ययन करने के उपरान्त, अब हम उस व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का उल्लेख करते हैं। ये निम्न थे:—

(१) इस व्यवस्था में अन्य उद्योगों की अपेक्षा कृषि पर अधिक महत्व दिया जाता था और अधिकांश मनुष्य इसी काम में लगे हुये थे। इस कारण गांवों का अर्थ व्यवस्था में नगरों से अधिक महत्व था।

(२) प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ था और गांव को किसी अन्य क्षेत्र या केन्द्र पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं थी।

गाँवों तथा नगरों के बीच यदा कदा विनिमय भी होता था। अभी यातायात के साधनों का पूर्ण विकास नही हो पाया था। अतः अधिक आदान-प्रदान संभव नही था।

(३) गाँवों में श्रम विभाजन उचित ढंग पर नही था। यही कारण था कि वहाँ के कलाकार तथा शिल्पकार उच्चकोटि की वस्तुओं का उत्पादन करने में असमर्थ थे। फिर निर्धनता के कारण ग्रामीण उद्योग-धन्धो का पूर्ण विकास भी नही हो पाया था।

(४) ग्रामीण उद्योग में पूंजी की कम आवश्यकता पड़ती थी और उत्पादन भी कम होता था। अतः इस व्यवस्था में बनियाँ या दुकानदार की उन्नति असंभव थी।

(५) इस प्रकार की व्यवस्था मे अधिक हाथों की जरुरत थी। अतः परिवार के सभी सदस्य मिल कर एक ही काम करते थे। जैसे कृषि, कपड़ा बुनना, जूते बनाना इत्यादि कार्य।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. पूर्व औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।
२. प्रारम्भिक काल मे मनुष्य की आर्थिक स्थिति का उल्लेख करते हुये सम्पत्ति की उत्पत्ति का रहस्य समझाइए।
३. विनिमय तथा व्यापार की वृद्धि ने आर्थिक प्रगति मे क्या सहयोग दिया?
४. प्राचीन अर्थ व्यवस्था के प्रमुख लक्षण बतलाइए।

प्रवृत्तियों के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए अरस्तू ने कहा भी है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।

यूनानी राजनीतिक विचारों का आधार बुद्धिवाद (Rationalism था। तार्किकों का आधार भी यही था। परन्तु दोनों में अन्तर था। एक बुद्धिवाद के आधार पर राज्य व नियम आदि संस्थाओं को प्राकृतिक और अनिवार्य सिद्ध करने की चेष्टा करता था तो दूसरा उन्हें कृत्रिम सिद्ध करके लोगों की आस्था मिटाने का प्रयत्न करता था। आधुनिक विचारधारा भी बुद्धिवादी तत्वों पर आधारित है और यूनानी राजनीतिक विचारधारा से काफी मिलती जुलती है। परन्तु उस समय की परिस्थितियों के कारण यूनानी विचारधारा में पृथक नगर राज्यों की अनिवार्यता, दास प्रथा का समर्थन, आदि रूढ़ियां प्रविष्ट हो चुकी थीं और आधुनिक विचारधारा इस प्रकार के रूढ़िगत बन्धनों से मुक्त है।

भौतिक सुखवाद और विरक्तिवाद (Epicurianism and Stoicism)

हम अभी उल्लेख कर चुके हैं कि आधुनिक राजनीतिक विचार-धारा रूढ़िगत बन्धनों से मुक्त है। यूनान में भी, अरस्तू के उपरान्त संकुचित रूढ़िवादिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सूत्रपात हुआ, जिसका नेतृत्व प्रसिद्ध दार्शनिक इपीक्यूरस ने किया और उसकी विचार धारा राजनीतिक क्षेत्र में "इपीक्यूरियनिज्म" अर्थात् भौतिक सुखवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य का उद्देश्य भौतिक सुखों की प्राप्ति है। राज्य व्यक्ति के सुख का साधन मात्र है। इससे अधिक राज्य का कोई महत्व नहीं है। भौतिक सुखवाद एक तरह से व्यक्तिवाद का ही रूप है क्योंकि 'दोनों में काफी समानता है।

विरक्तिवाद ने भी राज्य के महत्व को काफी कम करने का प्रयत्न किया। इसके अनुसार मनुष्य तभी सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है जब कि वह आत्म-निर्भर हो। मनुष्य तभी आत्म-निर्भर हो सकता है जबकि वह त्याग, मनो-विग्रह तथा भौतिक सुखों के प्रति वैराग्य धारण करने में समर्थ हो। वैराग्य धारण करने के बाद उसे सम्पूर्ण संसार परिवार के समान लगेगा। अर्थात् संसार में केवल एक ही राज्य और एक ही नागरिकता होनी चाहिये।

प्रथम बार, मानव को यह उपदेश मिला कि सभी मनुष्य एक है और उनमें प्रेम व स्नेह का सम्बन्ध होना चाहिए।

इस प्रकार अफलातून तथा अरस्तु द्वारा स्थापित संकुचित रूढ़ियों को तोड़ फेंका गया और नवीन सिद्धान्त स्थापित किये गये। परन्तु इन विचारों को पर्याप्त सफलता नही मिली। कालान्तर में यूनान पर रोम का अधिकार हो गया। और राजनीतिक चिन्तन का नेतृत्व भी रोम के लोगों के हाथ में आ गया।

रोमन राजनीतिक विचार-धारा – रोमन लोगों का झुकाव दार्शनिकता की ओर न होकर व्यवहारिक विधि-निर्माण तथा शासन की ओर था और यही कारण है कि रोम के राजनीतिक विचारों का विकास भी इन्हीं क्षेत्रों में हुआ। पालीवियस (ई० पू० २४०-१२२) सिसरों (ई० पू० १०६-४३) सेनेका (ई० पू० ४ से ६३ ई०) रोम के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक थे।

आज हमें विधान शास्त्र का जो विकसित रूप दिखलाई देता है, वह रोम की देन है। रोमन लोगों ने नियमों का सूक्ष्म अध्ययन करके इस शास्त्र का सृजन किया। सर्व प्रथम रोम के चिन्तकों ने कानूनों का वर्गीकरण किया। रोम के कानून तीन वर्गों में विभाजित थे (१) देशीय कानून–जो केवल रोम के नागरिकों पर ही लागू होते थे; (२) अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ–जो सभी सभ्य जातियों और राज्यों के कानूनों में समानरूप से निहित थे और (३) प्राकृतिक कानून–जो विवेक और बुद्धि पर आधारित थे। यहाँ पर एक बात को ध्यान में रखना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून का ही विकृत रूप है और देशीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून से ही उत्पन्न हुये है।

प्रजातन्त्र का विकास:— वैसे आदिम अवस्था में प्रजातन्त्र का स्थूल रूप विद्यमान था परन्तु नेता की उत्पत्ति ने महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिये द्वार उन्मुक्त कर दिया था जिसके फलस्वरूप राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई और प्रजातांत्रिक विचारों की समाप्ति हुई। यही कारण है कि प्राचीन सभ्यताओं में हमें राजतन्त्र की झलक ही अधिक दिखलाई देती है। परन्तु समय के साथ परिस्थितियां बदली और यूनानी लोगों ने पुनः प्रजातांत्रिक प्रणाली को स्थापित

किया। यूनानी पद्धति आधुनिक प्रजातांत्रिक प्रणाली से भिन्न थी। आधुनिक प्रजातांत्रिक प्रणाली की आधारशिला तो रोमन राजनीतिक विचार धारा के मौलिक तत्वों पर ही रखी गई। आज हम प्रशासन की शक्तियों में जो पृथकीकरण देखते हैं अर्थात् कार्यपालिका, विधान सभा तथा न्याय पालिका उनका सर्व प्रथम प्रयोग रोम ने ही किया था। रोम ने ही लिखित विधान की आवश्यकता को स्पष्ट किया था। रोम ने ही सर्व प्रथम दास तथा नागरिकों को समानाधिकार दिया था। यद्यपि रोम ने इन सिद्धान्तों के मूल तत्व भूमध्य सागरीय सभ्यताओं से ग्रहण किया था परन्तु उसने व्यवहारिक क्षेत्र में इन सिद्धान्तों की मौलिक प्रणालियों को विकसित किया। प्रजातन्त्र की प्रमुख संस्थाएँ निम्न सदन और उच्च सदन का प्रयोग सर्व-प्रथम रोम ने ही किया। बहुमत प्रणाली का सफल प्रयोग भी रोम में ही हुआ। रोम ने आधुनिक प्रजातांत्रिक प्रणाली का अन्त करके आगस्टस ने पुनः साम्राज्यवादी व्यवस्था की स्थापना की और केवल भारत के कुछ राज्यों को छोड़कर संसार के अधिकांश राज्यों में आधुनिक युग के पूर्व समय तक प्रजातांत्रिक प्रथा का अभ्युदय नहीं हो सका। रोम ने जहाँ प्रजातांत्रिक सिद्धांतों को व्यवहारिक रूप प्रदान किया था, वहां साम्राज्यवादी रोम ने साम्राज्य-शासन तथा विशाल राज्यों के शासन-प्रबन्ध का पथ-प्रदर्शन भी किया। उसने सार्वभौम सत्ता के आदर्श को भी जन्म दिया।

मध्ययुग के राजनीतिक विचार

मध्ययुग के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने के पहिले उस युग की प्रधान संस्थाओं के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि संस्थाओं के अनुसार ही राजनीतिक विचारों का विकास होता है। पांचवी शताब्दी में जर्मन बर्बर जातियों के निरन्तर आक्रमणों ने रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया और विजेता सेना पतियों ने जीती हुई भूमि को आपस में बाँट लिया ये लोग सामन्त कहलाये। प्रारम्भ में सामन्त सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे परन्तु धीरे २ वे स्वतन्त्र शासक बन बैठे और सम्राट का अधिकार नाम मात्र को रह गया। यह व्यवस्था इतिहास में सामन्तशाही या सामन्तवाद (Feudalism) के नाम से प्रसिद्ध है।

रोमन साम्राज्य का अन्त तो हो गया परन्तु उसकी स्मृति अब भी बची हुई थी। साम्राज्य के अवसान के साथ ही साथ राजनीतिक एकता भी नष्ट हो चुकी थी। कुछ लोगों ने इस एकता को पुन; स्थापित करने का प्रयत्न किया। धार्मिक नेताओं को इस प्रयत्न में सफलता मिली। ईसाई धर्म, जिसका प्रचार वर्बर जातियों में भी हो चुका था, ने इसमें अत्यधिक सहयोग दिया। सन् ८०० ई० में रोम के पोप ने फ्रैंक जाति के महान सम्राट चार्लमेन के सिर पर राजमुकुट रखकर उसे "पवित्र रोमन सम्राट" (Holy Roman Emperor) की उपाधि दी और उसका राज्य "पवित्र रोमन साम्राज्य" के नाम से प्रसिद्ध होकर, अन्य राज्यों में प्रमुख गिना जाने लगा। पवित्र रोमन साम्राज्य रोम साम्राज्य का काल्पनिक प्रतिविम्ब मात्र था, परन्तु उसे धर्म के पिता "पोप" का समर्थन प्राप्त था, अतः सैद्धांतिक रूप से वह रोम साम्राज्य का स्थानापन्न और उत्तराधिकारी माना जाने लगा।

पोप के आशीर्वाद से सब कुछ हो गया। परन्तु शायद इतिहास से अपरिचित छात्र को पोप का महत्व ज्ञात न हो सकने के कारण कुछ परेशानी हो सकती है। अतः हम इसके महत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हैं! आगस्टस युग में ईसा मसीह का जन्म हुआ और उन्होंने एक नूतन धर्म का प्रचार किया जिसका नाम ईसाई धर्म पड़ा। शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप में इस धर्म का प्रसार हुआ इस धर्म के अनुयायी स्थान स्थान में "विशप" नामक धर्माधिकारियों की अध्यक्षता में संगठित थे और यह विशप "गिरजा" (Church) अर्थात् धर्म संघ का अध्यक्ष होता था। धीरे २ रोम का विशप प्रधान माना जाने लगा और अन्त में उसे सम्पूर्ण ईसाई धर्म संघ का अध्यक्ष मान लिया गया और उसे 'पोप' अर्थात् पिता की पदवी दी गई। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो मालूम होगा कि रोमन साम्राज्य का स्थान ईसाई धर्म संघ ने और रोमन सम्राट का स्थान 'पोप' ने ग्रहण कर लिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग में तीन संस्थाएं—सामन्तशाही, गिरजा और पवित्र रोमन साम्राज्य प्रमुख थी। अंतिम दो के सम्बन्धों की समस्या को लेकर मध्यकाल के राजनीतिक विचारों का निर्माण हुआ और इन विचारों पर इन संस्थाओं की गहरी छाप भी पड़ गई।

मध्यकालीन विचारों की आधारशिला:—मध्यकालीन राजनीतिक विचारधारा की आधारशिला गिरजा और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध है। धर्म और राजनीति में किसका स्थान प्रधान है? इस प्रश्न पर दोनों में विवाद था और दोनों पक्ष के विद्वान अपने अपने हितों की दृष्टि से इसका उत्तर देते थे। इस विवाद में हमें तीन प्रमुख विचारधारायें दृष्टिगोचर होती है एक के अनुसार धर्म और राज्य के क्षेत्र पृथक है और धर्म संघ को राजनीतिक मामलों में बिल्कुल ही हस्तक्षेप न करना चाहिए यह ईसाई धर्म की प्रारम्भिक विचारधारा थी और इस समय तक ईसाई धर्म असंगठित था, निर्बल था परन्तु १०वीं शताब्दी के बाद स्थिति बदल जाती है और ईसाई धर्म का संघ संगठित हो जाता है। धन तथा संपत्ति और जायदाद का अधीश्वर हो जाता है। तब दूसरी विचारधारा उत्पन्न होती है, जो धर्म संघ को राज्य से श्रेष्ठ मानता है और राज्य को धर्म संघ के अधीन एक संस्था मानता है। टामस एक्वीनास, एजीड्यिस रोमेनस इसी विचारधारा के समर्थक थे तीसरी विचारधारा का उद्भव मध्ययुग के अंतिम समय में हुआ। इसके अनुसार राज्य सत्ता को, कुछ लौकिक और कुछ धार्मिक विषयों में, धर्म संघ से श्रेष्ठ माना गया। दान्ते इस विचारधारा का प्रमुख समर्थक था।

पांडित्यवाद (Scholasticism):-मध्यकालीन विचारधाराओं की शैली को "पांडित्यवाद" के नाम से संबोधित किया जाता है। इसके द्वारा बुद्धि और तर्क को अविश्वनीय मानकर उसके स्थान में श्रद्धा तथा विश्वास को प्रतिष्ठित किया गया है। इस शैली के अनुसार धर्म ग्रन्थों के आधार पर ही किसी बात को सत्य या असत्य घोषित किया जाता था। हिन्दू धर्म में भी यही परिपाटी थी। इस युग के विचारकों में उन्मुक्त तर्क की उड़ान या बुद्धिवाद नहीं दिखलाई पड़ता।

राज्य का दैवी सिद्धान्त (Divine Theory of State)

मध्यकाल में राज्य के दैवी सिद्धान्त का जन्म और विकास हुआ। इस मत के अनुसार राज्य का जन्म एक ईश्वरीय कार्य है। राज्य ईश्वर की देन है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। प्रजा राजा के प्रति विद्रोह नहीं कर सकती और राजा कभी प्रजा के सामने दोषी नहीं ठहराया जा सकता था

और राजाज्ञा उल्लंघन पाप माना जाता था। इसका कारण यह था कि राजा केवल ईश्वर के प्रति ही जिम्मेदार होता था। इस मत से यूरोप के निर्बल राजाओ ने वहुत लाभ उठाया और शक्ति और योग्यता के अभाव में भी राज्य करने में समर्थ हुये। इस विचारधारा के निर्माण मे धर्म ने वहुत सहयोग दिया। स्काटलैण्ड तथा इंगलैण्ड का शासक जेम्स प्रथम इस सिद्धान्त का प्रधान समर्थक माना जाता है। सर रावर्ट फिल्मर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "पैट्रि आर्का" में इस विचारधारा का जोरदार समर्थन किया है। सोलहवी शताब्दी के अन्त तक राज्य के ईश्वरीय सिद्धान्त की ही सर्वत्र प्रधानता रही। उसकी विस्तार की वातों के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद था, पर उसकी मौलिक सत्यता को कोई अस्वीकार नही करता था।

वर्तमान काल का प्रारम्भ

मैकियावेलो (Machiavelli):- कुछ विद्वानों का कथन है कि पन्द्रहवी शताब्दी के अंतिम समय में मैकियावेली के आगमन के साथ साथ आधुनिक राजनीतिक विचारों का प्रारम्भ हो गया। इसके वाद ही फ्रांसीसी विचारक जीन वोदों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने राज्य-संप्रभुत्व (State-Sovereignty) के सिद्धान्त की व्याख्या की। परन्तु मैकियावेलो और वोदों अपनी २ शताब्दी के अपने ढंग के अकेले विचारक है, उस समय की सामान्य प्रवृत्ति के परिचायक नही, इसलिये उनके विचारों को न तो पूर्णतया आधुनिक ही कहा जा सकता है और न इनके युग का यथार्थ प्रतिनिधि ही माना जा सकता है।

परन्तु फिर भी मैकियावेली आधुनिक विचारकों का सा दृष्टिकोण रखने वाला था। उसने राजनीति पर से धर्म और नीति की छाप एकदम मिटाकर उसे एक सर्वथा स्वतन्त्र शास्त्र का रूप देने की चेष्टा की। उसका मुख्य उद्देश्य राज्य को सवल और दृढ बनाने के उपायों की खोज करना था। उसने कहा कि शासक का प्रधान कर्त्तव्य जैसे भी वने अपने राज्य को विस्तृत और सशक्त बनाना है, भले ही इसके लिये झूठ, दगावाजी, धोखा, हत्या आदि का सहारा लेना पड़े। क्योंकि धर्म तो राज्य का एक अनुचर मात्र है।

मैकियावेली ने राजनीति की कोई सांगोपांग दार्शनिक विवेचना नहीं की। उसकी आधुनिकता केवल इस बात में थी कि वह मध्यकाल की धार्मिक परम्परा से पृथक था। और उसने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक पद्धति से विश्लेषण किया। राजनीति की आधुनिक विचारधारा का इतिहास तो १७वीं शताब्दी में टामस हाब्स से होता है। अब हम आधुनिक विचारों का अध्ययन करेंगे।

आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ

अनुबन्धवाद (Contract Theory) आधुनिक युग की राजनीतिक विचारधारा का सूत्रपात अनुबन्धवाद से होता है। यह विचारधारा प्राकृतिक नियमों के आधार पर विकसित हुई और इसके मूल में दो बातें दिखलाई देती हैं। प्रथम तो यह कि एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था थी जब कि न तो समाज था और न राज्य और मनुष्य पशुओं की भांति एकाकी और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था और दूसरी बात है पारस्परिक समझौते की, जिसके द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त होकर राज्य और समाज की स्थापना हुई। इस विचारधारा के अनुसार राज्य ईश्वर कृत नहीं है। इस विचारधारा का प्रतिपादन हॉब्स, लॉक और रूसो जैसे विचारकों ने १७वीं और १८वीं शताब्दी में किया। समझौता किस प्रकार का हुआ और किस प्रकार का राज्य बना इस विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। हॉब्स निरंकुश राजतंत्र का, लॉक वैधानिक राजतंत्र का, और रूसो प्रजातांत्रिक व्यवस्था की स्थापना की कल्पना करता है। परन्तु यह विचारधारा न तो ऐतिहासिक दृष्टि से संतोषजनक पाई गई है और न दार्शनिक दृष्टि से ही।

उपयोगितावाद (Utilitarianism) इस विचारधारा का जन्मदाता अंग्रेज विचारक ह्यूम समझा जाता है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के वर्षों से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उपयोगिता का फ्रांस और इंगलैण्ड में बड़ा प्रचार रहा। जरमी बैंथम इस विचारधारा का सबसे अधिक प्रचारक था। जान स्टुअर्ट मिल तथा ऑस्टिन ने भी इसका प्रचार किया। इसके अनुसार राज्य की मान्यता उसकी उपयोगिता के कारण है। पर लोगों की

राज्य की आधीनता में रहने का अभ्यास भी हो गया है। इस प्रकार उपयोगिता और अभ्यास–इन्हीं दो स्तम्भों पर राज्य का ढांचा खड़ा है। सभी संस्थाओं की अच्छाई और बुराई को कसौटी उपयोगिता ही है। उपयोगितावाद एक तरह से प्राचीन भौतिक सुखवाद का ही संशोधित रूप था।

आदर्शवाद (idealism):—रूसो की विचारधारा अनुबन्धवाद से सम्बन्धित की जाती है और उसकी पुस्तक का नाम भी "सामाजिक अनुबन्ध" है परन्तु वास्तव में उसकी आत्मा आदर्शवादी है। राज्य का सुदृढ आधार वर्तमान समय में सबसे पहिले रूसो ने प्रस्तुत किया। रूसो के मतानुसार राज्य की एकता "सामान्य इच्छा" (General will) पर आधारित है। इसी सामान्य इच्छा को लेकर काण्ट, फिक्टे, हेगेल आदि जर्मन विचारकों ने एक जटिल परन्तु नूतन राजनीतिक विचारधारा को जन्म दिया जो आदर्शवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस विचारधारा के अनुसार राज्य "सामान्य इच्छा" का ही मूर्त स्वरूप है। सभी मनुष्य उसमें उलझे हुये और पृथक हो ही नहीं सकते। इसी की सहायता से वे अपना जीवन सुखी तथा उन्नत बना सकते हैं। राज्य से पृथक मानव का जीवन पशुवत है।

अफलातून और अरस्तू आदर्शवादी विचारधारा के प्रथम विचारक माने जाते हैं परन्तु इसका विशेष प्रचार काण्ट, हेगेल के द्वारा ही हुआ। इंगलैन्ड में ग्रीन, बोसांके, वेडले आदि ने इस विचारधारा का प्रदिपादन किया। यद्यपि उपरोक्त सभी विचारकों को व्याख्या में कुछ न कुछ अन्तर है परन्तु वे सब एक बात पर सहमत है कि राज्य मानव जाति की आत्मा, बुद्धि अथवा इच्छा से उत्पन्न हुआ हे।

क्रांतियों का प्रभाव:–आधुनिक युग में दो महत्वपूर्ण क्रांतियों-औद्योगिक क्रांति तथा फ्रेंच क्रांति का जन्म हुआ और इन दोनों ने वर्तमान कालीन विचारधारा को काफी प्रभावित किया। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन बढा, बड़े २ कल-कारखानों, विशाल नगरों, पूंजीवाद तथा सम्पत्ति विहीन मजदूर वर्ग आदि का जन्म हुआ। फ्रांस की क्रांति ने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व को जन्म दिया। स्वतन्त्रता और समानता के विचारों से जनतन्त्र और व्यक्तिवाद को स्फूर्ति मिली और बन्धुत्व के कारण राष्ट्रीयता की भावना का

विकास हुआ। इन क्रांतियों ने व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, जनतन्त्रवाद, राष्ट्रीयता-वाद को जन्म दिया जिनसे समाजवाद और साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई।

समाजवाद:—प्राचीन युग में तथा मध्ययुग में भी साम्यवाद की चर्चा की गई थी परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स और उनके अनुयाइयों ने इसे एक नया रूप दिया। दार्शनिक दृष्टिकोण से कार्ल मार्क्स की विचारधारा हीगल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद के विपरीत प्रतिक्रिया है। दोनों विचारक यह मानते थे कि वास्तविकता (Reality) एक द्वन्द्वात्मक क्रिया (Dialectical process) द्वारा प्रकट होती है। परन्तु हीगल का यह कथन था कि यह क्रिया तार्किक है जबकि मार्क्स इसे भौतिक बतलाता था। इसी कारण मार्क्स के पक्ष को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Materialism) कहा जाता है। आर्थिक दृष्टि से समाजवाद, पूंजीवाद सिद्धान्तों का विलोम था। इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, पूंजीवाद का अवश्यम्भावी पतन आदि इनके मूल सिद्धान्त थे। सामयिक परिस्थितियों और समस्याओं से सम्बन्धित होने के कारण इनका बड़ा प्रभाव पड़ा, विशेषकर मध्य और श्रमजीवी वर्गों पर। वर्तमान युग में समाजवाद को आधार शिला पर स्थित साम्यवाद एक प्रबल शक्ति के रूप में विकसित हो रहा है।

साम्यवादी राजनीतिक विचारधारा:—साम्यवादियों के मत में राज्य एक वर्ग का दूसरे वर्ग को बलपूर्वक दबाये रखने के लिए बनाया हुआ संगठन है। राज्य का आधार संगठित बल है। वह वर्ग संस्था है। राज्य प्रबल वर्ग के हाथ में निर्बल वर्ग के शोषण और उत्पीड़न का यंत्र मात्र है। साम्यवादी राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं मानते। वास्तव में सरकार ही असल वस्तु है और राज्य केवल एक दार्शनिक कल्पना मात्र। जब तक समाज में वर्ग-भेद बना रहेगा तब तक राज्य का अस्तित्व भी बना रहेगा। वर्ग-भेद की समाप्ति पर राज्य और सरकार भी समाप्त हो जायगी! साम्यवादी व्यवस्था वर्ग विहीन होगी, अतएव राज्य और सरकार की आवश्यकता ही न रहेगी। यह मत मार्क्स और इंगेल्स का था। परन्तु रूस के साम्यवादी विचारक इसमें विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि मार्क्स का यह अभिप्राय नहीं था कि राज्य का ही लोप हो जायेगा। उनका अभिप्राय यह था कि राज्य के वर्गीय रूप का लोप

होगा अर्थात् राज्य वर्ग संगठन (Class Organisation) न रह कर सम्पूर्ण जनता की संस्था बन जायेगा। लेनिन ने लिखा था कि "हम लोग कल्पनावादी (unotians) नहीं है। हम जानते हैं कि समाज में अपराधी व दुष्ट प्रकृति के लोग सदा वर्तमान रहेंगे और उनके नियंत्रण के लिए राज्य की सदा आवश्यकता बनी रहेगी। "अतएव आधुनिक रूस के साम्यवादी राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता को मानते हैं। यहां पर यह बतलाना भी उचित होगा कि मार्क्स के पूर्व के साम्यवाद को "काल्पनिक साम्यवाद" (utopian Socialism) कहा जाता है। सेंट साइमन, फोरियर, पूदां आदि विचारक इसी धारा के समर्थक थे।

फासिस्टवाद तथा नात्सीवाद:—समाजवाद शोषित वर्गों का समर्थक और पूंजीवाद का विरोधी था। बीसवीं शताब्दी में समाजवाद के प्रत्युत्तर में इटली में फासिस्टवाद तथा जर्मनी में नात्सीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस विचार-धारा में उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, सैनिकवाद, जातिवाद (racialism) तथा युद्धवाद की प्रवृत्तियों की प्रधानता थी तथा यह समाजवाद, वर्ग-संघर्ष, प्रजातन्त्र आदि का घोर विरोधी था। यद्यपि यह विचारधारा समाज के सम्मिलित हित और वर्ग-समन्वय (class-collaboration) की पोषक है परन्तु चूंकि इसका झुकाव सम्पन्न वर्गों की तरफ था, अतः साम्यवादी विचारक इसे पूंजीवाद का समर्थक मानते हैं।

गांधीवाद:—आधुनिक राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी की विचारधारा का एक प्रमुख स्थान है। महात्मा गांधी के राजनीतिक विचारों में समस्त संसार की जनता की उन्नति तथा कल्याण की भावना निहित है। गांधीवादी विचारधारा में साम्यवाद की सी दलित वर्गों के प्रति सहानुभूति और फासिस्टवाद तथा नात्सीवाद की तरह वर्ग-समन्वय का समर्थन पाया जाता है परन्तु अपने उद्देश्य की प्राप्ति की प्रक्रिया में महान् अन्तर है। जहाँ अन्य विचारधाराएँ उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हिंसा, युद्ध और क्रांति में आस्था रखती हैं, वहां गांधीवाद पूर्ण अहिंसावादी है और शांति पूर्ण तरीकों में, पारस्परिक समझौते में विश्वास रखता है। एक और भी विशेषता है गांधीवाद की। गांधीवाद औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न उत्पादन प्रणाली को अधिक अच्छा नहीं समझता

और घरेलू उद्योग धन्धों पर अधिक बल देता है। क्योंकि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप ही विश्व में तनाव पूर्ण स्थिति बनी हुई है।

वर्तमान राजनीतिक विचारों के प्रमुख लक्षणः—(१) आधुनिक राजनीतिक विचारधारा बुद्धिवाद का सहारा लेकर आगे बढ़ी है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आधुनिक विचारधारा मनुष्य द्वारा निर्मित सभी सिद्धान्तों या कार्यों को बुद्धि प्रधान मानती है। रूसो के विचार, समाजवादी विचार-धारायें आदि भाव-प्रधान भी है। इसका यह अभिप्राय है कि वह तर्क का आश्रय लेकर चलती है और युक्तियों से जो कुछ भी सिद्ध हो जाय उसे मान्यता भी देती है।

(२) दूसरी विशेषता यह है कि आधुनिक विचारधारा राष्ट्र मूलक है, नगर राज्य तक ही सीमित नहीं है। सम्पूर्ण राष्ट्र इस विचारधारा की इकाई है। यही कारण है कि आज की राजनीतिक विचारधारा पर देश व्यापी समस्याओं की गहरी छाप है।

(३) आधुनिक विचार केवल कुछ व्यक्तियों से ही प्रभावित न होकर सम्पूर्ण जनता से प्रभावित है। प्रत्येक राजनीतिक विचारधारा में जन समूह के हितों को प्राथमिकता दी गई है। कुछ चुने हुये या विशिष्ट लोगों का हित लेकर चलने का साहस आज कल की कोई विचारधारा नहीं कर सकती।

(४) आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं का दृष्टिकोण संकुचित अथवा एकांगी नहीं है, बल्कि सर्वांगीण और व्यापक है। आज के विचारक अपने मत की पुष्टि के लिये समस्त उपलब्ध सामग्री का प्रयोग करते हैं, केवल एक पक्ष की सहायता ही पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य विचारधाराओं का भी विश्लेषण किया जाता है।

(५) आधुनिक विचारकों का मत है कि अटल और शाश्वत राजनीतिक सत्य का अन्वेषण नहीं किया जा सकता। राजनीतिक विचार और सिद्धान्त परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहना चाहिये।

अभ्यास के लिये प्रश्न

प्रमुख राजनीतिक विचारों की संक्षेप में व्याख्या कीजिये।

२. प्राचीन राजनीतिक विचार क्षेत्र मे अफलातून और अरस्तू का क्या स्थान है ?

३. "रोमन राजनीतिक विचारो ने आधुनिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था को जन्म दिया।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं।

४. "मध्यकालीन राजनीतिक विचार गिरजा और सम्राट् के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर विकसित हुये।" व्याख्या कीजिये।

५. मैकियावेली के राजनीतिक विचारो का उल्लेख कीजिये।

६. आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओ की व्याख्या करते हुये समाजवाद का स्थान निर्धारित कीजिये।

पाँचवा अध्याय

सिन्धु घाटी की सभ्यता

भारतीय संस्कृतिः—अपनी अद्भुत विशेषताओं के कारण प्राचीन युग में भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया और गुप्त काल में वह अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई। परन्तु इसके बाद संकीर्णता, अनुदारता, अन्धविश्वास, संकुचित मनोवृत्ति तथा मोहनिद्रा के कारण वह पतनोन्मुख हो गई। अब स्वतन्त्र भारत के अनुकूल वातावरण में उसके उत्थान का पुनः प्रयास किया जा रहा है।

"भारतीय संस्कृति के बारे में देश के विचारकों की प्रायः परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियां दिखाई देती है। इस विषय में प्रथम दृष्टि उन लोगों की है जो परम्परागत अपने अपने धर्म या सम्प्रदाय को ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। यह अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि है। दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मानकर कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही संबद्ध मानते हैं। तीसरी दृष्टि के विचारक भारतीय संस्कृति को देश के किसी एक विशिष्ट या अनेक सम्प्रदायों से परिमित या बद्ध न मानकर, समस्त संप्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, राष्ट्र में एकात्मता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते हैं।"

—डा० मंगलदेव शास्त्री।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का महत्व उसकी विशेषताओं में, उसके मौलिक आधारों में, निहित है। प्रथम मौलिक आधार है—समन्वयात्मक रूप। अर्थात् निगम (वेद—आगम (प्राग्वैदिक) धर्मों का समन्वित रूप। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, सिन्धु की सभ्यता तथा द्रविड़ों की सभ्यता तक पहुँचता है। वैदिक तथा पूर्व वैदिक तत्वों का समन्वय बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। इन दोनों तत्वों के

समन्वय से एक नवीन संस्कृति का उद्भव हुआ जिसे हम पौराणिक हिन्दू संस्कृति कह सकते है ।

हमारी संस्कृति का दूसरा मौलिक आधार है-अन्य प्रवृतियों को आत्मसात करने की शक्ति । समाजगत विषमताओं को लेकर जैन, बौद्ध, वैष्णव और संत आदि आन्दोलनों की उत्पत्ति हुई । परन्तु भारतीय संस्कृति इन नवीन आन्दोलनों से प्रभावित होती हुई और क्रमशः उन धाराओं को आत्मसात् करती हुई, नवीनतर गंभीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढ़ती रही । इतना ही नही बल्कि इस्लाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को भी हम भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह से बिल्कुल अलग नहीं समझते । हम सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचाते हुए, भारतीयों की सुप्त भारतीयता को जगा सकने में समर्थ हुए है। संक्षेप में हम इतना ही कह सकते है कि "अपने अन्तरात्मा की संदेश-रूप मानवकल्याण की सच्ची भावना से आगे बढती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नहीं, किन्तु संसार भर के लिये उन्नति और शांति के मार्ग को दिखलाने में सहायक हो सकती है ।"

सिन्धुघाटो की सभ्यता

भूमिकाः ई० सन् १९२१ तक भारतीय सभ्यता के इतिहास का ज्ञान आर्यो के आगमन तक ही सीमित था। परन्तु सिन्धु उपत्यका की खुदाई से प्राप्त अवशेषों ने भारत की सभ्यता को और अधिक प्राचीन प्रमाणित कर दिया है। यहाँ तक कि विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएँ मिश्र, सुमेर, आदि उसके सन्मुख शिशु समान प्रतीत होती है। इसका प्रारम्भिक काल तो अज्ञात है परन्तु उन्नतकाल ४५००-३५०० ई० पू० के मध्य माना जाता है। सिन्धु सभ्यता को खोजने का श्रेय भारत के दो प्रमुख विद्वानों-श्री राखालदास बनर्जी तथा श्री दयाराम साहनी को है। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ों नामक स्थान पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुए है। अभी हाल ही में अहमदाबाद के पास "लोटोल" नामक स्थान पर भी इस सभ्यता से मिलतें-जुलते अवशेष मिले हैं, जिनका सूक्ष्म अध्ययन करना बाकी है। हड़प्पा पंजाब में

लाहौर से १०० मील दूर रावी नदी के तट पर तथा मोहनजोदड़ो सिन्ध में कराची से २०० मील सिंधु नदी के तट पर स्थित है। प्राचीन सभ्यता के दोनों केन्द्र अब पाकिस्तान की सीमा में है।

नगर और भवनः—सिन्धु सभ्यता के नगरों का निर्माण पूर्व निश्चित योजनानुसार किया गया था। नगर की सड़कें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में बनी हुई हैं। प्रधान सड़कों की चौड़ाई ३३' हैं। सड़कों और गलियों के दोनों तरफ मकानों का निर्माण किया गया था। ये मकान भी एक निश्चित क्रम से बने हुए हैं। सिन्धु सभ्यता की सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु है—गन्दे पानी को नगर से बाहर निकालने की व्यवस्था अर्थात् नाली प्रथा। प्रत्येक मकान में, नालियां लगी हुई थीं, जिनका सम्बन्ध गलियों की नालियों से था और गलियों की नालियों का दूषित जल सड़कों की नालियों की सहायता से नगर से बाहर पहुंच जाता था। यह व्यवस्था सिन्धु सभ्यता की स्वच्छता पर प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था का प्रयोग अन्य किसी सभ्यता में नहीं किया गया था। इन नगरों में पानी के लिये कूए विद्यमान थे। मकानों का निर्माण पक्की ईंटों द्वारा किया जाता था। ईंटें कई प्रकार की मिली हैं। कुछ लम्बी और कुछ छोटी साइज की। ईंटों की चुनाई के लिए मिट्टी का गारा प्रयोग में लाया जाता था। मकान प्रायः दो मंजिले होते थे। मकानों की छतें लकड़ी की होती थी और उस पर चूने तथा मिट्टी का पक्का फर्श होता था।

विशाल-स्नानागारः—मोहनजोदड़ों की सबसे अधिक आकर्षक और भव्य इमारत है—एक विशाल जलाशय या स्नानागार, जिसका आकार है—३६।'×२३।।''×८'। यह जलाशय पक्की ईंटों का बना हुआ है। इसमें नीचे जाने के लिए तीन तरफ से सीढ़ियां बनी हुई है। जलाशय के चारों तरफ १५' चौड़ा बरामदा है और एक तरफ आठ कमरे बने हुए थे, जो शायद वस्त्र बदलने या अन्य काम में लाये जाते थे। एक तरफ एक विशाल कमरा भी मिला है, जहां शायद गर्म पानी की व्यवस्था थी, हम निश्चित रुप से नहीं कह सकते कि यह जलाशय सार्वजनिक था या विशेष धार्मिक उत्सवों के कार्य के लिए था अथवा किसी धनिक का जल विहार क्रीड़ाक्षेत्र था।

धार्मिक विचारधारा:—इन नगरों की खुदाई में किसी पूजा स्थान या मन्दिर के अवशेप हमें प्राप्त नहीं हुए है। केवल उपलब्ध अवशेषो के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है क्योकि जो मूर्तियां मिली है वे भी खंडित अवस्था में मिली है। इस प्रकार के अवशेप निम्न हैं:- (१) पत्थर की मूर्ति जिसकी लम्बाई सात इन्च है और जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। मूर्ति को चोंगा पहनाया गया है, भाल पर तीन हिस्से वाली पुष्पाकृति बनी है और मूंछे मुंडी हुई है परन्तु दाढी विद्यमान है। यह मूर्ति किसी देवता की प्रतिमा हो सकती है परन्तु किस धर्म की है सो नहीं कहा जा सकता क्योकि इसमें सुमेरियन असीरियन तथा वैदिक धर्मो की विशेपताओं का समन्वय है। २) देवी मूर्तियां- मिट्टी की बनी स्त्री-मूर्तियां बहुत बड़ी संख्या में मिली है। कुछ मूर्तियों का अग्रभाग धूम्र कालिमा से आच्छादित है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि आधुनिक हिन्दू धर्म की भांति उस समय भी दीप पूजा या धूप-पूजा को प्रथा प्रचलित रही होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में मातृ-देवता की उपासना की जाती रही होगी। (३) पाशुपति शिव की मुद्रा (Seal —उस युग के धार्मिक विश्वास का ज्ञान उन मुद्राओं से भी ज्ञात होता है जो कि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई है। इनमें एक मुद्रा का विशेप महत्व है। इस पर अंकित प्रतिमा के सिर पर सींग, त्रिमुख, चारों तरफ जंगलीं जानवर (सर्प नहीं हैं) तथा ध्यान-मग्न पद्मासन मुद्रा का अंकन किया गया है। इतिहासकारों का मत है कि यह मूर्ति पाशुपति शिव भगवान की है। (४) प्रजनन शक्ति— लिग और योनि के स्वरूप समान अनेक प्रस्तर अवशेष प्राप्त हुये जिनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रजनन शक्ति के अंगों की उपासना को जाती थी। (५) इसके अतिरिक्त अनेक मुद्राओं से पता चलता है कि वृक्षों तथा जानवरों की भी पूजा की जाती थी। उस युग में जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र का भी प्रचार रहा होगा।

यद्यपि हम सिन्धु सभ्यता के धर्म को ठीक तरह से पहचानने में असमर्थ है परन्तु इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनके धार्मिक विश्वास निश्चित हो चुके थे और वे बहुदेवतावाद, मातृशक्ति को उपासना, दीपक उपासना, प्राकृतिक शक्तियों की उपासना, पाशुपति शिव को उपासना, अन्धविश्वास, जादू-टोना पुष्पाजंलि, तुलसी पूजा आदि में विश्वास रखते थे। आधुनिक हिन्दु-

त्व में सिन्धु निवासियों के धार्मिक विश्वासों का अस्तित्व पाया जाता है। इस कारण बहुत से विद्वान् तो यह मानते है कि हमारा हिन्दू धर्म एवं सभ्यता सिन्धु सभ्यता की ऋणि है, उससे प्रभावित है।

आर्थिक–कृषि व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धेः—सिन्धु सभ्यता नागरीय सभ्यता थी और विशाल नगरों की सत्ता उस युग की समृद्धि की प्रतीक है। सिन्धु निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। गेहूँ और जौ की फसलें अधिक होती थीं। इसका प्रमाण भी मिला है। इसके अतिरिक्त पशुपालन का व्यवसाय भी प्रचलित था और मांस, मछली, अण्डे, दूध, दही, घी, फलों आदि का प्रयोग भी किया जाता था उस समय में कपास की खेती भी की जाती थी और कपास से सूत तैयार किया जाता था और सूत से कपड़ा बुना जाता था। एक कलश के चारों तरफ लिपटा हुआ सूती कपड़ा मिला है। इसके अतिरिक्त सूत कातने की 'तरियाँ' भी प्राप्त हुई हैं। शायद सिन्धु लोग कपड़े का व्यापार दूर दूर तक करते थे। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े को 'सिन्धु' कहा जाता था।

सिन्धु निवासी मिट्टी के बर्तन तथा मूर्तियाँ बनाने में बहुत निपुण थे। कुम्हार के चाक, जिस पर इन बर्तनों को बनाया जाता था, भी प्राप्त हुए हैं। इन बर्तनों पर विविध प्रकार के चित्रों एवं आकृतियों को अङ्कित किया जाता था। फिर उन्हें भट्टी में पकाया जाता था और चमकाने के लिये विशेष प्रकार का लेप किया जाता था। कटोरे-कटोरियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ आदि के अवशेष भी मिले हैं। हाथी दांत की कला भी उन्नत थी। हाथी दांत का एक फूल दान मिला है जो अति सुन्दर है और इस पर अनेक रेखाचित्र अंकित हैं। मूर्ति कला में सिन्धु कलाकार बहुत बढ़े चढ़े थे। एक कांस्य निर्मित नर्तकी की नृत्य मुद्रा में मूर्ति मिली है जो अति सुन्दर है। भावों का चित्रण बहुत सफलता पूर्वक किया जाता था। पशु-प्रतिमाओं का चित्रण भी उच्चकोटि का था।

उस युग में आभूषणों का बहुत प्रचलन था। लगभग ५१० प्रकार के आभूषण मिले हैं। इन आभूषणों में स्वर्ण निर्मित बाजूबन्द से लेकर छोटे २ मनके तक सम्मिलित है। इन आभूषणों में बहुमूल्य पत्थरों—लाल, मानक, पन्ना, मूंगा, मोती आदि का भी प्रयोग किया गया है। सिन्धु निवासियों को

अनेक धातुओं का ज्ञान था : परन्तु उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था। तोल और माप के बहुत से अवशेष भी मिले हैं।

लिपि और लेखन कला:–उस युग के निवासियों को लेखन कला का ज्ञान था। परन्तु उनकी लिपि का अभी तक सफल अध्ययन नहीं किया जा सका है। ये लेख चित्रलिपि में है, जिसका प्रत्येक चिन्ह किसी विशेष शब्द या वस्तु को प्रकट करता है। इस प्रकार के कुल चिन्हों की संख्यां ३९६ हैं। सिन्धु लिपि की प्रथम पंक्ति दाहिनी ओर मे बांई ओर, और दूसरी पंक्ति बांई ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी।

मृतक संस्कार:—मृतकों का अग्नि संस्कार किया जाता था। मिट्टी के बहुत से घड़ों में भस्म मिली है। शायद भस्म को जल प्रवाहित किया जाता था। मृतकों को भूमि में दफनाने के चिन्ह भी मिले हैं। लाश के साथ खाने-पीने की वस्तुएं रखी जाती थी।

निर्माता—इस महान् सभ्यता के निर्माता लोग कौन थे ? इस प्रश्न का उत्तर सुगमता पूर्वक नहीं दिया जा सकता क्योंकि न तो इस सभ्यता की लिपि ही पढ़ी जा सकी है और न ही अस्थि कंकालों का अध्ययन हो सका है। केवल इतना कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी विभिन्न जातियों के वंशज थे। किसी एक जाति के द्वारा इस महान् सभ्यता का निर्माण नहीं हुआ था।

सिन्धु एवं वैदिक सभ्यता: – सिन्धु सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता में बहुत कुछ अन्तर है और थोड़ा बहुत साम्य भी है। सिन्धु सभ्यता नागरीय तथा व्यापार प्रधान थी, वैदिक सभ्यता ग्रामीण और कृषि प्रधान थी। सिन्धु निवासी पक्के मकानों में निवास करते थे और वैदिक लोग बांसों से निर्मित पर्णकुटीर में। धातु के प्रयोग में भी अन्तर था। सिन्धु वालों को लोहे का ज्ञान नहीं था परन्तु वैदिककाल में इस धातु का प्रयोग किया जाता था। अर्थात् सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता से प्राचीन थी। गाय की महत्ता में भी अन्तर था। सिन्धु लोग बैल को तथा वैदिक लोग गाय को महत्व देते थे। सिन्धु लोग मांसहारी थे परन्तु आर्यो को मांसाहार से घृणा थी। सिन्धु लोग मूर्ति पूजक

थे, आर्य लोग मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, लिंग-योनि उपासना के विरोधी थे। दोनों की लिपि में भी अन्तर था। परन्तु दोनों योग तथा ध्यान में विश्वास रखते थे। प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करते थे। यज्ञ-अनुष्ठान, जलपूजा, सूर्य पूजा, तुलसी तथा पुष्प की पवित्रता आदि में दोनों का विश्वास था।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. सिन्धु सभ्यता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
२. सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता में क्या समानता या असमानताएं पाई जाती हैं ? संक्षिप्त में समझाइए।
३. आधुनिक हिन्दुत्व में सिन्धु सभ्यता के कौन २ से लक्षण पाये जाते हैं ?

षष्ट अध्याय

आर्यों का आगमन

वैदिक युग-वैदिक तथा पूर्ववैदिक तत्वों का समन्वय-जाति तथा सामाजिक संस्थाएं—

आगमन—आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में द्राविड़ जाति का निवास था। २००० ई० पू० के लगभग उत्तर-पश्चिम की राह से एक नवीन जाति ने भारत में प्रवेश किया। इस जाति के लोग लम्बे डील-डौल के, हृष्ट-पुष्ट, गौर-वर्ण के, लम्बी नासिका वाले वीर तथा साहसी थे। उन्होंने द्राविड़ जाति को पराजित करके उत्तर से दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। ये नवागुन्तक 'आर्य' कहलाये। आर्य शब्द का अर्थ है—उच्च वंश का। आर्यों का प्रारम्भिक काल "वैदिक-युग" तथा प्रारम्भिक सभ्यता "वैदिक सभ्यता" कहलाती है।

मूल निवासस्थान—आर्य लोग कौन थे और कहां से भारत में आये? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है! उनका मूल निवास स्थान आज भी एक समस्या बनी हुई है, जिसका समुचित समाधान नहीं हो पाया है। विद्वानों ने भाषा-विज्ञान, पुरातत्व निरीक्षण, जातीय विशेषताओं एवं शब्दार्थ भाषा विज्ञान के आधार पर आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में अपने अपने मत स्थापित किये हैं, जिनमें यूरोपीय सिद्धान्त, मध्य एशिया का सिद्धान्त, आर्कटिक प्रदेश का सिद्धान्त तथा भारतीय सिद्धान्त प्रमुख है।

विद्वानों की धारणा है कि इंगलैन्ड, जर्मनी, ईरान, भारत आदि में बसने वाले आर्यों के पूर्वज एक समय में एक निश्चित स्थान पर रहे होंगे और फिर कुछ विशेष कारणों से अलग अलग दिशाओं एवं देशों में बस गये। इस प्रकार की धारणा का आधार विभिन्न भाषाओं के विविध शब्दों की समानता है जैसे—

संस्कृत	पारसिक	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी
पितृ	पितर	पेटर	पेटर	फादर
मातृ	मतर	मेटर	मेटर	मदर

शब्दों की समानता पर आधारित मान्यता आर्यों का मूल निवासस्थान यूरोप को बतलाती है। परन्तु यूरोप के किस भाग में आर्यों का प्रसार हुआ इस पर सन्देह नहीं हो सका है। डा० पी० गाइल्स हंगरी के मैदान को, पैन्का जर्मन प्रदेशों को, नेहरिंग तथा हेकानी दक्षिणी रूस को, आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं।

जर्मन दार्शनिक मैक्समूलर ने मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान माना है। उनका कथन है कि आर्यों के बारे में हमें जो ज्ञान मिलता है उसका आधार—ईरानी भाषा का अवेस्ता ग्रन्थ तथा संस्कृत भाषा के वेद हैं और इन दोनों ग्रन्थों में काफी समानता भी है। अतः मध्य एशिया उपयुक्त स्थान है और वहीं से आर्यों का प्रसार हुआ है। भारत के लोकमान्य बालगंगाधर के मत से आर्यों का मूल निवास स्थान उत्तरी ध्रुव था। इधर कुछ भारतीय विद्वान जिनमें अविनाश चन्द्रदास, गंगानाथ झा आदि प्रमुख हैं, भारत को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं।

वैदिकयुग—वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान, आर्यों के धार्मिक ग्रन्थों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों से मिलता है। ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और ऋग्वेद तथा अन्य ग्रन्थों में सैकड़ों वर्षों का अन्तर है। अतः वैदिक युग को दो भागों में विभाजित किया जाता है— (१) ऋग्वैदिक सभ्यता का युग, तथा (२) उत्तरवैदिक सभ्यता का युग। परन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम दोनों कालों की सभ्यता का उल्लेख साथ साथ करेंगे।

राजनीतिक—आर्यों का राजनीतिक विकास पांच संगठनों— परिवार, ग्राम, विश, जन तथा राष्ट्र के द्वारा हुआ। परिवार राजनीतिक संगठन की सबसे छोटी इकाई थी। राष्ट्र का मुखिया राजा कहा जाता था। प्रारम्भिक काल

में राजतंत्रात्मक, कुलीन तंत्रात्मक तथा प्रजा तांत्रिक पद्धतियों का उल्लेख मिलता है परन्तु उत्तरवैदिक काल में वंशानुगत राजतंत्र की प्रथा दृढ हो जाती है। कहीं २ पर प्रजातांत्रिक राज्यों का भी उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में राज्य छोटे २ थे परन्तु राजाओं के अधिकार वढे चढे थे। ऋग्वैदिक काल में पांच राज्यों पुरू, तुर्वस, यदु, अनुस तथा द्रुहु का उल्लेख मिलता है। उत्तरवैदिक काल में राज्यों का विकास होता है और हमें विशाल राज्यों की सत्ता का परिचय प्राप्त होता है, जैसे–पांचाल, कोसल, काशी, विदेह, मगध आदि। उस युग में राजा के क्या कर्तव्य थे ? इसका संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। परन्तु कहीं २ पर यह कहा गया है कि राजा को दयालुता की दृष्टि से 'मित्र' के समान, गुणों में वरुण के समान तथा पराक्रम में इन्द्र के समान होना चाहिए। उसे प्रजा की रक्षा, शत्रु से युद्ध, शांतिकाल में यज्ञों का अनुष्ठान, अपराधियों को दंड, आदि काम करने चाहिए। उत्तरवैदिक काल में उत्तरदायित्व के स्थान पर राजाओं में व्यक्तिगत भोग-विलास की अभिवृद्धि हुई, स्वच्छन्द प्रवृति की प्रधानता वढी, ब्राह्मण वर्ग का उत्थान हुआ। प्रजा पर करों का वोझ वढा।

सभा और समितिः—वैदिक युग में राजा की सत्ता को नियन्त्रित करने का कार्य जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ-सभा और समिति के पास था। सभा के स्वरूप तथा कार्यों का निश्चित रूप अप्राप्य है। शायद यह वृद्ध एवं प्रौढ़ लोगों की परिषद थी और इसकी सदस्यता भी सीमित होती थी। सभा के निर्णयों का काफी प्रभाव होता था और राजा को सभा के निर्णयों को मानना पड़ता था। सभा राजा को पदच्युत करने की शक्ति भी रखती थी। समिति वयस्क नागरिकों की परिषद थी। इसमें विविध वक्ता लोग राजकार्यों पर विचार-विमर्श करते थे। परन्तु इसके निर्णयों का महत्व सभा से कम था। प्रसिद्ध विचारक लुड़विग का कथन है कि "समिति एक विस्तृत परिषद थी जिसमें न केवल साधारण लोग वल्कि ब्राह्मण तथा सामन्त लोग भी सम्मिलित थे तथा सभा वृद्ध लोगों की या कुलीन सामन्तों की परिषद थी।" उत्तरवैदिक काल में इन संस्थाओं का महत्व कुछ कम हो गया। कालान्तर में इनका महत्व विल्कुल नष्ट हो गया।

सामाजिक स्थिति:—आर्यों की सामाजिक व्यवस्था पितृ-मूलक थी। पिता परिवार का मुखिया होता था और उसके अधिकार विस्तृत थे। संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रथा थी। अतिथि सत्कार पर जोर दिया जाता था। इस युग में बहु-विवाह प्रथा का अभाव था परन्तु राजवंशों में बहु-विवाह प्रथा थी। भाई-बहिन तथा पिता-पुत्री में विवाह निषेध था। वरकन्या को जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता थी। विवाह का प्रधान लक्ष्य संतानोत्पत्ति था। दहेज प्रथा तथा कन्या मूल्य दोनों प्रथाओं का प्रादुर्भाव हो चुका था। विधवा-विवाह का निषेध तो नहीं था परन्तु उल्लेख नहीं मिलता। नियोग-प्रथा (पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से उस समय तक सहवास करना जब तक पुत्र उत्पन्न न हो) न्याय संगत मानी जाती थी। सती प्रथा का राजवंशों में उल्लेख मिलता है। विवाह-विच्छेद असंभव था। अन्तर्जातीय विवाह था। स्त्री की स्थिति बहुत उन्नत थी। विवाह के पूर्व पिता के नियंत्रण में, विवाहोपरान्त पति के साथ तथा पति की मृत्यु के उपरान्त पुत्र के नियंत्रण में रहती थी। स्त्री-शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था। पर्दा प्रथा का अभाव था। स्त्री सार्वजनिक कार्यों में हिस्सा लेने की अधिकारिणी थी। कानून की दृष्टि से वह स्वतन्त्र नहीं थी। बहुत सी स्त्रियों ने 'मुनि' की पदवी को प्राप्त करली थी और ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना की थी। इनमें गार्गी प्रमुख थी।

उत्तरवैदिक काल में गोद लेने की प्रथा का अभ्युदय हुआ। विवाह के लिये तीन चार पीढ़ियों को छोड़ दिया जाने लगा। तथा गोत्र में ही विवाह करना पसन्द किया जाने लगा। विवाह के लिये जन्म का महत्व बढ़ा। बड़ों की शादी पहले करने की प्रथा का विकास हुआ। बाल विवाह का श्री गणेश हुआ। इस युग में स्त्रियों की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकारों का ह्रास हुआ। पुत्री की उत्पत्ति दुःख का कारण मानी जाने लगी स्त्रियों के लिये सार्वजनिक सभाओं में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

वैदिक युग में मृतक संस्कार प्रणाली के चार रूप मिलते हैं—अग्नि संस्कार, जल समाधि, भूमि समाधि और पशु भक्षण। प्रथम संस्कार की प्रथा (… संस्कार) सर्वमान्य एवं सर्वप्रचलित प्रथा थी।

शिक्षाः—वैदिक युग में शिक्षा मौखिक होती थी । शिक्षा का प्रधान लक्ष्य बौद्धिक तथा आचरण की निर्मलता का विकास था । विद्या का आधार सादा जीवन और उच्च-विचार होता था । उस युग की विद्या ज्ञान के उच्चतम छोर का स्पर्श करती थी । प्रत्येक ऋषिकुल एक वैदिक विद्यालय का स्वरूप होता था । शिक्षा में धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन पर अधिक जोर दिया जाता था । धीरे २ गुरुकुलों का विकास हुआ । शिष्य के लिये गुरु के आश्रम में रहना अनिवार्य हो गया । गुरु-दक्षिणा की प्रथा का भी विकास हुआ । अङ्क-गणित, व्याकरण तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन पर अधिक जोर दिया जाता था । शिक्षा संस्कृत भाषा के माध्यम से दी जाती थी ।

धार्मिक स्थितिः—ऋग्वैदिक काल के आर्य प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करते थे । सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, अग्नि आदि विविध शक्तियों की उपासना की जाती थी । इसके अलावा प्रकृति के नियन्ता एक अनादि, अनन्त परमात्मा की उपासना भी की जाती थी । अर्थात् बहुदेवतावाद तथा एकेश्वर-वाद का सुन्दर समन्वय था । उस युग के निवासी मूर्ति पूजक नहीं थे । वे देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित करने के विरुद्ध थे । यज्ञ तथा बलिदान का बहुत महत्व था । गायत्री तथा सावित्री मन्त्र का अधिक प्रयोग किया जाता था ।

उत्तरवैदिक काल में धार्मिक क्षेत्र में महान् परिवर्तन हुआ । ब्राह्मणों की स्वार्थवृत्ति के कारण यज्ञों तथा कर्मकाण्डों का अधिकाधिक प्रचार तथा महत्व बढ़ा । सोमपान तथा बलि प्रथा का विकास हुआ । पुनर्जन्मवाद के सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ कर्मवाद के सिद्धान्त का महत्व बढा । इसके अतिरिक्त भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना का भी विकास हुआ । अनेक नूतन देवी-देवताओं की उत्पति भी इसी युग में हुई । रुद्र तथा विष्णु का महत्व अधिकाधिक बढ़ने लगा । यह द्राविड़ जाति का प्रभाव था जिसका विस्तृत अध्ययन आगे किया जायेगा ।

वैदिक युग की सामाजिक संस्थाएं

आश्रम व्यवस्थाः—वैदिक संस्कृति में 'धर्म' को बहुत महत्व दिया गया । धर्म का अर्थ कर्त्तव्य से है । उस युग में प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य निश्-

चित थे। कर्त्तव्य के आदर्श को ही धर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से जीवन के किसी भी क्षेत्र की उपेक्षा नहीं की जाती थी। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जीवन को चार भागों में बांटा गया था जिन्हें आश्रम कहते थे। वैदिक युग में मनुष्य का जीवन लगभग १०० वर्षों का माना जाता था। प्रथम पच्चीस वर्षों को ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत रखा जाता था। यह वह काल होता था जबकि शरीर, बुद्धि और चरित्र के विकास पर जोर दिया जाता था। इस आश्रमावस्था में मनुष्य पर घर की जिम्मेदारियां नहीं लादी जाती थी। उसका जीवन सादा और संयमी होता था। वह गुरु के पास विद्या सीखता था। सीखने की तीव्र इच्छा विद्यार्थी के लिये बुनियादी आवश्यकता समझी जाती थी। पच्चीस से पच्चास वर्ष की अवस्था गृहस्थाश्रम कहलाती थी। इस अवस्था में आर्य नवयुवक को गृह का उत्तरदायित्व संभालना पड़ता था। गृहस्थधर्म में पति का पत्नी के प्रति कर्त्तव्य, पिता की बच्चों के प्रति जिम्मेदारी, समाज के प्रति ईमानदारी और नागरिक कर्त्तव्यों का समावेश होता था। तीसरी श्रेणी का नाम वानप्रस्थाश्रम था। इस काल में मनुष्य को गृहस्थ धर्म से मुक्ति मिल जाती थी और वह अपना समय समाज सेवा तथा चिन्तन में व्यतीत करता था। अंतिम अवस्था सन्यासाश्रम कहलाती थी जबकि मनुष्य अपनी मुक्ति के लिये जंगल में जाकर ब्रह्म की उपासना करता था।

आश्रम व्यवस्था के पीछे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था। प्रारम्भ के पच्चीस वर्षों में शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास किया जा सकता है और इसके लिये यही समय उपयुक्त है। इसी प्रकार युवावस्था काल में मनुष्य गृहस्थ धर्म तथा उससे संबंधित उत्तरदायित्वों का पालन कर सकता है। कठिन श्रम कर सकता है। भोग-विलास का आनन्द ले सकता है। ठीक इसी प्रकार वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम के काल में उसे अपनी मुक्ति की बात अधिक सताती है। वैसे आश्रम व्यवस्था अनिवार्य नहीं थी। बहुत से लोग गृहस्थ धर्म की जिम्मेदारियों में ही नहीं उलझते थे और सन्यासी हो जाते थे। यह व्यवस्था तो एक आदर्श के रूप में थी।

संयुक्त परिवार:—संयुक्त पारिवारिक जीवन भारतीय समाज की सबसे [illegible] विशेषता है। इसका उद्देश्य परिवार के समस्त सदस्यों की सर्वतोमुखी

उन्नति एवं विकास के लिए साधन उचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवसर तथा पारस्परिक सहयोग प्रदान करना है। इस विशिष्ट भारतीय संयुक्त परिवार में में पति-पत्नी, माता-पिता, चाचा-चाची, पुत्र-पुत्री, पुत्र-वधू, भतीजे, नाती आदि होते है। यह वैदिक युग की धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक इकाई थी। परिवार का बड़ा-बूढ़ा सम्पूर्ण परिवार का मुखिया होता था जो परिवार के समस्त कार्यों को संचालित करता था। इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें कार्य करने वाले तथा न करने वाले दोनों प्रकार के लोगो के पालन-पोषण की व्यवस्था होती थी। वैदिक युग में प्रत्येक कार्य को संपादित करने के लिये अधिक हाथों की जरूरत थी। जैसे कृषिकार्य, बुनाई का काम, पशु पालन, कुटीर .उद्योग इत्यादि। इस लिए संयुक्त परिवार का महत्वपूर्ण स्थान था। परिवार के सभी सदस्य मिलकर एक ही काम को संपादित करते थे।

वर्ण व्यवस्था:—वर्ण व्यवस्था की आधारशिला कर्त्तव्य कर्म थे। वर्ण वास्तव में मनुष्य के सांसारिक कार्यों का विभाजन है जो समाज के हित के लिये आवश्यक था। लोग अपनी योग्यता तथा स्थिति के अनुसार इन व्यवसायों का अनुकरण करते थे। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व इस प्रकार की व्यवस्था नही थी परन्तु आर्यों के आगमन ने भारतीय समाज को दो वर्गों में में विभाजित कर दिया—आर्य और अनार्य। वर्ग-सृष्टि के उपरान्त वर्ण उत्पत्ति का युग आया। आर्य जाति स्थायी रूप मे भारत में बस गई थी। कार्यों का विभाजन हुआ परन्तु कार्यों के सम्बोधन की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप सम्पूर्ण कार्यों को 'वर्ण' का नाम प्रदान किया गया तथा समस्त कार्य-कर्ताओं को चार वर्णों में—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभाजित कर दिया गया। इस योजना को स्थायी रूप देने के लिये मुनियों ने ऋग्वेद के दसवें मंडल के ९०वें मंत्र में परमात्मा की ओट में मंत्र रचना भी कर दी; जो कि 'पुरुष सूक्त' कहलाया और जिसका तात्पर्य यह था—"उस (समाज रूपी) पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएं क्षत्रिय बनाई गई। उसको जंघाओं से वैश्य बने व पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।" यह व्यवस्था अर्थशास्त्र के "कार्य-विभाग सिद्धान्त" एवं समाज शास्त्र के मूल तत्वों के आधार पर विकसित हुई।

इसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक सत्य निहित था अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यतानुसार कार्य सौंपना। क्योंकि वर्ण विभाजन का जन्म से कोई सम्बन्ध न था। वर्ण की कसौटी तो कर्त्तव्य कर्म थे। भोजन, विवाह आदि के लिए कोई रुकावट नहीं थी। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में प्रवेश करना संभव था। धीरे २ वर्णों की कर्मों के सम्बन्ध में स्थिरता आ गई और वर्ण व्यवस्था का सम्बन्ध कर्म के स्थान पर जन्म से हो गया।

जाति व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का अध्ययन हम कर आये हैं। वैदिकयुग के अन्त तक ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सामाजिक स्थिति प्राप्त कर ली थी। राजा लोग देवताओं का पूजन ब्राह्मणों द्वारा ही कर सकते थे। धीरे २ ब्राह्मणों ने जाति के रूप में अपनी स्थिति को दृढ़ कर दिया। क्षत्रिय वर्ग प्रशासन और युद्ध आदि की ओर विशेष रूप से झुक गया और उसने ब्राह्मणों के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना बन्द कर दिया। तीसरा वर्ग वैश्यों का था। इस वर्ग के कार्यों का विशेष स्पष्टीकरण नहीं हुआ था परन्तु शूद्रों के साथ भेदकरण किया जा सकता था। धीरे २ रीति-रिवाज, खान-पान, विवाह-शादी आदि में जाति का सम्मान सम्मुख उपस्थित हुआ और जाति परिवर्तन असंभव नहीं तो असाध्य अवश्य बन गया मनु के समय में जातिप्रथा का विधान सम्पूर्ण हो गया और उसके उपरान्त जातिप्रथा, उपजाति एवं उसकी उपजातियों में विभाजित होती गई। जाति का आधार जन्म है जबकि वर्ण का आधार व्यवसाय या कर्म था।

जातियों के कारण हिन्दू समाज असंख्य भागों में विभाजित हो गया जो परस्पर ईर्षा-द्वेष रखते थे। यही कारण है कि कालान्तर में हिन्दू एक सुदृढ़ तथा संगठित जाति न बन सकी। ऊँच-नीच की भावना ने समाज में विषमता को जन्म दिया। इस व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत उन्नति रुक गई और बहुत से लोग उच्च शिक्षा से वंचित रह गये। अन्तर्जातीय विवाहों के निषेध के कारण मानसिक तथा बौद्धिक शक्ति का पतन होने लगा। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास की गति मन्द हो गई।

अस्पृश्यता—अस्पृश्यता भारतीय समाज की एक कलंकपूर्ण संस्था

है। इसकी उत्पत्ति के बारे में विवध मत है। वैदिक साहित्य मे चाण्डल, निषाद और पौलक्ष आदि पतित जातियों का उल्लेख मिलता है और इनका उल्लेख वर्ण संकर जातियों के रूप में मिलता है। उनकी पतित अवस्था "वर्णसंकर" होने के कारण नहीं है बल्कि चाण्डाल आदिम लोगों के पतित वर्ग के लोग थे। अतएव जो आदिम लोग आर्यो के सम्पर्क में आये थे उनके द्वारा पतित और घृणित समझे गये। स्मृतियों और सूत्रों में यह विचार मिलता है कि अपवित्र लोगों, मुख्यत: जातियों से निकाले तथा चाण्डालो के स्पर्श से प्रथम तीन जातियों के लोग अपवित्र हो जाते हैं। धर्म शास्त्रों के काल मे इन लोगों की अवस्था बहुत बुरी होगई। इस प्रकार अस्पृश्यता का विचार अधिक दृढ़ हो गया और उन्हें मंदिरों, शिक्षण संस्थाओं आदि से वंचित कर दिया गया। धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों ने इसको और अधिक दृढ़ करने में अत्यधिक सहयोग दिया। इन्हें 'अछूत' कहा जाने लगा। फिर इन्हे 'दलित वर्ग' का नाम दिया गया। महात्मा गांधी ने इन्हें नया नाम 'हरिजन' दिया और आधुनिक स्वतन्त्र भारत के संविधान ने अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया। यद्यपि नियम तथा कानून की दृष्टि से इसे समानाधिकार दिया गया है फिर भी अभी इसका प्रभाव है।

वैदिक तथा पूर्व वैदिक तत्वों का समन्वय:—आर्यों के पूर्व भारत में द्राविड़ लोगों का निवास था। द्राविड़ भारत के मूल निवासी थे या नहीं इस पर काफी विवाद है। परन्तु आर्यो के आगमन के पूर्व वे अपनी सभ्यता का विकास कर चुके थे। आर्यों तथा द्राविड़ों के पारस्परिक सम्पर्क ने वैदिक सभ्यता को बहुत प्रभावित किया है और दोनों जातियो की सभ्दता के तत्वों का समन्वय बहुत प्राचीनकाल से ही प्रारंभ हो गया था। इन दोनों तत्वों के समन्वय से एक नवीन संस्कृति का उद्भव हुआ जिसे हम पौराणिक हिन्दू संस्कृति कह सकते हैं। इसका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में है। आर्यों के ग्राम संगठन, भवन निर्माण तथा नगर-निर्माण कला पर पूर्व वैदिक तत्वों की छाप है। सामुद्रिक व्यपार भी द्राविड़ों की देन है। इतना ही नहीं आर्यों की वेश-भूषा खान-पान, सामाजिक रीति रिवाजों पर भी पूर्व वैदिक तत्वों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पूर्व वैदिक तत्वों का सबसे अधिक प्रभाव व समन्वय धार्मिक

क्षेत्र में हुआ। द्राविड़ों के कुल-देवों को नया नाम देकर आर्यों ने उन्हें देवता बना लिया। वैदिक सभ्यता में भक्ति की धारा का रूप द्राविड़ों की देन है। शिव, उमा, कृष्ण, गणेश, कार्तिक आदि पूर्ववैदिक देवता हैं जिन्हें आर्यों ने अपना लिया। धार्मिक कर्मकाण्डों में भी समन्वय हुआ। होम आर्यों का है परन्तु पूजा द्राविड़ों की है। मन्दिर और मूर्ति पूजा, जो हिन्दू धर्म के प्राण हैं, द्राविड़ों की ही देन है। मातृ शक्ति की उपासना भी आर्यों ने द्राविड़ों से ग्रहण की। धर्म के आगम तथा निगम सिद्धान्तों में निगम आर्यों का है परन्तु आगम द्राविड़ों का है। इस प्रकार हम वैदिक तथा पूर्व वैदिक तत्वों का समन्वय स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

आर्यों का आगमन कब हुआ ? उनका मूल निवास स्थान कौन सा है ?
वैदिक सभ्यता के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ?
'वैदिक युग की प्रमुख सामाजिक संस्थाएं' पर एक लेख लिखिये ?
वैदिक तथा पूर्व वैदिक तत्वों का समन्वय कौन २ से क्षेत्रों में हुआ ? समझाइये।

सातवां अध्याय

बौद्ध व जैनमत सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व

ईसा पूर्व छठी शताब्दी सम्पूर्ण संसार के लिये धार्मिक क्रान्ति का सन्देश प्रसारित करने वाली सदी थी। सम्पूर्ण विश्व में अनेकों आचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने मोक्ष प्राप्ति के नये २ मार्ग मानवीय समाज के सन्मुख प्रस्तुत किये। चीन में लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस, यूनान में सुकरात और प्लेटो, फिलिस्तीन में ईसा मसीह, ईरान में हेराक्लिटस् और भारत में चार्वाक, बुद्ध तथा महावीर प्रमुख थे।

गौतम और महावीर की जीवनी:—बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध अथवा सिद्धार्थ, कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम महामाया था। युवावस्था में इनका विवाह 'यशोधरा' से हुआ और शीघ्र ही उनके पुत्र "राहुल" का जन्म भी हो गया। सिद्धार्थ अब पिता बन गये थे। सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही सत्य की खोज में खोये रहते थे। पत्नी और पुत्र का स्नेह भी उन्हे चिन्तन के पथ से पृथक न कर सका और २८ वर्ष की आयु में महात्मा बुद्ध ने सन्यास लेकर गृह को त्याग दिया। सर्वप्रथम वैशाली के आलार-कालाम की तथा बाद में राजगृह के रुद्रक की शिष्यता ग्रहण की, परन्तु सत्य की खोज में सफल न हो सके। इसके उपरान्त सिद्धार्थ ने उरवेला के जंगल में ६ साल तक पाँच ब्राह्मण साधुओं के साथ कठोर तपस्या की, परन्तु ज्ञान का प्रकाश न मिला। सिद्धार्थ ने तपस्या को छोड़ दिया। इसके बाद एक दिन जबकि वे बोधि वृक्ष के नीचे बैठे थे उन्हें बोधिसत्व (ज्ञान) की प्राप्ति हो गई। तभी से वे बुद्ध और उनके अनुयायी बौद्ध कहलाये। सारनाथ में बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया जो 'धर्म-चक्र परिवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ४८३ ई. पू. में कुशीनारा में महात्मा बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए।

महावीर का जन्म वैशाली के समीप कुण्डग्राम में वृज्जि-गण के ज्ञात्रिक कुल के राजा सिद्धार्थ के घर हुआ था। उनकी माता लिच्छवी वंश के राजा चेटक की बहिन त्रिशला थी। वर्द्धमान का विवाह यशोदा के साथ हुआ था। उनके एक कन्या भी हुई थी। तीस वर्ष की अवस्था में ज्ञान की खोज में उन्होंने गृह-त्याग करके वन-पथ का आश्रय लिया और कठिन तपस्या की। वे बिल्कुल नग्न होकर तपस्या करने लगे। एक दिन जम्भिक गांव के बाहर ऋजुपालिका नदी के तट पर महावीर को "कैवल्य" (ज्ञान) की प्राप्ति हुई। तभी से वे अर्हत (पूज्य) जिन (विजेता) निग्रन्थ (बन्धनहीन) कहलाने लगे। जैनियों ने उन्हें अपना चौबीसवाँ तथा अंतिम तीर्थंकार मान लिया। ७२ वर्ष की अवस्था में ४६८ ई. पू. में राजगृह के निकट पावा नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। उन्होंने जैन धर्म को अखिल भारतीय रूप प्रदान किया।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त (१) चार आर्य सत्य:—बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम सिद्धान्त है—चार आर्य सत्य। दुख, दुख का कारण, दुख निरोध और दुख निरोध का मार्ग। संसार के दुखों को बुद्ध ने केवल दो शब्दों—जरा और मृत्यु में प्रकट किया है। इन दुखों का कारण होता है। इन कारणों को दूर किया जा सकता है। दुख के कारणों के अन्त होने ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है। निर्वाण इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। अविद्या का विनाश एवं ज्ञान की प्राप्ति ही निर्वाण है। राग-द्वेष, मोह, माया, ममता से रहित व्यक्ति बन्धन में नहीं पड़ता और न पुनर्जन्म होता है। निर्वाण का तात्पर्य मनुष्य के अस्तित्व की समाप्ति नहीं बल्कि सांसारिक दुखों की समाप्ति तथा पूर्ण शान्ति है।

अष्टांग मार्ग:—सांसारिक दुखों से मुक्ति प्राप्त करने में 'आठ मार्ग' का बहुत महत्व है। ये आठ मार्ग निम्नलिखित हैं:—(१) सयम्क् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक समाधि। इन नियमों को 'अष्टांग-मार्ग' भी कहते हैं।

(२) मध्य मार्ग—बुद्ध भगवान ने मानवीय जीवन की मुक्ति के लिये मध्य मार्ग का पथ प्रदर्शित किया। कठोर तप की पराकाष्ठा का बहिष्कार

किया गया है; क्योंकि शारीरिक कष्ट मानसिक व आत्मिक विकास के लिये हानिकारक होता है। इसी तरह उन्होंने अधिक भोग-विलास का भी बहिष्कार किया है क्योंकि इससे दुखों की उत्पत्ति होती है। मध्य मार्ग का अनुसरण वांछनीय है। इससे किसी प्रकार के दुख या कष्ट की उत्पत्ति नहीं होती।

(४) कर्मवाद:—बौद्ध धर्म कोई नवीन धर्म नही था। महात्मा बुद्ध ने केवल तत्कालीन वैदिक धर्म में फैले मिथ्यावादों का खंडन किया था। उनकी शिक्षा प्राचीन वैदिक धम से प्रभावित थी। अतः बुद्ध भी कर्मवादी थे। जैसा कर्म करोगे वैसा ही फल पाओगे। यही उनकी शिक्षा थी। वैदिक धर्म भी यही उपदेश देता है। अन्तर केवल इतना ही था कि जहां हिन्दू धर्म यज्ञ तथा बलि को अच्छा कर्म मानता था वही महात्मा बुद्ध इसे बुरा मानते थे। उनका कथन था कि इस प्रकार के कर्मों से बुरे कर्मों को अच्छे कर्मों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। उनका कहना था कि इनसे पूर्व जन्म के पापों से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके लिये तो इसी युग में सुकर्म करने चाहिये।

(५) अनीश्वरवाद:—महात्मा बुद्ध ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। संसार की उत्पत्ति के लिये किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। कार्य और कारण की शृंखला से सृष्टि का संचालन होता रहता है। बौद्ध धर्म नास्तिक था।

(६) अनात्मवाद तथा पुनर्जन्म:—बुद्ध आत्मा के अमरत्व में भी विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार आत्मा पंचस्कन्धों का समुदाय है जिसे 'पुग्गल' या 'पुद्गल' कहते हैं। ये पंचस्कन्ध इस प्रकार है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान। इन तत्वों के अलग २ हो जाने पर आत्मा नाम की कोई स्थायी वस्तु शेष नहीं रहती। परन्तु फिर भी बुद्ध का पुनर्जन्म में विश्वास था। परन्तु वैदिक धर्म की तरह आत्मा के पुनर्जन्म में नहीं बल्कि अनित्य अहङ्कार एवं तृष्णा का नूतन जन्म में विश्वास था जो कि कर्म के नियम से संचालित होता रहता है।

(७) अहिंसा:—प्राणीमात्र को पीड़ा पहुँचाना महापाप है। यह बौद्ध-धर्म का मूल मन्त्र है। परन्तु समय और परिस्थितियों को देखते हुये उसने इस

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांतः—महावीर वर्द्धमान जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकार थे। उनके पूर्व २३ तीर्थंकार हुए थे जिन्होंने समय-समय पर इस धर्म का प्रचार किया। वैसे राजा ऋषभ इस धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे परन्तु महावीर को ही जैनधर्म का जन्मदाता माना जाता है। इन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त निम्न लिखित हैं:—

(१) पांच महाव्रतः—जैन धर्म का मूल सिद्धांत पंच महाव्रत है। महावीर के पूर्व केवल चार महाव्रत सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह थे। महावीर ने इसमें 'ब्रह्मचर्य' और जोड़ दिया। अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। प्राणी मात्र की हिंसा पाप समझा जाता है। अहिंसा के उपरान्त 'सत्य' का स्थान था। सत्य यदि कटु हो तो उसका भी उल्लेख नहीं किया जाना चाहिये। ब्रह्मचर्य के अनुसार सभी प्रकार की कामवासना का त्याग कर देना चाहिए। अपरिग्रह के अनुसार किसी वस्तु में आसक्ति नही रखनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। अस्तेय के अनुसार चोरी करना पाप था। दूसरों की वस्तु को बिना पूछे अपने पास रखना भी पाप माना जाता है।

(२) त्रिरत्नः—जैन धर्म "त्रिरत्न" में विश्वास करता था। ये त्रिरत्न थे—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र। सम्यक् ज्ञान का तात्पर्य सात्विक ज्ञान की प्राप्ति से है। अच्छा ज्ञान वही है जिससे मन को शान्ति मिले; नैतिकता का विकास हो सम्यक् दर्शन का तात्पर्य अच्छी विचारधारा है अर्थात् नैतिक विचार-ज्ञान। सम्यक् चरित्र का तात्पर्य इन्द्रियों का दमन है। जैन लोगों का त्रिरत्न में अगाध विश्वास है।

ईश्वर और आत्माः—जैन लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्ता व हर्ता नहीं मानते। मनुष्य की मुक्ति ईश्वर के हाथ में नहीं बल्कि मनुष्य के सत्कर्मों में निहित है। संक्षेप में जैन धर्म स्वावलंबन की शिक्षा देता है। ईश्वर में विश्वास न होते हुए भी जैन धर्म आत्मा में विश्वास रखता है। वे आत्मा को सर्वशक्तिमान् पवित्र प्रकाश का द्योतक मानते हैं। मानवीय कर्म के कारण आत्मा की शक्ति घटती बढ़ती रहती है। इसका अस्तित्व है और यह शरीर से अलग है। इसमें ज्ञान का भंडार है।

(४) कर्मवादः—महावीर कर्म को बहुत महत्व देते थे। कर्म में उनका विश्वास था। अच्छे कर्मों के द्वारा मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। कर्मों के आधार पर ही जन्म होता है और सुख-दुख सहन करना पड़ता है। कर्मों के द्वारा ही वेश, जाति, आयु आदि का निर्णय होता है। परन्तु जैन धर्म यज्ञ, बलि, तथा अनुष्ठान को अच्छा कर्म नहीं मानता है।

(५) विषयों का विनाशः—जैन धर्म के अनुसार सांसारिक इच्छाएं हमारी आत्मा को मलिन कर देती है। अतः सांसारिक इच्छाओं का दमन करना चाहिये। ये इच्छाएँ इन्द्रियों की सहायता से आत्मा में प्रवेश करती है। अतः इन्द्रियों का दमन किया जाना चाहिए। इनको रोकना चाहिए और जो इच्छाएँ आत्मा में प्रवेश पा चुकी है उन इच्छाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म में विभाजनः—कालान्तर में, आंतरिक मतभेद की उत्पत्ति के फलस्वरूप बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभाजित हो गये। हीनयान और महायान बौद्ध धर्म की नूतन शाखाएँ थीं। हीनयान बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप को मान्यता देता था; ईश्वर में विश्वास नहीं करता था; स्वावलम्बन की शिक्षा देता था, बुद्ध की पूजा करता था और नवीन संशोधन या परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता था। महायान उदार था। समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन में विश्वास करता था। प्राचीन कट्टरता का त्याग करके विश्व-कल्याण के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया। बुद्ध को परमात्मा मानता था। उपयोगिता पर अधिक जोर देता था। यह संप्रदाय वैदिकधर्म के काफी निकट आगया था और इसमें विचार-स्वातन्त्र्य, वैदिक देवताओं तथा भक्ति-भावना को भी स्थान था। बौद्ध धर्म की उन्नति इसी संप्रदाय की देन है। जैन धर्म भी दो प्रमुख शाखाओं-श्वेताम्बर और दिगम्बर में विभाजित हो गया। दिगम्बर कट्टर सिद्धांतों का उपासक था और श्वेताम्बर स्थूल रूप से सिद्धांतों के पालन के पक्ष में था और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी स्वीकार कर लेता था। दिगम्बर कपड़े पहनना भी [illegible] नहीं करता। दिगम्बर मत के अनुसार स्त्री को मुक्ति का अधिकार नहीं

है और मनुष्य को भोजन की आवश्यकता नहीं रखनी चाहिए ताकि सम्यक् ज्ञान शीघ्रता से प्राप्त हो सके। श्वेताम्बर इस प्रकार के विचारों से सहमत नहीं हैं।

सामाजिक महत्वः—बौद्ध धर्म और जैन धर्म धार्मिक आन्दोलन न होकर सामाजिक आन्दोलन थे। धर्म के क्षेत्र में यद्यपि इन दोनों संप्रदायों का वैदिक धर्म से कुछ मतभेद था परन्तु फिर भी इन धर्मों के मूल तत्वों का उपनिषदों में प्रादुर्भाव हो चुका था। दोनों संप्रदायों का वास्तविक उद्देश्य समाज में व्याप्त विषमताओं को तथा कुप्रथाओं को दूर करना था। उस युग के सामाजिक जीवन में बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हो चुकी थी। जाति-प्रथा तथा अस्पृश्यता के बन्धन इतने दृढ हो चुके थे कि निम्न वर्ग के लोगों की स्थिति शोचनीय हो चुकी थी। बौद्ध तथा जैन धर्म ने जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता पर घोर प्रहार किया और निम्न वर्ग के लोगों को समाज में समानाधिकार दिलवाने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन दोनों धर्मों ने नैतिक तथा शिष्ट जीवन के सिद्धान्त समाज के सन्मुख उपस्थित किये। उदाहरणार्थ—अहिंसा, सत्य संभाषण, शील तथा आचरण की प्रधानता, बड़े-बूढ़ों का सम्मान इत्यादि। इस प्रकार के सिद्धान्तों से समाज में सम्मान तथा नैतिकता से परिपूर्ण शिष्ट जीवन का पुनः आगमन हुआ। बौद्धधर्म तथा जैन धर्म ने अवनति की ओर बढ़ते हुये समाज को उन्नत बनाने में सहयोग दिया।

सांस्कृतिक महत्वः—सामाजिक महत्व के साथ साथ इन दोनों धर्मों का सांस्कृतिक महत्व भी है। वैसे तो धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र भी सांस्कृतिक जीवन के ही अंग हैं परन्तु इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक अंगों की उन्नति में भी इन दोनों धर्मों ने बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दिया। दोनों धर्मों के प्रमुख संस्थापकों ने अपने उपदेशों को साधारण बोलचाल की भाषा में ही जनता के सामने रखा! इससे लोग प्रभावित हुये। क्योंकि अब तक धर्म का गूढ़ ज्ञान देववाणी संस्कृत भाषा में छिपा हुआ था और साधारणजन के लिये देववाणी को समझना कठिन कार्य था। इससे एक और लाभ हुआ। साधारण भाषा के साहित्य का विकास हुआ। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के ऊपर असंख्य ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण कार्य कला की उन्नति थी। बौद्ध

(४) कर्मवाद:—महावीर कर्म को बहुत महत्व देते थे। कर्म में उनका विश्वास था। अच्छे कर्मों के द्वारा मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। कर्मों के आधार पर ही जन्म होता है और सुख-दुख सहन करना पड़ता है। कर्मों के द्वारा ही वेश, जाति, आयु आदि का निर्णय होता है। परन्तु जैन धर्म यज्ञ, बलि, तथा अनुष्ठान को अच्छा कर्म नहीं मानता है।

(५) विषयों का विनाश:—जैन धर्म के अनुसार सांसारिक इच्छाएं हमारी आत्मा को मलिन कर देती है। अतः सांसारिक इच्छाओं का दमन करना चाहिये। ये इच्छाएं इन्द्रियों की सहायता से आत्मा में प्रवेश करती है। अतः इन्द्रियों का दमन किया जाना चाहिए। इनको रोकना चाहिए और जो इच्छाएं आत्मा में प्रवेश पा चुकी है उन इच्छाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म में विभाजन:—कालान्तर में, आंतरिक मतभेद की उत्पत्ति के फलस्वरूप बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभाजित हो गये। हीनयान और महायान बौद्ध धर्म की नूतन शाखाएं थीं। हीनयान बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप को मान्यता देता था; ईश्वर में विश्वास नहीं करता था; स्वावलम्बन की शिक्षा देता था, बुद्ध की पूजा करता था और नवीन संशोधन या परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता था। महायान उदार था। समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन में विश्वास करता था। प्राचीन कट्टरता का त्याग करके विश्व-कल्याण के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया। बुद्ध को परमात्मा मानता था। उपयोगिता पर अधिक जोर देता था। यह संप्रदाय वैदिकधर्म के काफी निकट आगया था और इसमें विचार-स्वातन्त्र्य, वैदिक देवताओं तथा भक्ति-भावना को भी स्थान था। बौद्ध धर्म की उन्नति इसी संप्रदाय की देन है। जैन धर्म भी दो प्रमुख शाखाओं-श्वेताम्बर और दिगम्बर में विभाजित हो गया। दिगम्बर कट्टर सिद्धांतों का उपासक था और श्वेताम्बर स्थूल रूप से सिद्धांतों के पालन के पक्ष में था और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी स्वीकार कर लेता था। दिगम्बर कपड़े पहनना भी पसन्द नहीं करता। दिगम्बर मत के अनुसार स्त्री को मुक्ति का अधिकार नहीं

है और मनुष्य को भोजन की आवश्यकता नही रखनी चाहिए ताकि सम्यक् ज्ञान शीघ्रता से प्राप्त हो सके। श्वेताम्बर इस प्रकार के विचारों से सहमत नही है।

सामाजिक महत्वः—बौद्ध धर्म और जैन धर्म धार्मिक आन्दोलन न होकर सामाजिक आन्दोलन थे। धर्म के क्षेत्र मे यद्यपि इन दोनों संप्रदायों का वैदिक धर्म से कुछ मतभेद था परन्तु फिर भी इन धर्मों के मूल तत्वो का उपनिषदो मे प्रादुर्भाव हो चुका था। दोनो सम्प्रदायो का वास्तविक उद्देश्य समाज में व्याप्त विषमताओं को तथा कुप्रथाओ को दूर करना था। उस युग के सामाजिक जीवन मे बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हो चुकी थी। जाति-प्रथा तथा अस्पृश्यता के बन्धन इतने दृढ हो चुके थे कि निम्न वर्ग के लोगों की स्थिति शोचनीय हो चुकी थी। बौद्ध तथा जैन धर्म ने जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता पर घोर प्रहार किया और निम्न वर्ग के लोगो को समाज में समानाधिकार दिलवाने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन दोनो धर्मो ने नैतिक तथा शिष्ट जीवन के सिद्धान्त समाज के सन्मुख उपस्थित किये। उदाहरणार्थ—अहिंसा, सत्य संभाषण, शील तथा आचरण की प्रधानता, बड़े-बूढो का सम्मान इत्यादि। इस प्रकार के सिद्धान्तो से समाज में सम्मान तथा नैतिकता से परिपूर्ण शिष्ट जीवन का पुनः आगमन हुआ। बौद्धधर्म तथा जैन धर्म ने अवनति की ओर बढ़ते हुये समाज को उन्नत बनाने मे सहयोग दिया।

सांस्कृतिक महत्वः—सामाजिक महत्व के साथ साथ इन दोनों धर्मों का सांस्कृतिक महत्व भी है। वैसे तो धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र भी सांस्कृतिक जीवन के ही अंग है परन्तु इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक अंगों की उन्नति में भी इन दोनों धर्मों ने बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दिया। दोनो धर्मों के प्रमुख संस्थापको ने अपने उपदेशो को साधारण बोलचाल की भाषा में ही जनता के सामने रखा। इससे लोग प्रभावित हुये। क्योंकि अब तक धर्म का गूढ ज्ञान देववाणी संस्कृत भाषा मे छिपा हुआ था और साधारणजन के लिये देववाणी को समझना कठिन कार्य था। इससे एक और लाभ हुआ। साधारण भाषा के साहित्य का विकास हुआ। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के ऊपर असंख्य ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण कार्य कला की उन्नति थी। बौद्ध

अष्टम अध्याय

सनातन भारतीय सभ्यता

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की धारा आदिकाल से बहती आ रही है; इस सत्य का शोध हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि हमारी सांस्कृतिक विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार संशोधित होती रही है। सर्व प्रथम हमें द्राविड़ सभ्यता का अस्तित्व मिलता है, और इससे भी पहले सिन्धु घाटी की सभ्यता का, जिसके निर्माताओं के बारे में हमारा ज्ञान अधूरा है। तदुपरान्त वैदिक सभ्यता का प्रादुर्भाव होता है और वैदिक तथा पूर्व वैदिक तत्वों के घात-प्रतिघात व समन्वय से एक नूतन संस्कृति का जन्म होता है जिसे "पौराणिक संस्कृति" का नाम दिया जाता है। इसी संस्कृति के विरोध में बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रादुर्भाव है और इन नूतन सम्प्रदायों का प्रभाव इतना व्यापक हो उठता है कि प्राचीन सभ्यता की नींव डगमगाने लग जाती है। विशेषकर बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक महत्वपूर्ण था। परन्तु वैदिक सभ्यता के समर्थक साहस और धैर्य के साथ अपनी प्राचीन व्यवस्था में सुधार करके उसे पुनः नूतन रूप में स्थापित करते हैं। इस नूतन संशोधित सभ्यता को प्रायः सनातन (Classical) या शास्त्रीय भारतीय सभ्यता के नाम से संबोधित किया जाता है। इस सभ्यता का चरम विकास वाकाटक-गुप्त वंश के शासकों के काल में होता है। परन्तु मोटे तौर पर मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की सभ्यता को हम इसके अन्तर्गत रख सकते हैं। इस काल में न केवल भारतीय संस्कृति को नवीन रूप से विकसित ही किया गया बल्कि दूर दूर तक इसका प्रसार भी किया गया। अब हम इस युग की सभ्यता के प्रमुख अंगों का अध्ययन करेंगें।

(१) प्रशासन और समाज

शासन व्यवस्था :— विचारधीन युग विशाल राज्यों का युग था और कुछ विद्वानों की दृष्टि से साम्राज्यवादी युग था। इस युग में मुख्य रूप से दो

सेना का संगठन बहुत अच्छा था। उस युग की सेना-जल सेना, पदाति सेना, अश्वारोही सेना, रथारोही सेना तथा हाथियों की सेना में विभाजित थी। सैन्य प्रबन्ध के लिये एक पृथक परिषद् होती थी। मौर्यकाल में इस परिषद् में तीस सदस्य थे जो ६ विभागों में विभाजित थे। गुप्तकाल में भी इसी प्रकार की अन्य व्यवस्था थी जो सेना के प्रमुख अंगो के अतिरिक्त सेना का वेतन, रसद तथा अन्य आवश्यकताओं का प्रबन्ध करते थे।

न्याय व्यवस्थाः—इस युग में न्याय व्यवस्था का संगठन बहुत अच्छा था। सम्राट् न्याय की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायाधीश था। वह स्वयं न्याय के के क्षेत्र से बाहर था अर्थात् उसके विरुद्ध अभियोग उपस्थित नहीं किया जा सकता था। सम्राट् स्वयं भी अपीलों की सुनवाई करता था और निर्णय देता था। उस युग में दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के न्यायालय होते थे। मौर्यकाल में दीवानी को 'धर्मस्थ' तथा फौजदारी को 'कंटकशोधन' न्यायालय कहा जाता था। सम्राट् के नीचे न्याय मंत्री होता था। जिसके नीचे क्रमशः धर्मस्थीय, प्रदेष्टा, राजुक, पुरुष, युक्तास आदि न्यायाधीश होते थे। न्याय की अंतिम इकाई ग्राम पंचायत होती थी। निम्न न्यायालयों के विरुद्ध उससे उच्च न्यायालय में अपील की जाती थी। अंतिम अपील सम्राट् के पास की जाती थी। उस युग में आधुनिक वकील वर्ग की उत्पत्ति नहीं हुई थी। उस युग के नियम बहुत कठोर थे। न्याय के समय किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता था। झूठी गवाही देने वाले के अंग काट लिये जाते थे। गुरुतर अपराधों के लिए प्राणदंड दिया जाता था। छोटे-बड़े अपराधों के लिये नाक, कान, हाथ या पैर काट लिये जाते थे।

गुप्तकाल में भी देश का कानून परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार थे। चीनी यात्री फाइयान ने लिखा है कि राजा न प्राणदंड देता है, और न शारीरिक दंड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदंड दिया जाता है। कि बार बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। इस वृत्तान्त से मालूम होता है कि गुप्तकालीन न्याय व्यवस्था में काफी उदारता आ गई थी।

स्थानीय स्वशासन— भारतीय संस्कृति में स्थानीय स्वशासन का बहुत महत्व है। आदि काल से ही जनता को अपनी समस्याओं के समाधान हेतु पर्याप्त अधिकार मिलते रहे हैं। इस युग में भी स्थानीय स्वशासन का महत्व बहुत बढ़ा चढ़ा था। मेगस्थनीज ने मौर्यकाल के तथा फाइयानने गुप्तकालीन स्थानीय स्वशासन का उल्लेख किया है। मौर्यकाल में सम्पूर्ण नगर का प्रवन्ध एक स्थानीय संस्था के हाथ में था जिसे हम नगरपालिका कह सकते है। इस संस्था के सदस्यों की कुल संख्या तीस थी। ये सदस्य ६ समितियों में विभक्त थे। प्रत्येक समिति में ५ सदस्य होते थे और प्रत्येक समिति का कार्य पृथक पृथक था। पहली समिति उद्योग-व्यवसाय, दूसरी करवमूली, तीसरी जन्म-मरण के आँकड़ों, चौथी दस्तकारी पांचवी वाणिज्य-व्यापार तथा अंतिम विदेशियों के सत्कार आदि कार्यों की देख भाल करती थी। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक इमारतों का निर्माण तथा मरम्मत, स्थानीय स्वास्थ्य, सफाई आदि का प्रवन्ध सम्पूर्ण समितियों का सामूहिक कार्य था। नगरपालिका का निजी कोष भी था। वह अपराधियों को दंड देने की अधिकारिणी भी थी। नगरपालिका के सदस्य अवैतनिक होते थे।

नगरपालिका की भाँति प्रत्येक ग्राम के शासन के लिए एक ग्राम सभा होती थी। इस ग्राम सभा के सदस्य जनता द्वारा ही निर्वाचित होते थे। इन सभाओं को गांव का शासन चलाने के लिए काफी अधिकार प्राप्त थे। इन सभाओं का भी निजी कोष था। ये भी अपराधियों को दंड देती थीं। ग्राम की सफाई, स्वास्थ्य, सड़क, पुल, तालाव आदि का प्रवन्ध गाँव वालों के हाथ में था। गुप्तकालीन नगरों की व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है, परन्तु ग्राम व्यवस्था की प्रणाली से हम अनभिज्ञ नहीं है। ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग में पंचायत को 'पंच-मंडली' कहते थे इसका उल्लेख सांची के शिलालेख में किया गया है। गुप्तयुग में भारत की उस पंचायत प्रणाली का पूरी तरह प्रारम्भ हो चुका था, जो हजारों साल बीत जाने पर भी आंशिक रूप में अब तक भी सुरक्षित है।

सामाजिक अवस्था—इस युग की सामाजिक व्यवस्था परम्परागत

विचारों एवं मान्यताओं से जकड़ी हुई थी। जाति प्रथा उन्नति की ओर अग्रसर ही रही थी। यद्यपि गौतम और महावीर ने इस प्रथा पर भी भीषण आघात किया परन्तु फिर भी यह प्रथा जीवित रही और आज भी अपना तांडव नृत्य कर रही है। मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन समाज को कार्य की दृष्टि से सात भागों में विभाजित किया है। पहली जाति दार्शनिकों की है, जो संख्या में कम होते हुए भी समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं। यह वर्ग यज्ञ अनुष्ठान, बलि तथा शिक्षा आदि कार्यों को संपादित करता था। ये लोग भविष्य की घटनाओं को पहिले से ही बता देते थे। दूसरी जाति किसानों की है। इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये लोग कृषि कार्य करते है और राज्य को भूमि कर देते हैं। तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गड़रिये तथा सब प्रकार के चरवाहे आ जाते हैं। ये लोग न नगरों में बसते है और न गाँवों में, बल्कि जंगल में अपने डेरों में रहते हैं। चौथी जाति कारीगर लोगों की है। ये लोग नाना प्रकार के उद्योग-धंधे करते हैं। पांचवी जाति सैनिकों की है। शांतिकाल में यह वर्ग आलस्य तथा आमोद-प्रमोद में डूबा रहता है। छठी जाति निरीक्षक लोगों की है। ये लोग साम्राज्य में होने वाले सम्पूर्ण कार्यों, योजनाओं, षड्यंत्रों आदि की सूचना राजा को देते रहते है। सातवी जाति सभासदों तथा अन्य राजकर्मचारियों की है। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन सात वर्गों को हम क्रमशः ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल, श्वगणिक, कारु, शिल्प-वैदिक, भट, प्रतिवेदक, मंत्रि-सचिव कह सकते है। फाइयान ने भी गुप्तकालीन समाज का उल्लेख किया है। उसने चांडाल आदि अछूत जातियों का अच्छा विवरण दिया है। वह कहता है कि ये अछूत लोग नगर के बाहर रहते थे और नगर में आते समय हाथ में लकड़ी या घंटी लेकर चलते थे जिससे लोगों को मालूम हो जाय और वे उनके स्पर्श से बच सकें।

स्त्रियों की स्थिति:—मौर्यकालीन समाज में बहुविवाह की प्रथा का काफ़ी विकास हो चुका था। यूनानी लेखक मेगस्थनीज ने लिखा है—" वे (भारतीय लोग) बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं। कुछ को तो वे दत्त-चित्त सहधर्मिणी बनाने के लिए घर में लाते है और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिए।" इसी प्रकार कौटिल्य ने भी

लिखा है" पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ संतान उत्पन्न करने के लिए ही है।" उस युग में दहेज प्रथा का प्रचलन भी था; यद्यपि जनसाधारण इस प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखता था। पुरुष और स्त्री दोनों को पुनर्विवाह का अधिकार था परन्तु इसके लिए विशेष परिस्थितियों का तथा नियमों का उल्लेख मिलता है। जैसे यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या जिसके पुरुष सन्तान न हो, या बच्चे जीवित न रहते हों तो पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। इसी प्रकार पति के मरने पर' या पति के लापता हो जाने पर या असाध्य रोग से ग्रसित हो जाने पर सन्तानहीन पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार था। इस युग में नियोग प्रथा भी जारी थी अर्थात् पति की जीवित अवस्था में किसी अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार भी स्त्री को प्राप्त था। इनसे मालूम होता है कि स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। विशेष सन्तोषजनक नहीं थी। मेगस्थनीज ने तो स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी उल्लेख किया है। उन्हे विशेष स्वतन्त्रता नहीं थी और और घर के भीतर ही पुरुष के नियन्त्रण में रहना पड़ता था। शायद पर्दे की प्रथा का प्रचलन भी हो गया था।

गुप्तकालीन समाज का वृत्तान्त चीनी यात्री फाइयान से मिलता है उसने लिखा है कि देश में सुखशांति थी। प्रजा धनी थी। राज्य की ओर अनेक संस्थाएँ थी जिनका प्रधान उद्देश्य प्रजा की भलाई करना था। स्त्रि की स्थिति संतोषजनक थी उन्हें लड़कों की भांति ही शिक्षा दी जाती थी विवाह एक धार्मिक व पवित्र बन्धन माना जाता था। इस युग में संयुक्त परि वार की प्रथा थी। परन्तु लड़की को पिता की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मिलत था। कन्याओं की शादी में दहेज दिया जाता था। विवाह तेरह वर्ष की आ में (लड़की की आयु) कर दिया जाता था। विधवा विवाह की प्रथा प्रचलि थी परन्तु उच्चकुलों में विधवा विवाह घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। स प्रथा का प्रारम्भ इस युग में हो गया था। पर्दे की प्रथा भी चल पड़ी थ हूणों के आक्रमणों के पूर्व स्त्रियों को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी परन्तु ब में उन्हे घर के भीतर बन्द कर दिया गया। इस युग में अन्तर्जातीय विवाहों

भी उल्लेख मिलता है परन्तु शूद्रो के साथ बहुत कम सम्पर्क रखा जाता था।

भोजन और खान-पान:—इस युग के भारतीयो का भोजन सीधा सादा था। गेहूं, जौ, चावल; साग-सब्जी, फल-फूल तथा मासाहार प्रमुख थे। भोजन के लिये बहुत से पशु-पक्षियो को मारा जाता था। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिए अनेक पाचक होते थे। अशोक के समय में बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण मांसाहार बहुत कम हो गया था। परन्तु शराब का प्रचार जारी रहा। शराब बेचने व पीने के लिए बड़ी-बड़ी दुकाने होती थी। इन दुकानों में अलग २ कमरे होते थे। शराब के अतिरिक्त दुकानो पर ग्राहकों के भोग के लिए सुन्दर रूप वाली दासियां व वेश्याएं भी पेश की जाती थी। सार्वजनिक स्थानों पर बैठ कर शराब पीना मना था। फाइयान ने लिखा है कि देश में खाद्य-पदार्थ बहुत सस्ते थे। खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं थी। उस समय न तो कोई सूअर या मुर्गी पालता था और न देश में कहीं मांस और शराब की दुकानें थी। प्याज और लहसुन का भी उपयोग नही किया जाता था। चाण्डालो के सिवा भारत मे न कोई मदिरा पीता था और न प्याज तथा लहसुन खाता था। इसमे तो कोई सन्देह नही कि गुप्त कालीन समाज खान-पान की दृष्टि से मौर्य कालीन समाज से भिन्न था परन्तु फाइयान ने जो चित्र अङ्कित किया है उसमे अतिशयोक्ति की झलक दिखलाई पड़ती है।

आमोद-प्रमोद:—सनातन भारतीय सभ्यता के युग के निवासी आमोद प्रमोद को बहुत महत्व देते थे। यही कारण है कि इस युग मे आमोद-प्रमोद के अनेक साधनों का उल्लेख मिलता है। आमोद-प्रमोद के साधनों में-नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध, शिकार, घुड़दौड़ चौपड़ आदि प्रमुख थे। बहुत से व्यक्तियों का व्यवसाय ही अन्य लोगों का जी बहलाना था। ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीविक, कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाला) मदारी और चारणों का उल्लेख मिलता है। ये लोग नगर के बाहर या समीप अपना तमाशा दिखाया करते थे। 'नाट्य' गृहों का भी निर्माण हो चुका था और

नाटकों का अभिनय भी किया जाता था। तमाशा दिखाने वालों को राज्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी और तमाशा देखने वालों को शुल्क चुकाना पड़ता था। इनके अतिरिक्त आमोद-प्रमोद के अन्य साधन भी थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सनातन सभ्यता (classical Civilisation) के युग में प्रशासन व्यवस्था काफी संगठित थी और देश के अधिकांश भाग में शांति होने के कारण लोगों का सामाजिक जीवन शान्त एवं उन्नत था। इस युग में बहुत सी सामाजिक परम्पराओं एवं संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिसका पालन आज भी हो रहा है।

(२) बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

सनातन काल में जहाँ एक तरफ प्रशासन प्रणाली का ठोस संगठन प्राप्त हुआ और सामाजिक परम्पराएं निश्चित हुईं, वहीं दूसरी तरफ बौद्धिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में नवीन प्रयोग किए गये और इन प्रयोगों के परिणाम स्वरूप ऐसी २ वस्तुओं एवं कलाकृतियों का निर्माण हुआ जिन्होंने भारतीय सभ्यता को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया और इन्हीं कलाकृतियों की प्रेरणा से भारतीय सभ्यता विदेशी आक्रमणों के उपरान्त भी जीवित रही।

शिक्षाः—सनातन युग में बौद्धिक विकास की आधारशिला उस समय की शिक्षण पद्धति थी। शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित तथा ब्राह्मण करते थे। शिक्षा राज्य की ओर से नहीं दी जाती थी परन्तु शिक्षकों को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी और विद्यार्थियों से शुल्क नहीं लिया जाता था। राज्य अध्यापकों को करमुक्त भूमि प्रदान करता था जिससे कि शिक्षकों का जीवन-निर्वाह सुगमता से हो सके। इस युग का प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र तक्षशिला था। बाद में नालन्दा, विक्रमपुर, पाटलीपुत्र आदि शिक्षण संस्थाओं की उन्नति हुई। इनके अतिरिक्त भारत में अनेक शिक्षा केन्द्र थे जिनमें काशी, कौशल भी प्रमुख थे। इन शिक्षा केन्द्रों में तीनों वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति-विद्या, मंत्र-विद्या, प्राणियों की बोलियों को समझने की विद्या और चिकित्सा शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी।

साहित्य—साहित्य की दृष्टि से सनातन युग को दो हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। मौर्यकालीन साहित्य और गुप्तकालीन साहित्य। मौर्यकाल में कौन-२ सी रचनाएं लिखी गई थी, यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। इस युग के अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषा में लिखे गये थे। इतना तो हम निर्विवाद कह सकते है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भद्रबाहु का 'अल्प-सूत्र' तथा बौद्ध 'कथा-वस्तु' इसी काल में लिखे गये थे। अर्थशास्त्र अपने युग का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और राजनीति पर एक अमूल्य ग्रन्थ है। भद्रबाहु ने अपने ग्रन्थ में प्रारम्भिक धर्म ग्रन्थों का भाष्य लिखा। न्याय तथा मीमांसा ग्रन्थों की रचना भी शायद इसी काल में प्रारम्भ हुई थी। इस युग में 'व्याडि' तथा कात्यायन नाम के दो बड़े व्याकरणाचार्य हुए हैं। इसी युग में महाभारत का पुनः संस्करण भी आरम्भ हो गया था। इस युग में देववाणी संस्कृत का उतना सम्मान नहो रह गया था जितना कि वैदिक या महाकाव्य काल में था। गुप्तकाल में संस्कृत का प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि बौद्ध विद्वान् भी संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ की रचना करने लगे। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंध आदि बौद्ध विद्वानों ने पाली या प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का ही अधिक आदर किया। धीरे २ प्राकृत भाषा का पतन होने लगा और संस्कृत भाषा अपने पूर्ण ऐश्वर्य में दिखाई देने लगी। यह संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग था। सम्राट् समुद्रगुप्त 'कविराज' था और उसकी रचनाओं का विद्वज्जन अनुकरण करते थे। कवि हरिषेण के गद्य और पद्य में जितना शब्द-सौष्ठव था उतना ही अर्थ-गौरव। कवि वत्स-भट का भी संस्कृत साहित्य में विशेष महत्व है।

संस्कृत की काव्य शैली की विचार दृष्टि से कविकुल गुरु कालिदास का इसी युग में होना अनुमान किया जाता है। गुप्तकालीन भारतीय साहित्यिक प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार इस कवि शिरोमणि की कृतियों में स्पष्ट झलकता है। ऋतु संहार, मालविकाग्नि मित्र, कुमार संभव, मेघदूत, शकुन्तला तथा रघुवंश कालिदास की प्रधान रचनाएं हैं। सुन्दरता, सरलता, भावुकता, मानवीय एवं प्रकृति-चित्रण, सामाजिक आदर्श तथा लोकहित की दृष्टि से कालिदास की

रचनाएं अमूल्य हैं। भास इस युग का उच्चकोटि का नाटककार तथा कवि था। भास की भाषा तथा शैली अत्यन्त मनोहर है। उसके कुल १३ नाटक उपलब्ध हुए हैं। शूद्रक ने 'मृच्छ कटिक' विशाखदत्त ने 'मुद्रा राक्षस' तथा 'देवी चन्द्रगुप्त' भारवि ने 'किरातार्जुन' की रचना की। इन लेखकों, कवियों तथा नाटककारों की प्रतिभा से संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान हुआ।

विज्ञानः—सनातन युग में विज्ञान की भी प्रगति हुई और ज्योतिष, गणित, वैद्यक, रसायन विज्ञान, पदार्थ विज्ञान तथा धातु विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। आर्यभट्ट के आर्यभटीयम् ग्रन्थ में वृत्त तथा त्रिकोण का उल्लेख है। अंकगणित में दशमलव भिन्न का अन्वेषण भी गुप्तकाल में हुआ था। संक्षेप में, रेखागणित, बीजगणित तथा अंकगणित तीनों शाखाओं का पूर्ण विकास हुआ। ज्योतिष विज्ञान में भी अत्यधिक उन्नति हुई। राशि तथा लग्न का अन्वेषण, सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण का पता लगाया। आचार्य वराहमिहिर की पञ्च सिद्धांतिका, वृहज्जातक, वृहद् संहिता, लघु जातक, ज्योतिष शास्त्र की महत्वपूर्ण रचनाएं थीं। वैद्यक-विज्ञान का भी विकास हुआ और असंख्य औषधालयों का निर्माण किया गया। नालन्दा विश्वविद्यालय में वैद्यक की शिक्षा का प्रबन्ध था। नागार्जुन प्रतिभावान् रसायनवेत्ता था। लौहस्तम्भ धातु विज्ञान एवं रसायन विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। चरक तथा सुश्रुत ने लोह-मिश्रित औषधियों का उल्लेख किया है।

कला की उत्पत्तिः—सनातन युग की कला के उद्गम केन्द्र के बारे में कलाविज्ञों की विभिन्न राय है। परन्तु यह सत्य है कि मौर्यकाल में इसकी प्रेरणा शक्ति विदेशी कला थी। यह विदेशी शक्ति चाहे एचीमिनियन शैली रही हो परन्तु मौर्य कलाकारों ने उसकी पूर्ण नकल कभी नहीं की। उस युग की कला की आत्मा तथा शरीर दोनों भारतीय थे। गुप्तकाल में कला के क्षेत्र में विदेशी स्त्रोत के प्रभाव को पूर्ण रूप से हटा दिया गया और विशुद्ध भारतीय शैली का विकास किया गया। अब हम पहले मौर्यकालीन और बाद में गुप्त-कालीन कला का अध्ययन करेंगे।

मौर्यकालीन कला सम्राटों एवं राज परिषद् के अन्तर्गत विकसित हुई थी। परन्तु अशोक के अथक प्रयत्न एवं कलात्मक रुचि एवं ज्ञान ने मौर्य कला

को उन्नति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। मौर्य कालीन कला को चार प्रमुख हिस्सों में विभाजित किया जाता है स्तूप, स्तम्भ, गुहा भवन तथा भवन, और राजप्रसाद। स्तूपों का निर्माण ठोस ईंटों और पत्थरों द्वारा होता था। तत्कालीन शिल्प कला की सूक्ष्म पद्धति से उनके गुम्बजों की रचना की गई थी। कोई कोई स्तूप ७७।। फीट लम्बा होता था और उसका व्यास १२१।। फीट तथा गुम्बद के मेहराबदार पत्थरों की ऊंचाई ११ फीट होती थी। सांची का महान् स्तूप आज भी उस युग की उन्नत कला की स्मृति को ताजा कर रहा है। स्तम्भ तीन हिस्सों में विभाजित किये जा सकते हैं—भूगर्भ भाग, तना और शीर्ष भाग। प्रथम भाग जमीन में गाड़ा जाता था। द्वितीय भाग निम्न भाग से शीर्ष की तरफ अंडाकार रूप में था और इसकी लम्बाई लगभग ५० फीट होती थी और इस पर चित्ताकर्षक लेप किया जाता था। यह तना एक ठोस पत्थर का होता था। इसके ऊपर केवल एक ही पत्थर को काटकर शीर्ष भाग लगाया जाता था। शीर्ष भाग पर बैल, सिंह, कमल के पुष्प आदि की आकृतियां अंकित होती थी। इसके नीचे धर्म-चक्र परिवर्तन का चित्र अंकित होता था। उस युग में जबकि यातायात के साधन उन्नत नहीं थे, विज्ञान की उन्नति नहीं हुई थी, शिल्पकारों ने कैसे कठोर पाषाणों को, भारी वजन के पत्थरों को जिनका वजन लगभग ५० टन होता था, दूर स्थानों से लाकर तराशा होगा, एक आश्चर्य की बात है। इस पर अंकित कलाकृतियां तो सजीव प्रतीत होती है इन मूर्तियों में सृजन शक्ति का ज्ञान एवं कलात्मक शैली का सौन्दर्य एवं आकर्षण निखर उठा है। इसके अतिरिक्त गुहाभवनों का कलात्मक निर्माण भी आश्चर्य की वस्तु है। ये गुहा भवन लगभग ५० फीट लम्बे और २० फीट चौड़े होते थे और इनमें विभिन्न प्रकार के कमरे होते थे। इनकी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी होती थी। नागार्जुन तथा बाराबर की पहाड़ियों पर असंख्य गुहा भवन बने हुए है जो मौर्य कालीन कला की उन्नति का ज्ञान प्रदान करते हैं।

गुप्तकालीन कलाकृतियाँ विदेशी आक्रमणों के परिणाम स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है परन्तु फिर भी अवशिष्ट कलाकृतियों के सूक्ष्म अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में भारत की ललित कलाएं उन्नत्ति की

पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जो कुछ भी छोटी मोटी इमारतें उपलब्ध हैं वे दुर्गम स्थलों में ही मिली हैं। झांसी जिले के देवगढ़ गाँव का विष्णु मंदिर गुप्तकालीन है। इसकी दीवारों के पत्थरों पर तत्कालीन शिल्पकला के उत्तम नमूने अंकित हैं। इनमें योगीराज शिव का शिल्प चित्र बड़ा ही अनूठा है जिसमें शिव की मूर्ति और उसकी मुद्रा और भाव-भंगी बड़े चारु रूप में प्रदर्शित की गई है। कानपुर जिले के भिटारगांव का विशाल मंदिर भी अनूठा है। मध्यभारत के नागोद राज्य में भुमरा गांव का प्राचीन शिव मन्दिर भी कला का ज्वलन्त उदाहरण है। भेलसा के पास उदयगिरि की गुफाएं भी उल्लेखनीय हैं। इन गुफाओं के द्वार पर कई मूर्तियां अंकित हैं। उछलते हुए सिंहों की जोड़ी का अंकन बहुत निपुणता के साथ किया गया है। इलाहाबाद के मनकुंवर गाँव से एक बुद्ध प्रतिमा मिली है। बुद्ध देव की यह मूर्ति शिल्पकला का सर्वांग-सुन्दर नमूना है। सारनाथ के 'धामेक' स्तूप पर बेल-बूटों की सजावट भी नेत्रग्राही है। गुप्तकाल की मूर्तियों में गम्भीरता, शांति और चमत्कार है और कलात्मक रचना सौन्दर्य के साथ ही साथ विविध भाव-व्यंजना देखने में आती है। शिल्पकला रूपप्रधान तथा भाव प्रधान थी। गुप्तकाल के शिल्पी लोहे, तांबे आदि धातुओं की वस्तुएं बनाने में भी बड़े निपुण थे।

अजन्ता की गुफाएं चित्रकला के ज्ञान का भंडार है। इनमें २४ विहार और ५ चैत्य बने हैं, जिनमें तरह की दीवारों, भीतरी छतों या खम्भों पर चित्र अंकित हैं। अजन्ता की गुफाएं दक्षिण हैदराबाद के समीप हैं। चित्रकला के मर्मज्ञ पण्डितों ने अजन्ता के चित्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनमें अनेक प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभूषण चेहरों के रंगरूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाये गये हैं। इसी तरह पशु-पक्षी, पत्र-पुष्प आदि के चित्र अति सुन्दर हैं। कलाविद हेवल ने लिखा है—"यूरोपियन चित्र मानो पंख कटे हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौन्दर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊंचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौन्दर्य प्रकट करती है।" भाव प्रधान होने के कारण गुप्त शिल्पकला की पर्याप्त प्रशंसा की गई है; किन्तु उसकी स्वाभाविकता, अंग-

सौन्दर्य, आकार-प्रकार; और सजीव रचना शैली आदि गुण भी उतने ही प्रशंसनीय है।

धार्मिक चिन्तनः—सनातन युग के प्रथम भाग में बौद्ध धर्म अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया परन्तु बाद में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में लिखा है—"यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे बलि के पशु को छुरी न धसाकर अपितु गला घोंट कर मारते हैं; जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेंट में दी जाय। एक प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोड़ता है, बलि प्रदान करना है।" इससे यह विदित हो जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में यज्ञ, श्राद्ध बलि आदि वैदिककालीन धार्मिक विश्वास प्रचलित थे। 'अर्थ शास्त्र' के अनुशीलन से मालूम हो जाता है कि मौर्य युग में भिन्न २ देवताओं की पूजा प्रचलित थी और उनके लिए अलग २ मन्दिर बने होते थे। तीर्थ-यात्रा का भी रिवाज था। देवताओं और मन्दिरों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनके प्रति किसी प्रकार के अपशब्द कहने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। लोग तन्त्र-मन्त्र में विश्वास रखते थे। अशोक के शासनकाल में धर्म के क्षेत्र में काफी परिवर्तन हुआ। अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म का अद्भुत विकास हुआ और वह राजधर्म बन गया। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को शिला लेखों में उत्कीर्ण कराया गया। बड़े २ विहार, मठ बनाये गये तथा बौद्ध भिक्षुओं को बहुत सा धन दान में दिया जाने लगा। इसका जन साधारण पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा और बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ। यही वह समय था जब कि भारत के बाहर बौद्ध धर्म का प्रसार किया गया। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य धर्मों का लोप हो गया था। वैदिक धर्म और उसकी उपशाखाएँ—शैव धर्म, भागवत धर्म, आदि का भी प्रचार हो रहा था। इसके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी थे और अनेकों देवताओं की पूजा की जाती थी। जैन धर्म का प्रभाव कम पड़ गया था परन्तु उसका लोप नहीं हुआ था और अब भी बहुत बड़ी संख्या में लोग उसको मानते थे। आजीविक सम्प्रदाय भी फल-फूल रहा था। अशोक ने

इस सम्प्रदाय के अनुयायिओं को गुफाएं भेंट की थी। वास्तव में सनातन युग के शासक उदार थे। उन्होंने स्वयं चाहे किसी धर्म को स्वीकार किया हो, अन्य धर्मों के प्रति उनकी नीति उदार थी। किसी धर्म के प्रति दमनकारी नीति का प्रयोग नहीं किया गया था। विशेष कर अशोक ने तो एक विश्व धर्म का ही प्रसार किया, जिसमें शिष्टता, नैतिकता तथा व्यक्ति व समाज के आचरण पर ही अधिक जोर दिया गया था।

अभी हम यह उल्लेख कर चुके है कि अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म की अत्यधिक उन्नति हुई जिसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मण धर्म का प्रभाव घट गया था। ब्राह्मण धर्म शांत नही बैठा रहा परन्तु नई आवश्यकताओं के अनुसार अपने में सुधार करता रहा। उसने बौद्ध क्रांति तथा बौद्ध धर्म की उन्नति के मूल तत्वों को समझा और इन तत्वों का आत्मसात् करने का प्रयत्न भी किया। ब्राह्मणत्व के इस संशोधित और नवीन रूप का समय गुप्त काल माना जाता है। यही वह काल है जब आर्य बदल कर हिन्दू तथा ब्राह्मण धर्म परिवर्तित अथवा परिपक्व होकर हिन्दुत्व हो जाता है। इसी युग में महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) ने लोक कथाओं का ऐसा स्वरूप ग्रहण किया कि गूढ़ ज्ञान चरित्रों, घटना-वर्णनों तथा संवादों में मूर्तिमान हो उठा और साधारण जनता की निधि बन गया। इसके अतिरिक्त भारत की विभिन्न जातियों में जो भी देवी-देवता थे, वे सब इस नूतन हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं में सम्मिलित कर लिये गये। किसी को यह सोचने का अवसर ही न मिला कि ये किसी अन्य धर्म में है। सभी हिन्दू धर्म की तरफ झुकने लगे। कार्तिकेय और गणेश इसी काल में हिन्दू-देवता के पद पर आये। राम एवं कृष्ण इसी काल में अवतार के रूप में प्रसिद्ध हुए। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि "जाग्रत हिन्दुत्व ने एक नये साहस का परिचय दिया और वह उन अंशों को आगे लाने लगा जिनमें ब्रह्मा की साकरता का आख्यान था; जिनमें यह कहा गया था कि सृष्टि ब्रह्मा की रचना है और ब्रह्म से प्रेम भी किया जा सकता है, उसकी प्रार्थना भी की जा सकती थी। यह परम्परा गीता में भली भांति प्रतिपादित हो चुकी है। यही से ब्रह्मा, विष्णु; महेश नामक "त्रिमूर्ति" की

कल्पना चली । एक ही ईश्वर के तीन रूप-एक रचयिता एक पालक और एक संहारक । यह हिन्दुत्व की सामाजिकता का प्रोज्जवल प्रमाण था ।" इसके अतिरिक्त जाग्रत हिन्दुत्व ने पूजा की पद्धति में भी परिवर्तन किया । यज्ञवेदी के स्थान पर मन्दिरों को लाया गया । मूर्ति-पूजा का विकास हुआ । हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान पूर्ण हुआ ।

परन्तु जिस प्रकार बौद्ध धर्म की उन्नति के समय अन्य धर्मों का लोप नही हुआ था, उसी प्रकार हिन्दुत्व की उन्नति के समय मे अन्य धर्मों का प्रभावक्षीण अवश्य हो गया था परन्तु उनका लोप नहीं हुआ था । गुप्तकाल के शासक भी उदार थे और उन्होने भी सभी धर्मों के प्रति उदार नीति का आश्रय लिया । फाइयान ने लिखा है कि बौद्ध धर्म अब भी उन्नति की ओर अग्रसर था । मथुरा उसका प्रधान केन्द्र था । इसी प्रकार गुजरात जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था । अन्य सम्प्रदाय भी विकसित हो रहे थे । साधारण जनता अब भी यज्ञ, अनुष्ठान, श्राद्ध, तीर्थ आदि में विश्वास रखती थी । अब भी तंत्र-मंत्र, जादू टोना आदि अंध विश्वासी मान्यताएँ प्रचलित थीं । अब भी शिक्षण संस्थाएं धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन पर जोर देती थीं । सब कुछ वही था । हां, राजधर्म बदल गया था ।

(३) विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध

भौगोलिक स्थिति का प्रभावः—प्राचीन काल से ही भारत का विदेशों से सम्पर्क था । इस सम्पर्क का कारण भारत की अनुकूल भौगोलिक स्थिति थी । भारत एशिया महाद्वीप का अंग है । इसका दक्षिणी भाग हिन्द महासागर की तरंगों से अठखेलियाँ करता है तो पश्चिम में अरब सागर और पूर्व में बंगाल की खाड़ी है । उत्तर-पश्चिम में खैबर और बोलन के दर्रे है जिनकी सहायता से पश्चिम की तरफ अग्रसर हुआ जा सकता है । इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों को देखते हुए हम कह सकते है कि प्राचीन काल से ही भारत का एशिया के अन्य देशों से सम्बन्ध रहा होगा । हिन्द महासागर में स्थित छोटे-बड़े द्वीपों से व्यापार-सम्बन्ध रहे होंगे । अरब-सागर तथा खैबर और बोलन के दर्रों की

सहायता से मध्यएशिया और पश्चिमी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहे होंगे। यदि हम यह कहें कि भारत पूर्व और पश्चिम में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने में शृंखला का कार्य करता था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

बृहत्तर भारतः—सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों के कारण धीरे धीरे भारत का एक विशाल सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित हुआ, जिसे 'बृहत्तर भारत' कहा जाता है। हमारे पूर्वजों ने न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में शानदार सफलताएं प्राप्त की थीं, बल्कि सांसारिक कर्मक्षेत्र में भी वे दुनिया की जातियों के अगुआ रहे थे। उन्होंने जो सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति की उसे अपने तक ही सीमित न रखा बल्कि दुनियां के दूर-दूर के देशों में पहुंचाया जिससे वहां के लोग भी उससे लाभ उठा सके। इस महान् प्रयास में जहां साधारण भारतीय नर-नारियों ने हिस्सा लिया, वहां राजाओं और राजकुमारों, व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों, साधुओं और सन्तों तथा विद्वानों ने भी अपने जीवन अर्पित किये। जहां जहां ये प्रचारक जाते थे, वहां वहां इनके साथ इंजीनियर, मूर्ति-निर्माता, वास्तु-वेत्ता, चित्रकार, चिकित्सक और अन्य कुशल शिल्पी भी पहुँचते थे और ये लोग अपनी छोटी २ नई बस्तियां (उपनिवेश) बसा लेते थे। इन नई बस्तियों में भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएं स्थापित की गई और नवीन नगरों, नदियों और पर्वतों के नाम भारतीयों ने अपनी प्रिय मातृभूमि में प्रचलित नामों में से ही रखे, ताकि मातृ-भूमि के साथ मानसिक सम्बन्ध सदा के लिये कायम रहे। अपने पूर्वजों के यह महान् कार्य देख कर हमारा मस्तक, उनके साहस, सूझ-बूझ, कर्मठता और देश प्रेम के प्रति श्रद्धा नत हो जाता है।

प्रागैतिहासिक काल में विदेशों से सम्पर्कः—भारत का विदेशों के साथ सम्पर्क पाषाण युग से चला आ रहा है। पाषाण युग के प्राप्त अवशेषों के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीयों का पश्चिम तथा मध्य एशिया, चीन, हिन्द चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह के लोगों से घनिष्ठ सम्पर्क रहा होगा। सिन्धु घाटी के अवशेषों की मिश्र, सुमेरिया आदि देशों की सभ्यता के अवशेषों के साथ समानता भी इस बात की प्रतीक है कि आज से ५,००० वर्ष पूर्व के युग

में भारतीयों का मिश्र तथा मेसोपोटेमिया के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। द्राविड़ तथा वैदिक आर्य भारत के मूल निवासी नही थे। वे बाहर से आये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि इन विदेशी जातियो का अपने मूल निवासस्थान के बन्धुओं के साथ सम्बन्ध रहा होगा। पुराणों की कल्पनाओं को यदि सत्य माना जाय तो हमें विश्वास करना पडेगा कि उस युग में भी भारतीयों ने बहुत से उपनिवेशों की स्थापना की थीं। जैसे पश्चिमोत्तर के पर्वतीय भाग में, सुमेरु में, मध्य एशिया में आदि आदि।

लंका से सम्पर्क:—भारत तथा लंका का पारम्परिक सम्बन्ध पौराणिक गाथाओं मे तो अत्यन्त प्राचीन है ही किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत और लंका की घनिष्टता बड़ी प्राचीन है। सबसे प्राचीन ऐतिहासिक संपर्क अशोक के समय का प्राप्त होता है जब कि अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा (कुछ के अनुसार ये अशोक के भाई-बहिन थे) बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ लंका भेजे गये थे। ये दोनों अन्य भिक्षुओ के साथ बौद्ध गया के बौद्ध-वृक्ष की एक टहनी लङ्का ले गये थे। इसी संपर्क के परिणामस्वरूप लंका बौद्ध धर्म का पूर्ण रूप से अनुयायी बन गया। बौद्ध धर्म ने लङ्का को ब्राह्मी लिपि तथा पाली भाषा प्रदान की थी। लंका मे साहित्य, कला, धर्म सभी क्षेत्रों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की छाप है।

ब्रह्मा से सम्बन्ध:—भारत ने ब्रह्मा या बर्मा को भी प्रभावित किया है। ब्रह्मा का भारतीय नाम 'सुवर्ण भूमि' था। इसका दक्षिणी भाग 'श्रीक्षेत्र' कहलाता था। बौद्ध धर्म के भिक्षु ब्रह्मा भी गये। सर्व प्रथम सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचारकों को भेजा। वहाँ उन्होने बौद्ध धर्म का प्रचार किया और सम्पूर्ण बर्मा को बौद्ध धर्मावलम्बी बना लिया। अशोक के पूर्व की भी कई विष्णु की मूर्तियां यहां पाई जाती हैं। ईसा की १३ वी शताब्दी में बौद्ध भिक्षुओ ने लंका के बौद्ध विचारकों की रीति का प्रचार किया। उनकी भाषा, लिपि तथा धर्म पर भारतीयता की गहरा प्रभाव है। आज भी बर्मा भारत के साथ कदम उठा कर चल रहा है।

चीन पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव:—चीन तथा भारत का सम्पर्क भी अति प्राचीन है। भारत और चीन का घनिष्ट सम्पर्क बौद्ध धर्म के

प्रचार के कारण ही संभव हो सका था। चीन में बौद्ध धर्म का संदेश ले जाने का श्रेय कश्यप मातंग तथा धर्म रत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को प्रदान किया जाता है। अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार करने के लिये भारतीय धर्मदूतों ने बौद्ध धर्म ग्रन्थों का चीनी भाषा में रूपान्तर करना आरम्भ किया और लगभग ३५० ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला। जब चीन निवासियों को बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का ज्ञान हुआ तो अनेकों चीनी महात्मा जिनमें फाइयान, ह्वेनसांग और इत्सिंग प्रमुख थे, भयंकर यातनाओं को सहन कर बौद्ध ग्रन्थों की प्राप्ति, बौद्ध धर्म के अध्ययन तथा अपने धार्मिक गुरु की जन्म भूमि के दर्शन करने भारत में पधारे। आज यह कितने आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म का जन्म दाता देश भारत अपने बौद्ध धर्म को भूल गया किन्तु ५० करोड़ की आबादी वाला साम्यवादी चीन आज भी बौद्ध धर्म का अनुयायी है। चीन तथा भारत के इस धार्मिक संबंध के परिणाम स्वरूप इन दोनों देशों में राजनैतिक तथा व्यावसायिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया और जल तथा स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होने लगा। इन सम्बन्धों का सामूहिक परिणाम यह हुआ कि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का चीन में खूब प्रचार हुआ।

पूर्वी द्वीप समूहः—भारतीय सभ्यता तथा धर्म का सबसे गहरा प्रभाव पूर्वी द्वीप समूह के मुख्य-मुख्य टापू जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि पर पड़ा और यह प्रभाव आज भी विद्यमान है। भारतीय मूर्तियाँ, संस्कृत के लेख, भारतीय देवताओं की मूर्तियां, भारतीय संस्थाएं व रीति-रिवाज तथा पौराणिक गाथाएं आज भी इन द्वीपों में पाई जाती हैं। नगरों के नाम, पुरुषों तथा नारियों के नाम भी भारतीय नामों से मिलते जुलते हैं।

(क) चम्पाः—चम्पा का प्राचीन राज्य वर्तमान अनाम के स्थान पर था। यहाँ पर पूर्वोत्तर बिहार के राजवंश के लोगों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। यह राज्य पहली शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक बना रहा। इस वंश की राजधानी अमरावती थी। इस राज्य के प्रमुख राजा थे—जय-परमेश्वरदेव, रुद्रवर्मन, हरिवर्मन, जयइन्द्र वर्मन आदि। बाद में इस्लाम के प्रचार ने चम्पा राज्य को नष्ट कर दिया।

(ख) कम्बुज: – पूर्वी द्वीप समूह मे चम्पा के अतिरिक्त दूसरा भारतीय राज्य काम्बोज या कुम्बज था । वर्तमान काल मे इसका नाम कम्बोडिया है । कहा जाता है कि दक्षिण भारत के कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने यहा हिन्दू राज्य की स्थापना की थी । उसने सोमा नामक नाग कन्या से विवाह किया था। इसी से इस वंश को सोम-वंश कहते हैं । चीनी लोग इस हिन्दू राज्य को फुनान कहते थे । इसकी स्थापना पहली या दूसरी शताब्दी मे हुई थी । कुछ इतिहासकारों की राय में सूर्य वंश के राजपूतो ने इस राज्य की स्थापना की थी । एक समय कम्बुज हिन्द चीन का सबसे शक्ति शाली राज्य बन गया था और यहाँ के भारतीय राजाओ ने १५ वी शताब्दो तक हिन्द चीन मे राज्य किया । कम्बुज पर भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का बहुत प्रभाव पडा था । यहाँ पर सर्व प्रथम शैव धर्म का प्रचार हुआ । शिव की पूजा, शिव-मूर्ति तथा शिव-लिंग दोनो रूपों में की जाती थी । कम्बुज निवासी उमा, भवानी, गौरी आदि की भी पूजा करते थे । शिव के बाद दूसरा स्थान विष्णु को प्राप्त था । शैव तथा वैष्णव धर्म के साथ साथ बौद्ध धर्म का भी प्रचार हो रहा था परन्तु प्राधान्य हिन्दू धर्म का ही रहा । यज्ञादि का भी प्रचार था । हिन्दू साहित्य का भी अध्ययन किया जाता था । अंगरकंरथार आदि के प्रसिद्ध मन्दिर भारतीय संस्कृति के अखण्ड चिन्ह है । चतुर्भुज ब्रह्म का स्तूप कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है ।

(ग) मलाया: मलाया प्रायद्वीप मे भी हिन्दू राज्यो तथा भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ । सर्वप्रथम शैलेन्द्र वश ने आठवी शताब्दी ई० मे हिन्दू राज्य की स्थापना की । इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बोर्नियो भी सम्मिलित थे यहाँ के शासक 'महाराज' की उपाधियाँ धारण करते थे । शैलेन्द्र वंश के राजा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे । उन्होंने बहुत से स्तूपो, मन्दिरो तथा मूर्तियों का निर्माण कराया था। तेरहवीं शताब्दी में इस वंश का अन्त हो गया ।

(घ) जावा:—शैलेन्द्र वंश के पतन के उपरान्त मलाया प्रायद्वीप में जावा की शक्ति का विकास हुआ । जावा मे चौथी शताब्दी में ही हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी । परन्तु शैलेन्द्रवंश ने उस पर अपना अधिकार कर

लिया था। तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में सम्राट् विजय ने एक नये राजवंश की स्थापना की। जावा में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। पहिले वहां हिन्दू धर्म ने प्रवेश किया था परन्तु कालान्तर में बौद्धधर्म का प्रावल्य हो गया। इस समय भी जावा मे सहस्रों मंदिरों के भग्नावशेष उपलब्ध हैं। भारतीय ग्रन्थों की अनेक पांडुलिपियां भी उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के ग्रन्थ यहाँ अत्यधिक लोकप्रिय थे।

(ङ) मलक्का और बाली:—१५ वी शताब्दी ई० में मलक्का में एक हिन्दू सामन्त ने हिन्दू राज्य की स्थापना की। धीरे धीरे मलक्का एक शक्तिशाली राज्य बन गया और व्यापार का भी विकास हुआ। यद्यपि इस बात का निश्चित ज्ञान नहीं है कि बाली द्वीप में किसने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी परन्तु इतना सत्य है कि ६ वी या ७ वी शताब्दी में हिन्दू राजा राज्य करते थे और बौद्ध धर्म की वहां पर प्रमुखता थी। बाली द्वीप का सबसे बड़ा महत्व यह है कि जहाँ अन्य द्वीपों ने भारतीय संस्कृति को नष्ट कर दिया वहाँ बाली में भारतीय संस्कृति अब भी जीवित है। बोर्नियों (वकुनपुर) में भी भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है। बोर्नियों तथा बाली का धर्म हिन्दुत्व का ही एक स्वरुप है। यहां पर देव मन्दिरो में मूर्तियों की पूजा होती है। यहां की स्थापत्य तथा मूर्ति कला भी भारतीय कला के आधार पर विकसित हुई है। यहाँ के रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, खान-पान, आमोद-प्रमोद, भाषा-साहित्य पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप अङ्कित है।

मध्यएशिया तथा अफगानिस्तान:—प्राचीन काल से ही अफगानिस्तान, काशगार, खोकन्द, (खोतान) चीनी तुर्किस्तान आदि देशों में भी भारतीय धर्म, लिपि, संस्कृति आदि का प्रचार हुआ है। एशिया का मध्यभाग एक ऐसा स्थान रहा है जहाँ विभिन्न देशों की सभ्यताएं तथा संस्कृतियाँ आकर मिलती रही है। इसी मिली हुई संस्कृति पर भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस सभ्यता का प्रभाव उत्तरी भारत के उस समय के संस्कृति तथा विद्या के केन्द्र गांधार का पड़ा है। यहाँ बौद्ध मूर्त्तियां, स्तूप, चित्र तथा बड़े-बड़े पुस्तकालय प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध भारतीय कवि अश्वघोष के नाटकों की प्रतियां भी मध्य एशिया के स्थानों की खुदाई के समय प्राप्त हुई है। खोतान

बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। चीन तथा भारत को एकता की शृंखला में जोड़ने वाली कड़ी थी।

तिब्बतः—प्राचीन काल में भारत और चीन का सम्पर्क तिब्बत देश के माध्यम से था। इस लिए चीन आने से पूर्व भारतीय धर्म प्रचारक तिब्बत पहुँचे। तिब्बत के राजा तथा जनता ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। अशोक के प्रयत्नों से ही यह संभव हो सका था। इसके अतिरिक्त इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध भी था। बहुत से भारतीय विद्वानों ने तिब्बत देश की यात्रा की और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। आज भी तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रभुत्व है और भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी परिलक्षित है।

पश्चिमी संसार—यूनान तथा रोमः—भारतीय व्यापारी जलमार्गों द्वारा भी व्यापार करते थे। भारतीय सामान, भारतीय बन्दरगाहों से जहाजों पर लदकर यूनान को जाता था। इसके अतिरिक्त स्थल मार्ग से भी यूनान के साथ व्यापार होता था। सिकन्दर के आक्रमण से यूनान और भारत में सम्पर्क बढ़ा, जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति ने यूनानियों को प्रभावित किया। यूनानी दार्शनिकों ने कर्म वाद तथा पुनर्जन्मवाद की शिक्षा ग्रहण की। इसके अतिरिक्त अनेक यूनानी विद्यार्थी तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इस प्रकार यूनान पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

भारतीय व्यापारी रोम से भी व्यापार करते थे। रोम में उनका व्यापार खूब विकसित था। रोम की स्त्रियां मलमल की खूब मांग करती थी। विलास की सामग्री तथा पूर्वी द्वीप समूहों के गर्म मसाले भी खूब खरीदे जाते थे और रोम से लाखों सोने की मुद्रायें भारत आ जाती थी। कालान्तर में जिस ईसाई धर्म का रोम में प्रचार हुआ उसका प्रवर्तक महात्मा ईसा कई वर्षों तक उत्तर-पश्चिमी भारतीय सीमान्त में बौद्ध धर्म का अध्ययन करता रहा था और इससे प्रभावित होकर उसने ईसाई धर्म चलाया।

पश्चिमी संसार के अधिकांश निवासी आर्यों के वंशज हैं। अभी तक आर्यों के मूल निवास स्थान की समस्या को पूर्ण रूप से हल नहीं किया जा सकता है। परन्तु यदि इस सत्य को स्वीकार कर लिया जाय कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत ही था तो यह मानना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति

ने सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया था और भारत का पश्चिमी संसार के साथ हजारों वर्ष पहिले से सम्पर्क कायम था।

एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। भारत के निवासियों ने विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना की थी, परन्तु उन्होंने इन उपनिवेशों की स्थापना शक्ति के सहारे नहीं, विदेशियों का दमन करके नहीं परन्तु पारस्परिक समझौते की भावना से, भारतीय सभ्यता और संस्कृति को विदेशों में फैलाने की दृष्टि से, असभ्य जातियों को सभ्य बनाने की दृष्टि से की।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. सनातन युग से आप क्या समझते हो? उस युग के प्रशासन पर प्रकाश डालिये।
२. सनातन युग में समाज का क्या स्वरूप था? समझाइए।
३. इस युग की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर एक लेख लिखिये।
४. "गुप्तकाल हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान काल था।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं। अपने कथन के पक्ष में ठोस प्रमाण दीजिये।
५. 'वृहत्तर भारत' से आप क्या समझते हैं? विस्तार सहित समझाइए।
६. "पूर्वी द्वीप समूह की संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप अङ्कित है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

नवम् अध्याय

तुर्कों की विजय-इस्लाम का संघात (Impact of Islam)

अरबों का आक्रमण:—हर्ष की मृत्यु के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई और महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने अनेक छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना की। ये राज्य अपनी सीमाओं को बढ़ाने के लिये पारस्परिक युद्धों में संलग्न रहते थे जिसके कारण राज्य बनते, बिगड़ते और फिर बनते रहते थे। देश में जब इस प्रकार की अराजकता फैल रही थी; उसी समय (७१२ ई०) खलीफा के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण किया और इस आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति का एक नवीन विदेशी संस्कृति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रारम्भ में इस्लाम का प्रवेश भारत में शांतिपूर्ण हुआ था। अरबों के इस प्रसिद्ध आक्रमण के पूर्व अरब के सौदागर दक्षिण भारत में व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने के लिये आ गये थे। यद्यपि अरबों के इस आक्रमण का कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि प्रथम तो इन्होंने सिन्ध जैसे रेगीस्तानी इलाके से भारत में प्रवेश किया और द्वितीय, कुछ ही समय के बाद राजपूतों ने उन्हें सिन्ध से पुनः खदेड़ दिया, परन्तु इन दोनों जातियों के पारस्परिक सम्पर्क का सांस्कृतिक प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है भारतीय तत्व-ज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान और अन्य विषयों के अध्ययन से अरब में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। भारत से उन्होंने शासन-प्रबन्ध की व्यावहारिक बातें सीखी।

गजनवी और गोरी—दसवीं शताब्दी में महान् अरब साम्राज्य का खण्ड-खण्ड होना शुरू हुआ और उसके भग्नावशेष पर अनेक नये राज्य कायम हुए। इन राज्यों में तुर्कों द्वारा स्थापित गजनी के राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। तुर्क लोग अरबों की तरह सभ्य नहीं थे। ९७७ ई० में सुबुक्तगीन गजनी ने भारत पर अनेक आक्रमण किये। उसकी मृत्यु के उपरान्त महमूद गजनी ने भारत पर सोलह बार आक्रमण किये परन्तु वह स्थायी राज्य स्थापित करने में असफल रहा। बारहवीं सदी के अन्त में (११९१ ई०)

शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तरी भारत के एक बड़े भूभाग को जीतकर अफगान सल्तनत की नींव डाली। गोरी ने भारत के किसी नगर को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसने भारत के विजित प्रांतों को अपने सेनापति ऐबक के नियन्त्रण में रखा।

तुर्क-अफगान सल्तनतः—१२०६ ई० में गोरी की मृत्यु के उपरांत ऐबक स्वतन्त्र राजा के रूप में शासन करने लगा। उस समय तक पंजाब, सिंध मगध, बंगाल, उत्तर प्रदेश आदि प्रांत मुसलमानों के अधिकार में आ चुके थे। १२०६ से १५२८ तक अफगानों का भारत पर आधिपत्य रहा। इस दीर्घकालीन समय में अनेकों सम्राट् हुये और कई राजवंश पलटे। ऐबक गोरी का गुलाम था। अतः सर्व प्रथम मुस्लिम शासक वंश "गुलाम-वंश" कहलाया इस वंश में इल्तुतमिश तथा बलबन महान् सम्राट् हुये जिन्होंने भारत की मंगोलों से रक्षा की तथा भारत में मुस्लिम साम्राज्य का विकास किया। अफगान सुल्तानों में अलाउद्दीन खिलजी का स्थान प्रमुख है। उसने लगभग सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार स्थापित किया। वह पहला मुस्लिम शासक था जिसने दक्षिणी भारत को जीता तथा एक संगठित नौकरशाही पर आधारित प्रशासन व्यवस्था को जन्म दिया।

चौदहवीं सदी के सुल्तानों में मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक के नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने दिल्ली सल्तनत की शक्ति को पुनः स्थापित करने के लिये अनेक प्रयत्न किये परन्तु अपने प्रयत्नों में विशेषरूप से सफल नहीं हो सके। तुगलक शासकों के बाद अफगान शक्ति का प्रभाव घटने लगा। हिन्दू राजा स्वतन्त्र होने लगे। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (१५२६ ई०) में मुगल आक्रान्ता बाबर ने अफगानों के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी को पानीपत के युद्ध में पराजित करके भारत में एक नवीन राजवंश की नींव रखी। इतिहास में यह नवीन राजवंश "मुगल-वंश" के नाम से प्रसिद्ध है।

मुगल वंशः—बाबर के आक्रमण के पूर्व से ही भारत का मुगलों से सम्पर्क हो चुका था। महान् मंगोल नेता चंगेज खां और तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया था। तैमूर आंधी की भांति आया और अफगान सल्तनत को तहस-नहस कर एशिया लौट गया। उसने भारत में स्थायी राज्य की स्थापना

का कोई प्रयत्न नही किया। उसके वंशज बाबर ने भारत पर पांच आक्रमण किये और अन्तिम आक्रमण में उसे दिल्ली का सिहासन प्राप्त हो गया। महत्वाकांक्षी बाबर ने मुगलवंश की नीव रखी और राजपूतों के नेता राणा सांगा तथा अफगानों को पराजित करके अपने राज्य को दृढ़ बनाया। परन्तु बाबर ने जो कुछ प्राप्त किया था, उसे उसके पुत्र हुमायूं ने खो दिया। शेरशाह के नेतृत्व में अफगानों ने मुगलों को भारत से बाहर खदेड़ दिया परन्तु हुमायूं अन्त में अपने नाम को सार्थक करने में सफल हुआ और १५ वर्ष के भ्रमणशील जीवन के उपरान्त उसने पुनः अपनी विरासत को प्राप्त किया। १५५६ ई० में हुमायूं की मृत्यु के उपरान्त अकबर दिल्ली का स्वामी बना। उस समय भारत की राजनैतिक स्थिति अराजकता तथा अव्यवस्था से परिपूर्ण थी। चारों तरफ मुगलों के शत्रु मौजूद थे। परन्तु अकबर ने अपनी कूट नीति के सहारे राजपूतों से मित्रता स्थापित की और उनकी सहायता से सम्पूर्ण उत्तरी भारत को, केवल चित्तौड़ के राणा प्रताप को छोड़कर, अपनी अधीनता में लाने में समर्थ रहा। उसने एक नवीन धर्म भी चलाया जिसका नाम "दीन-ए-इलाही था। उसने राष्ट्रीयता के विकास के लिये बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये थे। प्रशासन व्यवस्था को संगठित किया गया। अकबर के उपरान्त जहाँगीर ने शासन किया। जहाँगीर अपने न्याय के लिये इतिहास में प्रसिद्ध है। शाहजहाँ अपने कला-कौशल और भवनों के निर्माण के लिये प्रसिद्ध हुआ। उसके द्वारा निर्मित 'ताज महल" एक अद्वितीय कलाकृति है। औरंगजेब ने अपने बाप-दादाओं की नीति के विपरीत कार्य किया। जिसके परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु के उपरान्त मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। मुगल साम्राज्य के पतन का विस्तृत विवरण अगले अध्याय में किया जायेगा।

इस्लाम का संघात

प्रक्रिया:—दो भिन्न २ संस्कृतियों के सम्पर्क की विवेचना करते हुए गिलिन और गिलिन ने लिखा है कि सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं द्वारा स्पष्ट की जा सकती है–(१) दो प्रकार के लोग एक दूसरे के इतने निकट सम्पर्क में होते है कि एक दूसरे की संस्कृतियों के तत्वों से भली भांति

परिचित हो जाते हैं। (२) बाहरी लोग आये हुए देश के लोगों की संस्कृति में पहले बस जाते हैं (३) विजयी लोग अपनी संस्कृति को विजित देश पर आरोपित करते हैं। सांस्कृतिक सम्पर्क का जो प्रभाव भारत पर पड़ा है उसे अंतिम श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ज्यों ही विजयी लोग विजित देश में निवास करने लगते हैं, त्योंही उनके सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु दोनों लोग अपनी अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए विशेष रूप से चिंतित रहते हैं।

महत्वः—भारतवर्ष में समय समय पर अनेक लोग भिन्न भिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं को लेकर आए। इन लोगों ने भारत के मूल निवासियों को अपनी संस्कृति से प्रभावित किया तथा स्वयं ने भी उनकी संस्कृति और सभ्यता के तत्वों को ग्रहण किया। इन अनेक विदेशी संस्कृतियों मे मुसलिम और पाश्चात्य संस्कृतियों के सम्पर्क का हिन्दुओं के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक शीलाचारिक और साहित्यिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इन दोनों सांस्कृतिक सम्पर्कों के फलस्वरूप ही आज सम्पूर्ण हिन्दू समाज का ढांचा परिवर्तित हो चुका है। इस कारण इसका बहुत बड़ा महत्व है।

मुस्लिम संस्थाओं का संघातः—भारत में मुसलमानों के आगमन ने हिन्दू समाज को बहुत बड़ी कठिनाई में डाल दिया। यह तुरन्त स्पष्ट हो गया कि हिन्दू संस्कृति, जिस ढंग से अब तक विदेशी जातियों को आत्मसात् करती रही है, इस नवीन जाति को आत्मसात नहीं कर सकती और यह भी कि जिस प्रकार मुसलमान अब तक विजित जातियों को अपने रंग में रंगते आये थे, हिन्दू जाति को अपने रंग में रंगने में असफल हो रहे थे। मुसलमान एकेश्वरवाद पर विश्वास करते थे परन्तु हिन्दू विश्वदेवता के सिद्धान्त को मानने वाले थे। एक को मूर्ति-पूजा के प्रति घृणा थी तो दूसरों को प्रेम था। अतः दोनों का विरोध होना स्वाभाविक था।

मुसलमान देश के शासक थे। अतः उन्होंने नगरों में रहना ही उपयुक्त समझा। इस कारण नगरों के द्वारा ही दोनों संस्कृतियों का पारस्परिक सम्पर्क स्थापित हुआ। गांवों में मुसलिम संस्कृति का प्रभाव कम पड़ा। इसके कई कारण थे। आवागमन के साधनों की कठिनाई सबसे प्रबल कारण था। फिर

भी कई गांवों में सामूहिक धर्म परिवर्तन हुआ। धर्म में सामूहिक परिवर्तन होने पर भी, ग्राम सभ्यता प्रधान रूप से हिन्दू ही रही क्योंकि लोगो ने अपना धर्म अवश्य परिवर्तित कर दिया था किन्तु रहन-सहन के ढंग को नहीं। हाँ, नगरों में हिन्दू जीवन की प्रथाओं से मुसलमान प्रभावित हुए।

धर्म के क्षेत्र में संघातः—भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का संघात तीन दिशाओं में हुआ धर्म, कला और साहित्य, प्रथाएं तथा आचरण। कुछ अंशों में दोनों जातियों में धार्मिक समानता थी। अद्वैतवाद और मूर्ति-पूजा का त्याग शंकराचार्य के दर्शन में भी था। इस्लाम का सूफीवाद हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के संघात से अत्यधिक प्रभावित हुआ। कवीर ने हिन्दू और मुलसमान दोनों धर्मो की मिश्रित धारा प्रवाहित करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मो के सिद्धान्त के आधार पर नये धर्म का सूत्रपात किया। कबीर और नानक दोनों ही इस्लाम से प्रभावित थे और दोनों ने ही मूर्ति-पूजा,बहुदेवतावाद तथा जातीय असमानता का बहिष्कार किया। परन्तु कुछ मुसलमानों ने इसी प्रथा को अपनाया। उन्होने शीतला, काली आदि देवियों की मूर्ति-पूजा प्रारम्भ की। पीरों की पूजा भी होने लगी।

कला के क्षेत्र में—मुसलिम युग की भारतीय कला का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो एक वात स्पष्ट रूप से हमें दिखलाई पड़ेगी कि उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत की कला में बहुत बड़ी भिन्नता है। उत्तरी भारत के मंदिरों और मस्जिदों में बहुत कम अन्तर है परन्तु दक्षिणी भारत के मंदिरों और मस्जिदों की रचनाशैली में भारी अन्तर है। इसका कारण यह है कि उत्तर की सबसे श्रेष्ठ कलाओं के नमूनों में हिन्दू और मुसलिम दोनों शैलियों की छाप मिलती है, क्योंकि उत्तर में मुसलमान तथा हिन्दू एक दूसरे के अधिक निकट आये और सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी अधिक हुआ जबकि दक्षिण में कम।

भाषा और साहित्यः—यद्यपि मुसलमानों ने फारसी और अरवी भाषाओं का प्रयोग किया परंतु उन्होंने भारतीय भाषाओं को भी अपनाया। अरवी फारसी और भारतीय भाषाओं के शब्दों के मिश्रण ने उर्दू को जन्म दिया और

दीर्घकाल के पश्चात् संस्कृत शब्दों के बाहुल्य और मिश्रण से हिंदी बोली का अद्भुत विकास हुआ। साधारण बोलचाल में हिन्दी और उर्दू में विशेष अंतर नहीं है। क्योंकि दोनों में अरबी, फारसी और संस्कृत भाषाओं के शब्दों की प्रधानता है। हिन्दुओं या मुसलमानों द्वारा रचित प्रत्येक भारतीय साहित्य में भारतीय जीवन के लक्षण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। मध्यकाल में अनेक हिन्दू ऐसे हुए जिन्होंने उर्दू और फारसी में असाधारण योग्यता प्राप्त की तथा अनेक ऐसे मुसलमान हुए जिन्होंने हिन्दी साहित्य के भण्डार को अपनी रचनाओं से पूर्ण किया।

सामाजिक क्षेत्र में संघातः—मुसलमानों के समय में हिन्दूसमाज विशेष प्रगति करने में असफल रहा इसका प्रमुख कारण यह था कि हिन्दू मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचार से अपनी रक्षा करने में बहुत प्रयत्नशील रहे। हिन्दूसमाज पर इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप जाति-पांति के बन्धन अधिक कठोर हो गये। हिन्दू राजाओं का प्रभावक्षीण हो रहा था परन्तु धर्मगुरु ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा। निम्न वर्ग के लोगों की अवस्था बहुत शोचनीय हो रही थी क्योंकि वे ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने में अपने आपको असमर्थ पा रहे थे। अस्पृश्यता का विचार भी बहुत अधिक बढ गया था। भोजन, वस्त्र और स्पर्श के सम्बन्ध में अनेक कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये थे। इस प्रकार इस समय जातीय-विभेद, सामाजिक विषमता और रीति-रिवाजों तथा रहन-सहन की भिन्नता अधिक बढ गई। स्थानीय प्रथाओं और धार्मिक संस्कारों के विभेद के कारण अंतर्जातीय विवाह तो बन्द हो गये परन्तु अन्तर-उपजातीय विवाहों का विकास हुआ। लड़कियों को मुसलमानों से रक्षा करने तथा जीवन संगी के चुनाव का क्षेत्र सीमित होने के कारण बाल-विवाहों का प्रसार बढा।

ईसा के १००० वर्ष बाद तक उत्तरी भारत में या दक्षिणी भारत में सती-प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु मध्यकालीन ग्रन्थ लेखकों ने सती-प्रथा का उल्लेख किया है। सती-प्रथा का प्रसार हिन्दू समाज के अन्य वर्गों में तो कम हुआ परन्तु शासक-वर्ग विशेषकर क्षत्रिय जाति में इसका अत्यधिक प्रसार हुआ। इसका प्रमुख कारण मुसलमानो का अत्याचार था। मुसलमान

विधवाओं का धर्म परिवर्तन कर देते थे या उनका सतीत्व नष्ट कर देते थे। इसी प्रकार के अत्याचारों से बचने तथा सतीत्व की रक्षा करने के लिए सती प्रथा का विकास हुआ। सम्मान और सतीत्व की रक्षा के लिए पर्दा अत्यन्त आवश्यक हो गया था। इसी कारण औरतों को घरों की दिवालों के अन्दर बन्द कर दिया गया ताकि भूखे मुसलमान हिन्दू औरतों की सुन्दरता की झलक भी न पा सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं में पर्दा-प्रथा का प्रचार मुसलमानों के सम्पर्क से हुआ।

ओ-मेलों ने लिखा है कि "कुछ भी हो यह एक सर्वविदित सिद्धान्त है कि जब विजित प्रजाति सैनिक सरकार की अधीनता में होती है तो इसकी सभ्यता की छाया विजयी प्रजाति पर पड़ती है और भारत में यही हुआ।" अधिकांश भारतीय मुसलमान हिन्दुओं से ही बने थे। अतएव वे लोग मुसलमान धर्म को स्वीकार करते हुये भी अनेक हिन्दू रीति-रिवाजों को न त्याग सके। मुसलमान प्रत्येक दशा में अल्प-संख्यक और हिन्दू बहुसंख्यक थे। फलस्वरूप हिन्दुओं के अनेक आचरणों को भी मुसलमानों ने अपनाया।

मुसलमानों में न तो जाति प्रथा है और न संयुक्त कुटुम्ब प्रथा। परन्तु हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण मुसलमानों में भी जाति प्रथा तो नहीं परन्तु वर्ग-भेद अवश्य उत्पन्न हो गया और संयुक्त पारिवारिक प्रथा भी कुछ संशोधनों के साथ मुसलमानो द्वारा ग्रहण कर ली गई। मुसलमानों में बाल-विवाह की प्रथा का भी विकास हुआ।

मुसलिम संस्कृति का संघात अंशतः नवीन सामाजिक स्थिति की व्यवस्था थी। हिन्दू और मुसलमानों ने समान रूप से कुछ रीति-रिवाजों और संस्कारों, संगीत और कला के रूपों तथा साहित्य और भाषा को अपनाया। मुसलिम संस्कृति के संघात के उपरान्त भी हिन्दू संस्कृति ने अपनी उल्लेखनीय विशेषताओं को अक्षुण्ण रखा और भारत कभी मुस्लिम संस्कृति में परिपाचित नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि भारतीय समाज की आधारशिला ग्रामीण व्यवस्था है और ग्राम मुसलिम संस्कृति के संघात से बचे रहे।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई ? संक्षेप में समझाइए।

२. मुस्लिम संस्कृति का हिन्दू संस्कृति पर क्या संघात हुआ ? इस संघात के परिणामों का उल्लेख कीजिये।

३. हिन्दू समाज ने मुस्लिम समाज को कैसे प्रभावित किया ? समझाइये।

दसवां अध्याय

मध्यकालीन भारत में सरकार और समाज

तुर्क अफगान शासन की रूपरेखा:—शासन की दृष्टि से हम भारत में अफगान सुल्तानों को सफल नहीं कह सकते। अधिकांश शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण था। वे अपनी अधिकाँश हिन्दू प्रजा के ऊपर धार्मिक अत्याचार ही करते थे। मुल्ला-मौलवियों की सम्मति मानने के कारण वे हिन्दुओं को उच्च पदों से यथासम्भव वंचित रखने का ही प्रयास करते थे। अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को दबाने के लिए उनको कर भार से लाद दिया। ऐसी स्थिति में बेचारे हिन्दू क्या करते। जहाँ कहीं अवसर मिला उन्होंने विद्रोह किया और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। दक्षिणी भारत, बंगाल और राजस्थान पर मुसलमानों का अधिकार केवल आंशिक ही था। मुसलिम शासन के चित्र का यह एक दुखद पहलू है। किन्तु इसको देखकर हमें बिल्कुल निराश न होना चाहिए। यह सत्य है कि अधिकतर इस युग में मुस्लिम शासकों ने पार्थक्य की नीति को ही अपनाये रखा और देश की जनता के साथ घुलमिल कर नहीं रह सके। परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी शासक हुये जिन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं का आदर किया। मुहम्मद तुगलक ऐसा ही एक शासक था। कुछ प्रांतीय मुसलमान शासकों ने भी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी और काश्मीर के सुल्तान जैनुल आबिदीन भी ऐसे ही उदार शासकों में से थे। मुसलमान शासकों ने कृषि, व्यापार, साहित्य और कला इत्यादि के विकास में कोई बाधा नहीं पहुँचाई।

राज्य की समस्त शक्ति सुल्तानो के हाथों में केन्द्रित थी। अपनी सहायता के लिये वे विश्वसनीय मित्रों तथा सलाहकारों की कौंसिल बनाते, महत्वपूर्ण विषयों में वे उनकी राय लेते, किन्तु उनकी सत्ता पर कोई कानूनी नियंत्रण न था। फिर भी अनेकों ऐसे तत्व थे जो सुल्तानों की निरंकुशता को सीमा से बाहर जाने से रोकते थे। कुरान के नियम तथा उलेमा के प्रभाव का उल्लेख किया

जा चुका है। इसके अतिरिक्त राज्य के अमीर और सामन्तों की इच्छा का भी सुल्तानों को ध्यान रखना पड़ता था। शासन की सुविधा के लिये विभिन्न विभाग मंत्रियों के सुपुर्द कर दिये जाते थे। वजीर प्रमुख मंत्री था और वह अर्थ विभाग का अध्यक्ष था। उसके अतिरिक्त दीवाने-ए-रसालत (धार्मिक विषयों से संबंधित विभाग) दीवाने-ए-कजा (न्याय विभाग) दीवाने-ए-इंशा (पत्र-व्यवहार विभाग) अन्य महत्वपूर्ण विभाग थे।

राज्य की आमदनी के मुख्य चार साधन थे—भूमिकर, जकात, जजिया, युद्धों से प्राप्त लूट का माल, और लावारिसों की सम्पत्ति। १३ वीं शताब्दी में उपज का $\frac{1}{5}$ वां भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। अलाउद्दीन ने आधा भाग वसूल किया और अनेकों नये कर लगाये।

सदर-उस-सुदर राज्य का प्रधान काजी था और अधीनस्थ न्यायालयों की अपील सुनता था। निम्न न्यायाधीशों की नियुक्ति भी काजी ही करता था। हिन्दुओं और मुसलमानों के दीवानी झगड़े उनके धर्मग्रन्थों के अनुसार किये जाते थे। वैसे सामान्यतौर से हिन्दू अपने झगड़े पंचायतों की सहायता से निपटा लेते थे। उस युग का न्याय तथा दंड-विधान, विशेषकर हिन्दुओं के लिये कठोर था।

प्रांतीय शासन: उस युग में समस्त साम्राज्य के लिये एक समाज, एक निश्चित तथा सुसंगठित शासन-व्यवस्था का अभाव था। राजधानी के आसपास के प्रदेश पर सुल्तानों का प्रत्यक्ष शासन था परन्तु दूरस्थ प्रांतों का शासन सैनिक जागीरदारों के सहारे किया जाता था। सामन्त अपने-अपने प्रांतों में सुल्तानों की तरह स्वतंत्रता तथा निरंकुशता के साथ शासन करते थे। न्याय, सैनिक तथा शासन सम्बन्धी शक्ति उनके हाथ में थी। केन्द्रीय सरकार को वे निश्चित वार्षिक कर देते थे और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता भी। बहुत से प्रांतों पर हिन्दू सामन्तों का भी अधिकार था परन्तु उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा अधिक रकम देनी पड़ती थी।

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि सल्तनत युग में शासन व्यवस्था का अभाव था। राज्य सैनिक शक्ति तथा सुल्तानों के व्यक्तित्व पर निर्भर था। अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रांतीय सामन्त केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध सदैव विद्रोह करने को उद्यत

रहते थे। सुल्तानों की साम्प्रदायिक नीति ने राज्य की गहरी जड़ें कभी नहीं जमने दीं इस युग की राज्य व्यवस्था की मध्यकालीन यूरोप की सामन्त शाही व्यवस्था से तुलना की जा सकती है। इसमें धार्मिक कट्टरता का पुट लगा हुआ था और यही इसकी विशेषता भी थी। इतना ही नहीं, यह युग महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का युग था। वंशानुगत अधिकारों की अपेक्षा तलवार की शक्ति अधिक प्रवल थी। यही शक्ति व्यक्तियों के भाग्य का निर्माण करती थी और इसी कारण राजवंश बनते, विगड़ते रहे।

मुगलकालीन सरकार की रूपरेखा

भूमिका: भारतीय इतिहास में मुगलकालीन शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। इस वंश के शासकों ने देश का शासन अधिक बुद्धिमतापूर्वक किया और एक सुव्यवस्थित शासन पद्धति को जन्म दिया जो उनके पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों से पर्याप्त भिन्न थी। मुगल शासकों ने जनहित की तरफ अधिक रुचि दिखलाई और जनता के साथ हिल मिल जाने का भी प्रयत्न किया। यद्यपि सभी मुगल शासक उदार तथा सहिष्णु नही थे परन्तु इसी वंश में अकबर जैसे महान् सम्राट का जन्म हुआ जिसने अपनी सहिष्णुता की नीति से अपनी प्रजा में पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। अकबर महान् भारत के ही नहीं अपितु संसार के सबसे महान् शासकों में से गिना जाता है जिस युग में धार्मिक कट्टरता नियम नहीं वरन् अपवाद थी, उस युग में अकबर ने राज सिंहासन से धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। उसने मुल्ला और मोलवियों के विरोध के उपरान्त अपनी समस्त प्रजा के साथ न्याय और उदारता प्रदर्शित की। जहाँगीर की न्यायप्रियता संसार भर में प्रसिद्ध थी। शाहजहाँ के शासन काल को मुगल भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है। औरंगजेब के शासन काल में धार्मिक कट्टरता का बीज पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ। देश में चारों ओर साम्राज्य के शत्रु खड़े हो गये और उसकी मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य की शक्ति का दिनोदिन ह्रास होने लगा और अन्त में अंग्रेजों का देश पर अधिकार हो गया।

शासन की रूपरेखा:—मुगलकालीन शासन की रूपरेखा निम्न प्रकार की थी:—

(१) मुगल साम्राज्य स्वेच्छाचारी राज्य था। शासन की अच्छाई या बुराई राजा के चरित्र और व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। प्रारम्भ के मुगल शासक अपनी प्रजा के प्रति दयालु थे तथा उनको कुशलक्षेम का ध्यान रखते थे। हिन्दुओं को भी ऊँचे २ पद दिये गये। बाद में इस नीति को त्याग दिया गया जिसके परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य का पतन भी हुआ।

(२) सम्राट साम्राज्य का प्रधान था। यों तो उसकी शक्ति अपरिमित थी मगर व्यवहार में वह अपने परामर्शदाताओं का कहना मानता था। जो भी नये विचार तथा नीति होती थी वह राजा की ही उपज होती थी। राजा के नीचे वकील अथवा वजीर होता था और महत्वपूर्ण विषयों में उसकी सलाह ली जाती थी। दूसरे बड़े अफसरों में दीवान या अर्थमंत्री का स्थान ऊँचा था। बख्शी, सदर या प्रधान धार्मिक अधिकारी का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

(३) राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। अंतिम अपील की सुनवाई वही करता था। उसके नीचे सदर या जो दीवानी के मामले विशेषकर धार्मिक मामलों की सुनवाई करता था। मुख्य काजी न्यायालयों का स्वामी था इसके अलावा मुफ्ती जो कानून का वर्णन करता था तथा मीरअदल जो फैसला सुनाता था, का भी महत्वपूर्ण स्थान था। उस युग में आधुनिक समय की तरह कानून की लिखित पुस्तकें न थी। 'कुरान' ही उस समय की सबसे बड़ी कानून की पुस्तक समझी जाती थी। जिन मामलों में यदि हिन्दू होते तो फैसला देते समय उनके रीति-रिवाजों का ध्यान रखा जाता था। फौजदारी कानून प्रायः सभी के लिये समान था। दण्ड बड़ा कठोर मिलता था मगर मृत्यु का दण्ड बादशाह की आज्ञा के बिना नही दिया जाता था। परन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग कम होताथा।

(४) सम्पूर्ण राज्य प्रांतों में जो 'सूबा' के नाम से पुकारे जाते थे बंटा हुआ था, जिस पर सूबेदार का, सम्राट की देख रेख में नियंत्रण होता था। सूबेदार के नीचे दीवान जो भूमिकर वसूल करता था और फौजदार, सेना का मालिक होता था। पुलिस के मामलों को तय करने के लिये कोतवाल की नियुक्ति की जाती थी।

(५) इन कर्मचारियों के अतिरिक्त सामन्त, जागीरदार तथा जमींदार होते थे जो राज्य की हर प्रकार से सेवा करने को उद्यत रहते थे। ये लोग भूमि के मालिक थे जो बादशाह द्वारा उनको किसी विशेष कार्य के उपहार में दी जाती थी।

सरकार के दोषः—मुगलकालीन सरकार में कुछ दोष भी थे। मुगलों ने पुलिस तथा न्याय के प्रबन्ध की ओर अधिक ठीक ध्यान नहीं दिया। उनके दण्ड कठोर और निर्दयतापूर्ण होते थे। सीमा की रक्षा का भी ठीक प्रबन्ध न कर सके। जनता की आर्थिक उन्नति के लिये कोई उपाय न किया। जनता की शिक्षा के लिये तनिक भी ध्यान न दिया गया। मुगलों का शासन एक फौजी शासन था। उनकी सारी शक्ति फौज पर ही निर्भर रहती थी। जब तक मुगल सम्राटों की सैनिक शक्ति दृढ़ बनी रही तब तक उनका शासन भी दृढ़ बना रहा। जहाँ उनकी सेना की निर्बलता, विलासिता तथा अव्यवस्था आई वहीं इनकी शक्ति क्षीण होने लगी। औरंगजेब की सेना दक्षिणी भारत में लगभग २६ वर्ष तक रहने पर भी सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को विजय करने में सर्वथा असमर्थ रही दूसरी तरफ प्रांतीय शासक भी विलासिता तथा दिखावे में मुगल दरबार का अनुकरण करने लगे। अब वे शासक के आदर्श को भूलकर अपनी दरबारी शान शौकत बढ़ाने में व्यस्त रहने लगे। न्याय की व्यवस्था भी उचित न थी। इतने बड़े साम्राज्य अंतिम अपील सम्राट के हाथ में थी। उस समय की आने जाने की कठिनाइयों को सोचकर बहुत कम आदमी अपनी अपील सम्राट के निकट ले जाते होगें।

मुगल कालीन इतिहास के विद्वान् इतिहासज्ञ प्रोफेसर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि मुगल शासन एक कागजी शासन (Paper Government) बन गई थी। कोरी कागजी कार्यवाही में अधिक समय व्यतीत होता था। प्रजा की वास्तविक भलाई की ओर कम ध्यान दिया जाता था। राज्य की ओर से अफसर कर-वसूली का काम तो बड़ी सख्ती से करते थे किंतु ये प्रजा-हितैषी कार्यों में कोई ध्यान न देते थे।

सामाजिक जीवन: (सल्तनतकाल में) सल्तनतकाल में सामाजिक जीवन के स्तर में राजपूत युग से अधिक भिन्नता नहीं आ पाई। इस युग में हिन्दू तथा मुसलमानों का सम्पर्क अवश्य हुआ किन्तु इस सम्पर्क का कोई क्रांतिकारी प्रभाव नहीं पड़ा, विशेषकर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में। हिन्दुओं की सामाजिक जीवन से संबंधित प्राचीन विचारधारा पूर्ववत जारी रही। राजपूत युग में हिन्दू सामाजिक जीवन में जटिलता आ चुकी थी। इसी जटिलता के कारण हिन्दू समाज की पाचन शक्ति नष्ट हो गई और वे मुसलमानों को अपने में विलीन न कर सके। उधर मुसलमानों में धार्मिक तथा सामाजिक चेतना गहरी थी। मुसलमान लोग हूण, कुषाण, शक आदि जातियों की तरह, जिन्हें हिन्दू समाज ने आत्मसात् कर लिया था, पिछड़ी हुई अवस्था में नहीं थे। इसीलिए उन्होंने भी हिन्दुओं के निकट सम्पर्क में आने का प्रयत्न नहीं किया।

विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रतिघात ने हिन्दुओं की जाति व्यवस्था को और भी जटिल बना दिया। अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिये उन्होंने अपने आस-पास एक ऐसी चहार दिवारी खड़ी करदी जो आज भी नहीं टूट सकी है इसके दो परिणाम हुए, हिन्दू अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ अवश्य हुए किन्तु उनके जीवन से गति और प्रवाह का सदा के लिए लोप हो गया और उनमें निर्जीवता आ गई।

मुसलमानों के सम्पर्क तथा उस युग की अव्यवस्थित परिस्थितियों के कारण पर्दे की दूषित प्रथा हिन्दुओं में भी प्रचलित हो गई जिससे स्त्रियों का जीवन पहले से भी अधिक शोचनीय हो गया। सती प्रथा, बाल विवाह की प्रथा पूर्ववत् चलती रही। बहु-विवाह प्रथा का रोग घर २ में फैलने लग गया था। यह रोग काफी पुराना था। दास प्रथा का भी विकास ही हुआ। मुसलमानों के आगमन ने दास प्रथा को और भी उन्नत बना दिया। सुल्तानों तथा अमीरों के घरों में सैंकड़ों गुलाम रहते थे।

मुगल कालीन समाजः—मुगल कालीन समाज भी सल्तनत युग की तरह सामन्तवादी आधारशिला पर अवलंबित था। समाज कई वर्गों में विभा-

जित था। हिन्दू और मुस्लिम वर्ग प्रधान थे। इन प्रधान वर्गों की अनेक उप-शाखाएं थी, जो परस्पर एक दूसरे से लड़ती-झगड़ती रहती थी। इस काल में ईसाई वर्ग भी भारत की भूमि पर आवाद हो चुका था परन्तु उसका प्रभाव विशेष नही था। भारतीय समाज में मुगल बादशाह एवं उसके परिवार के सदस्यों का स्थान प्रमुख था। उसके उपरान्त बादशाह के राजा-महाराजों; अमीर-उमरावों का स्थान था। यह वर्ग बहुत धनी था। इस वर्ग के पास विशेषाधिकार भी थे। सर्वसाधारण जनता सम्मान की दृष्टि से इस वर्ग को देखती थी। यह वर्ग बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करता था और भोग विलास में स्वाहा करने के लिए धन की कोई कमी नही थी। इन लोगो के बड़े बड़े हरम थे जिनमें सैकड़ो और हजारो की संख्या में सुन्दरियाँ निवास करती थी। नृत्य, संगीत, द्यूत, सुरापान, सुस्वादु भोजन और बड़े-बड़े प्रीतिभोज तो दैनिक जीवन चर्या के प्रमुख अंग बन चुके थे।

अमीर-उमरा और सर्व साधारण जनता के मध्य की श्रेणी का विकास इस युग की सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी। इस मध्य श्रेणी में कर्मचारी, व्यापारी और समृद्ध शिल्पकार तथा लेखक सम्मिलित थे। अधिकारियों के भय से यह वर्ग सीधा-सादा जीवन व्यतीत करता था ताकि उनकी आमदनी का सही अनुभव न लगाया जा सके; क्यों कि उन्हें लुट जाने का भय लगा रहता था।

सर्व साधारण की स्थिति अच्छी नही थी। इस वर्ग में किसान, निम्न-कर्मचारी, सैनिक व शिल्पकार तथा श्रमिक सम्मिलित थे। यह वर्ग अपनी आवश्यकता को सुगमता पूर्वक नही जुटा पाता था। ये नाम मात्र को स्वतन्त्र थे क्योंकि इनकी दशा गुलामों से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी। मजदूरों को बहुत कम वेतन मिलता था। उनसे बल पूर्वक बेगार ली जाती थी। किसानों की दशा भी ठीक नहीं थी। उन पर नाना प्रकार के कर लगे हुए थे। इन करों के अतिरिक्त उनसे बेगार भी ली जाती थी। उन्हें भूमि से बेदखल कर दिया जाता था और कभी कभी उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी।

हुआ। सांस्कृतिक समन्वय का यह रूप सन्तों के उपदेशों और कलाओं में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। मुगलों के शासन काल में इस कार्य को विशेष बल मिला। मुगल शासक अपनी जनता के साथ अपने पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से मिल सके। मुगलों की वास्तुकला में हिन्दू और मुस्लिम कलाओं का सुन्दर सामंजस्य है। पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि चित्रकला के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम दोनों चित्रकारों ने एक दूसरे से काफी बातें सीखी। हिन्दू चित्रकारों ने फारसी कवि निजामी की कविताओं को चित्रित किया और मुसलमानों ने रामायण एवं महाभारत की घटनाओं के सजीव चित्र उतारे।

भक्ति आन्दोलनः-उत्पत्ति और विकासः—"अपने मूल रूप में भक्ति आर्येत्तर प्रवृति थी और वह आर्यों एवं द्राविड़ो के भारत आगमन के पहले से ही भारतीय जनता मे विद्यमान थी।" (दिनकर)

भक्ति की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये हैं। कुछ के अनुसार भक्ति आर्यों के पहले से ही भारतीय समाज में विद्यमान थी तो कुछ ऋग्वेद के समय में इसकी उत्पत्ति मानते हैं। कुछ बौद्ध धर्म की महायान सम्प्रदाय से इसको सम्बन्धित मानते हैं। भक्ति मार्ग का उद्देश्य इष्टदेव की उपासना, भक्ति, उसके गुण-गान, भजन, संकीर्तन आदि द्वारा मुक्ति प्राप्त करना है। ज्यों २ समय बीतता गया त्यों त्यों भक्ति मार्ग विकसित होता गया। मध्यकाल में इस विकास की पराकाष्ठा हो गई, जबकि भारत के भिन्न भिन्न भागों में कितने ही सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, कन्नड, तामिल, तेलगू, आदि भारत की विभिन्न भाषाओं में मध्यकालीन साहित्य का निर्माण किया। कबीर, रामानन्द, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, नरसिंहमेहता, ॱरावाई, तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों ने मध्यकाल में भक्ति की ।ंगा को समस्त भारत में बहाया था। आज भी भारत के जन साधारण के हृदय सिंहासन पर वे ही सन्त वर्तमान है। उन्हीं के वचन भारतीयों के ।वन को नियंत्रित और संचालित करते हैं।

महत्त्व:—सन्तों का प्रयास भक्ति आन्दोलन के नाम से विख्यात है। "इस आन्दोलन ने न केवल संस्कृत के 'कूप-जल' से सरस्वती को निकाल कर उसे जन भाषाओं के 'बहते-नीर' में स्नान कराया बल्कि इसके प्रवर्तकों और संचालकों ने लोगों का पारस्परिक स्नेह, मैत्री, करुणा, सदाचार और सादगी का उपदेश देकर राष्ट्र को विचार और क्रिया के उन्नत स्तर पर किया।" (नगीना तथा त्रिपाठी) यह आन्दोलन धर्म के बाह्याडम्बरपूर्ण स्वरूप के प्रति विद्रोह था और लोगों के सन्मुख सरल तथा उन्नत जीवन का आदर्श रखता था। सन्तों ने चित्त की विशुद्धता और हृदय की भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन बताया और समस्त बाह्योपचारों को व्यर्थता को प्रतिपादित किया। लोगो के नीरस जीवन में इन सन्तों ने आशा और उत्साह का संचार किया और उनकी जीवनलता को पुष्पित तथा पल्लवित करने का प्रयास किया। इस्लाम के बढते हुए प्रसार को रोकने के लिये, समाज में व्याप्त कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिये, हिन्दू-मुस्लिम समन्वय उपस्थित करने के लिये तथा पराजित हिन्दुओं का ध्यान दूसरी तरफ मोड़ने के लिये एक सुधारवादी कदम की आवश्यकता थी, क्योंकि मुसलमानों के द्वारा हिन्दू मन्दिरो को ध्वंस किये जाने के कारण हिन्दुओं के धार्मिक विचारों को भारी ठेस पहुँच रही थी और उनकी मानसिक स्थिति दुर्बल हो गयी थी। इस प्रकार का सुधारवादी कदम भक्ति आन्दोलन में दिखलाई पड़ा।

भक्ति आन्दोलन के प्रतिनिधि:—भक्ति के सर्व प्रथम उपदेशक श्री रामानुजाचार्य थे। आपका जन्म १०१७ ई० मे हुआ। रामानुजाचार्य ने ब्रह्म के अखंडत्व या एकत्व और अस्तित्व को स्वीकार किया परन्तु चित्त और अचित् अर्थात आत्मा और पदार्थ पर बल दिया। उनका लय ब्रह्म में होते हुए भी उनका अस्तित्व पृथक है और वे समानरुप से महत्वपूर्ण है। रामानुजाचार्य की विचारधारा को "विशिष्टाद्वैत" मत से संबोधित किया जाता है। रामानुजाचार्य ने ईश्वर को प्रेम और न्याय की मूर्ति बनाकर जनता की आंखों के सामने खड़ा किया जिससे भक्ति मार्ग को बल मिला। यही उनकी महत्वपूर्ण देन थी। उन्होंने विष्णु भक्ति का प्रचार किया।

भक्ति आन्दोलन के सर्वप्रथम प्रतिनिधि रामानंद थे। १४ वीं सदी में इलाहाबाद में रामानन्द का जन्म हुआ। रामानन्द ने जाति-पांति के भेद भाव को व्यर्थ बतलाया और प्रतिपादित किया कि भक्ति का द्वार सबके लिये समान रूप से खुला है। उन्होंने जाति-प्रथा को देश के लिये घातक बताया और निम्न जाति के लोगों को भी अपना शिष्यत्व प्रदान किया। उनके बारह प्रमुख शिष्यों में एक चमार एक नाई और एक जुलाहा था। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी उन्होंने लोक भाषा में उपदेश दिया। रामानंद राम के परम भक्त थे। कबीर रैदास तथा सेना और धन्ना उनके प्रमुख शिष्य थे।

कबीर का जन्म एक जुलाहे के घर में हुआ था उन्होंने न केवल भक्ति-मार्ग के अवलम्बन, हृदय की शुद्धता और जीवन की पवित्रता पर जोर दिया वरन् धार्मिक अन्धविश्वास, जातिभेद तथा धार्मिक असहिष्णुता का डटकर विरोध किया। कबीर के दोहों से भौतिक उपदेश प्राप्त होते हैं और उनके पदों में आध्यात्मिक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। हिन्दी कविता में कबीर का स्थान काफी ऊँचा है। क्रांतिकारी समाज सुधारक की दृष्टि से उनका महत्व बहुत अधिक है। कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का खुल कर प्रचार किया। उन्होंने बतलाया कि धर्म का वास्तविक सम्बन्ध जिन मूल तत्वों से है वे तत्व किसी एक धर्म की पूंजी नहीं हैं। उन तत्वों का निवास सभी धर्मों में है। उन्होंने मूर्ति-पूजा और मस्जिद की संस्था पर बड़े गहरे वार किये, जिससे हिन्दू तथा मुसलमानों के धर्म गुरु बड़े क्रोधित हुये।

गुरु नानक ने भी कबीर की भाँति जाति-पांति का विरोध किया। उन्होंने एकेश्वरवाद के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए बताया कि परम पिता के सामने जाति प्रथा तथा वर्ण भेद नष्ट हो जाते हैं। गुरु नानक ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि इस कलुषित संसार में रहते हुए भी मनुष्य को पवित्र और निष्कलुष जीवन व्यतीत करना चाहिए। हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता पर नानक ने बहुत अधिक बल प्रदान किया। उनके शिष्यों में दोनों जातियों के लोग थे।

बंगाल में चैतन्यदेव ने राजस्थान में मीरा तथा नरसी मेहता ने और दक्षिण में वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का उपदेश दिया। भक्ति आन्दोलन

एक देश व्यापी आन्दोलन था । देश के विभिन्न भागों में अनेक संत उत्पन्न हुये जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता, पर जोर दिया । सामाजिक कुप्रथाओं के बहिष्कार पर जोर दिया । महाराष्ट्र में नामदेव और ज्ञानदेव ने भक्ति मार्ग का प्रचार किया । धर्म के विषय में नामदेव ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को अन्धा बताया और 'राम' तथा 'रहीम' की एकता पर जोर दिया । संतों के इस प्रयास के परिणाम स्वरूप हिन्दू-मुसलमान पारस्परिक ईर्ष्या व द्वेष को भूलकर एकता के सूत्र में बंध गये । एक दूसरे को समझने और अपने आंतरिक उद्गार प्रकट करने का अच्छा अवसर मिलने लगा । जिसके कारण मुगल काल में इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रगति हुई ।

मुगलकालीन धार्मिक अवस्था:—अफगान युग में हिन्दू धर्म में भक्ति आन्दोलन की जो परम्परा प्रारम्भ हुई, मुगलकाल में तुलसी और सूर ने उसे उन्नति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया । तुलसी एक महान् कवि थे और भारतीय साहित्य के इतिहास में इनका स्थान सर्वोच्च था, सर्वोच्च है और रहेगा । परन्तु तुलसी का महत्व एक नवीन धार्मिक लहर को जनसाधारण तक पहुंचाने वाले धर्म प्रचारक व सुधारक के रूप में साहित्यिक महत्व से कहीं अधिक है । सर्व साधारण जनता के लिये तुलसी ने राम चरित्र को निमित्त बनाकर 'रामचरित मानस' की रचना की और इस ग्रन्थ में सुगम रीति एवं सरल शब्दों की सहायता से, वेद शास्त्र में विद्यमान ज्ञान को, उपनिषदों के अध्यात्मवाद को, दर्शन के तत्व चिंतन को पुरानों की गाथाओं को हिन्दू-धर्म, सभ्यता; संस्कृति और विचार सरणी को समझने का प्रयत्न किया । इसके द्वारा सर्व साधारण जनता के लिए अपने धर्म के सिद्धान्तों व आख्यानों को जान सकना सुगम हो गया । तुलसी के प्रयत्न से राम भक्ति की लोक प्रियता के साथ ही साथ; आशा तथा वीरता का संचार भी हुआ ।

जिस प्रकार तुलसी का स्थान राम भक्ति के क्षेत्र में सर्वोच्च है उसी प्रकार सूर का स्थान कृष्ण भक्ति के प्रचारक्षेत्र में सर्वोच्च है । सूरदास अन्ध कवि थे । कुछ विद्वान् तो सूर का स्थान तुलसी से भी उच्च मानते है । सूर के मधुर गीतों से जन-साधारण में कृष्ण भक्ति का प्रचार बढ़ा । अफगान काल में गुरु नानक ने जो नूतन विचार धारा बहाई, उसमें बहने वालों ने

अपने आपको "सिक्ख" धर्म का अनुयायी माना। इस युग में सिक्ख धर्म एक शक्ति शाली संगठित सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

मुगलकाल में धार्मिक क्षेत्र में अकबर महान् ने एक "नूतन धर्म' का सूत्रपात किया जो'दीने-इलाही कहलाया। इस धर्म में सभी धर्मों की अच्छाइयाँ शामिल थी परन्तु अपने मूल रूप में इस्लाम के समान ही था। अन्तर केवल इतना था कि जहां इस्लाम मुहम्मद को पैगम्बर मानता है, वहां यह नवीन धर्म अकबर को पैगम्बर मानता है। अर्थात ईश्वर एक है और अकबर उसका पैगम्बर है। मनुष्यों को अपनी बुद्धि के सहारे सत्य और असत्य का निर्णय करना चाहिए। अन्धविश्वास से दूर रहना चाहिए। अकबर की मृत्यु के साथ ही साथ इस नूतन धर्म की भी मृत्यु हो गई।

साहित्य (सल्तनत युग में):—मध्ययुग के साहित्यिक विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इस काल में प्रान्तीय भाषाओं में उच्चकोटि का साहित्य लिखा गया। स्वामी वल्लभाचार्य और उनके शिष्यों ने ब्रजभाषा में एक उत्तम काव्य साहित्य का सृजन किया जिसका विकास आगे चल कर सूर और रसखान जैसे कवियों के द्वारा अधिक हुआ। रामानन्द तथा कबीर के सत्प्रयत्नों द्वारा हिन्दी का काव्य साहित्य काफी समृद्ध हुआ। अमीर खुसरो की पहेलियां इसी युग में लिखी गई और हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य लेखक बाबा गोरखनाथ तथा 'आल्हा' खण्ड के रचयिता जगनायक भी पूर्व मध्य युग में हुये थे। नामदेव ने मराठी के काव्य साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने बंगला साहित्य की अभिवृद्धि की। बंगाल के मुसलमान शासकों ने भी बंगला साहित्य के उत्थान में काफी महत्वपूर्ण सहयोग दिया। संस्कृत की रामायण का लोक भाषा में अनुवाद किया गया और हुसेन खाँ के पुत्र नसरतशाह के समय में महाभारत का बंगला में अनुवाद किया गया।

यद्यपि मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य की उन्नति में विशेष सहयोग नहीं दिया फिर भी हिन्दू, मुसलमानों ने साहित्य रचना में पीछे नहीं रहे। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखी तथा उसमें भक्ति सिद्धांत पर

प्रकाश डाला। फारसी भाषा को राजाश्रय प्राप्त था। मुसलमान लेखक इतिहास में अभिरुचि रखते थे। उन्होंने कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। जियाउद्दीन बरनी तथा शम्स सिराज अफीफ इस युग के प्रमुख इतिहासकार थे। मुस्लिम इतिहासकारों का दृष्टिकोण पक्षपात शून्य नहीं था और उनके ग्रन्थों से हमें जन साधारण के जीवन का विशेष ज्ञान उपलब्ध नही होता है। जौनपुर, दिल्ली, मथुरा इस समय कला और साहित्य के बड़े २ केन्द्र थे।

साहित्यिक प्रगति (मुगलों के समय में) :—मुगलों के समय में साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। बाबर, हुँमायू, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ साहित्य की प्रगति में सहयोग देते रहे थे। इस युग में हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं की उन्नति के साथ साथ फारसी साहित्य का भी विकास हुआ और हिंदी तथा फारसी के समन्वय से उर्दू का जन्म तथा विकास हुआ। इस युग में मुहम्मद जायसी ने अवधी में अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' लिखा। जायसी के साथ २ हमें कुतबन तथा मंझन आदि सूफी कवियों का स्मरण आता है जिन्होंने हिन्दुओं की लोक कथाओं को उनकी ही बोली में लिखकर बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास की रचनाओं, इसी युग की देन है, हम विवेचना कर चुके हैं। इसी युग में हिन्दी कविता का रीतिकाल प्रारम्भ होता है। कवि सुन्दर ने व्रजभाषा में 'सुन्दर-शृंगार' की रचना की। इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवियों मे देव, विहारी तथा मतिराम का नाम उल्लेखनीय हैं। केशव ने काव्य शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे जिनमें 'कवि-प्रिया' प्रसिद्ध है।

रीतिकालीन कवियों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। कवियों का ध्यान अधिकतर रमणियों के रुप-वर्णन की ओर ही था। वे जीवन के मंगलमय पक्ष की ओर देख न सके। प्रांतीय भाषाओं के साहित्य की भी अभिवृद्धि हुई। बंगला में मिर्जा हुसैन अली ने काली की भक्ति में कविताएं लिखी। बंगाल के अन्य कवियों में रघुनन्दन, भरतचन्द्र और मुकुन्दराम का नाम उल्लेखनीय है। महाराष्ट्र में श्रीधर, तुकाराम तथा रामदास ने मराठी साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि की।

मुगलों के शासन काल में फारसी साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। अकबर के शासनकाल में अबुलफजल के भाई फैजी ने फारसी में कविता

की इस कवि की कविता में सूफी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी युग में रामायण, महाभारत, अथर्ववेद तथा लीलावती की अङ्कगणित का फारसी में अनुवाद किया गया। इनके अतिरिक्त फारसी भाषा में इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।

कला:—मध्यकालीन कला में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों प्रभावों का समन्वय था। इसी कारण भिन्न २ विद्वानों के अलग २ मत है। हेवेल का कथन है कि इस युग की कला का रूप हिन्दू ही था परन्तु सत्य यह है कि विजेताओं ने बहुत से मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया और नवीन मस्जिदों का निर्माण भी उन्हीं के आधार पर कराया गया। इस मिश्रित कला को इण्डो-इस्लामिक (Indo-Islamic) कला कहते हैं। 'अलाईदरवाजा' इस काल की कला का सुन्दर नमूना है। तुगलकों के शासनकाल में वास्तुकला का रूप कुछ विस्तृत एवं विशाल हो गया। तुगलकशाह की कब्र इसका उत्तम नमूना है। फिरोज तुगलक एक महान् निर्माता था। प्रांतीय राज्यों में जौनपुर कला के क्षेत्र में सबसे आगे था। इब्राहीम शर्की के समय की अटाला मस्जिद, हुसेनशाह की जामा मस्जिद इस युग की मिली-जुली भारतीय संस्कृति के अद्-भुत नमूने हैं। हिन्दू राजाओं के राज्य में हिन्दू कला भी उन्नत होती रही। विशेष रूप से राजस्थान के हिन्दू राजाओं ने हिन्दू मन्दिरों में हिन्दू कला को जीवित रखा।

सल्तनत युग की कला में चार विशेषताएं थीं—गुम्बद' ऊँची मीनारें महराब और पटाव (Vault) यह विशेषताएं हिन्दू-मुस्लिम कलाओं के सम-न्वय का परिणाम था। इस्लाम धर्म की सादगी भारतीय कलात्मक सौंदर्य से मिलकर एक नवीन रूप धारण करने लगी। ईसा खाँ और हुमायूं के मकबरों में दोनों प्रकार की भवन निर्माण कलाओं का सम्मिश्रण है। कुतुबमीनार तथा कुतुबुद्दीन की मस्जिद के निर्माण काल से लेकर फतहपुर सीकरी तथा आगरे के सुन्दर महलों तक का काल इसी शैली से प्रभावित है। और यह शैली मिली-जुली भारतीय संस्कृति का फल थी।

मुगलकालीन कलाः—मुगलों के शासनकाल में कला की अत्यधिक उन्नति हुई और उस युग की कलाकृतियां हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय को अधिक स्पष्टता के साथ सूचित करती है। इस युग की कला मे भारतीय और ईरानी तत्वों का संमिश्रण है। फारसी शैली की विशेषता है— रंगीन खपरैले, बाग-बगीचों के मध्य में इमारतों का निर्माण कराना और बनावट की सुन्दरता और सादगी। भारतीय वास्तुकला के विशेष तत्व है—पतले स्तम्भ, कटी मेहराबे, पच्चीकारी का काम तथा अलंकरण को विशिष्ट योजना। इन समस्त विशेषताओं का समन्वय हमें मुगलकाल में दिखाई पड़ता है। सम्राट् अकबर द्वारा निर्मित इमारतों में इसकी झलक मिलती है। बुलन्द दरवाजा, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, जामा मस्जिद, दीवान-ए-खास, पंचमहल और मरियम-मकानी का महल तथा आगरा का दुर्ग आदि अकबर की प्रसिद्ध इमारतें हैं। शाहजहाँ का शासनकाल वास्तुकला का स्वर्णयुग था। उसके समय में रंगीन पत्थरों का प्रयोग, पत्थरो की सजावट और भवनों के अलंकरण आदि कार्य पराकाष्ठा पर पहुँच गये। शाहजहाँ की इमारतों में दीवान-आम, दीवान-खास, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद और ताजमहल सर्व प्रसिद्ध हैं। एक लेखक ने मोती मस्जिद का वर्णन करते हुये लिखा है "भावपूर्ण पत्थर की कविता है........इसकी दाँतदार मुद्राओं, श्वेत एवं नीलो नेत्र दिशाओं में जो रहस्यमय भाव है, उसमें गौथिक लम्लों (यूनानी गंभीर कलात्मकता) के भाव से भी कही अधिक गंभीरता प्रकट होती है। यूनानी मन्दिरों की शांतिमय गंभीरता में भी भावावेश को इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति नही होती। यह पुण्य स्थान जीवन से ओत-प्रोत है। यहाँ एक रहस्यमयी आत्मा परमानन्द और हर्षोन्माद के बीच नृत्य करती है।" इसी प्रकार ताजमहल की भी भिन्न २ शब्दों में प्रशंसा की गई है; जैसे—"संगमरमर के रूप में एक स्वप्न" "सौन्दर्य के अनेक रूपों का मिश्रण" इत्यादि।

मुगलकालीन चित्रकला में भी भारतीय तथा फारसी तत्वों का सम्मिश्रण है। अकबर ने हिन्दी,संस्कृत तथा फारसी कविताओं में वर्णित दृश्यों को चित्रांकित कराया। जहाँगीर के समय में चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई। मुगल काल में राजपूत कला का स्वतन्त्र रूप मे विकास

हुआ। राजपूत चित्रकला में हिन्दुओं की पौराणिक गाथाओं का चित्रण किया गया है। इस कला की अनुपम विशेषता यह है कि उसमें साधारण ग्रामवासी, उनकी जीवन लीलाएं तथा उनके आस-पास के जीवन का चित्रण है। इस कला में आध्यात्मिक भावों का प्रभाव पूरी तरह से परिलक्षित होता है। जन साधारण के चित्रण में हिन्दू कलाकारों ने यथार्थवादिता तथा कलात्मकता को सुन्दर रीति से समन्वित किया।

संगीतः—संगीत के क्षेत्र में भी प्राचीन और नवीन प्रभावों का मेल देखा जा सकता है। इस युग में नवीन साजों का जैसे—सितार, सारंगी, सरोद, इसराज आदि का आविष्कार हुआ। मुगलकाल में नई शैलियाँ, ख्याल और ठुमरी निकलीं जिनमें लालित्य और कोमलता अधिक थी। उस समय के संगीतकारों ने वैज्ञानिक संगीत पद्धति को अपनाकर नवीन प्रगति की। यह हिन्दू-मुस्लिम समन्वय प्रवृत्ति उत्तर भारत तक ही सीमित रही। यही कारण है कि दक्षिण भारत में आज भी प्राचीन समय का संगीत अधिक प्रचलित है।

सिंहावलोकन—हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय से एक मिली-जुली भारतीय संस्कृति का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ। हमारी वेश-भूषा, भाषा, शिष्टाचार, विचार, साहित्य, संगीत, चित्रकला और स्थापत्य सभी में मिली जुली संस्कृति की छाप देखने को मिलती है। यह छाप न शुद्ध हिन्दू है और न शुद्ध मुस्लिम, अपितु इन दोनों का सुन्दर समन्वय है। हमारी हिन्दुस्तानी पोशाक-स्त्रियों और पुरुषों दोनों की-जो इतनी सुन्दर, लालित्यपूर्ण, आकर्षक और शानदार है, बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि हमें मुगल चित्रों में देखने को मिलती है। हमारी हिन्दुस्तानी चाल-ढाल, शिष्टाचार और बातचीत का ढंग जो इतना ओजपूर्ण और आडम्बर हीन है, हमें मिली-जुली संस्कृति से विरासत के रूप में मिला है। हमारी चित्रकला जिसकी रेखाएं इतनी कोमल और रंग इतने आनन्ददायक है, उसी मिली-जुली संस्कृति का विशद प्रतिबिम्ब है। हमारा हिन्दुस्तानी साहित्य-फारसी, संस्कृत, हिन्दी अथवा उर्दू के लेखकों पर उसी युग की छाप है। और अन्त में हमारा हिन्दुस्तानी स्थापत्य-मुस्लिम हो अथवा हिन्दू अपनी अलग अलग दिशाओं में न जाकर, हिन्दू और मुस्लिम आदर्शों के समन्वय को उपस्थित करता है; उसमें लालित्य और ओज दोनों का

सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। वास्तव में हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर वे कृतियाँ खड़ी कर दी जिन्हें देखने के लिए आज भी संसार भर के पर्यटक आते हैं। जैसे ताजमहल, जो भारतीय है; न कि हिन्दू अथवा मुस्लिम।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. मिली-जुली भारतीय संस्कृति के प्रादुर्भाव और विकास को समझाइए।

२. भक्ति-आन्दोलन से आप क्या समझते हैं? इस आन्दोलन ने सामाजिक संस्कृति को विकसित करने में क्या सहयोग दिया?

३. कला, साहित्य तथा संगीत के क्षेत्र में मिली-जुली संस्कृति की क्या देन थी।

बारहवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य का अवसान और अँग्रेजों की भारत विजय

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:—हम देख चुके हैं कि बाबर ने साम्राज्य रूपी वृक्ष का बीज बोया, हुमायूँ के समय मे उस नन्हें पौधे को उखाड़ फेंका गया; परन्तु अकबर ने पुनः उसे जीवनदान दिया और उसका पालन-पोषण किया। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में उस वृक्ष पर फल लगे और औरंगजेब के शासनकाल में वे फल पके। परन्तु औरंगजेब की अनुदार और अदूरदर्शी नीति ने थोड़े ही दिनों में उस वृक्ष की जड़ें खोखली कर दीं। चारों तरफ छोटी छोटी और परस्पर विरोधी रियासतें पैदा करदी; साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति को निर्बल कर दिया और देश के अन्दर हिन्दू-मुस्लिम प्रेम और एकता की उन राष्ट्रीय लहरों को, एक समय के लिए पीछे हटा दिया जो कबीर से लेकर लगभग तीन सौ वर्ष के लगातार प्रयत्नों द्वारा देश को चिरस्थायी सुख तथा समृद्धि की ओर ले जाती हुई दिखाई दे रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त 'परवर्ती मुगलों' के शासनकाल में साम्राज्य रूपी वृक्ष तेजी से सूख गया। उसकी शाखाएँ या तो स्वयंमू गिर पड़ीं या काट डाली गईं। मराठों ने उसके सड़े हुये तने पर जोर का प्रहार किया, और नजीबखाँ और अहमदशाह अब्दाली जैसे अफगान भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसको पुनः न खड़ा कर सके। उसकी (साम्राज्य रूपी वृक्ष) नई हरी-भरी कोपलों को मराठों अथवा अंग्रेजों ने कुचल दिया; और अन्त में मुगल साम्राज्य रूपी वृक्ष के स्थान पर अंग्रेजी ओक खड़ा हो गया। १५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजी ओक भी उखड़ गया और उसके स्थान पर भारतीय गणतन्त्र का वट-वृक्ष फिर लहलहाने लगा है।

यह सब कैसे होगया?—शक्तिशाली मुगल साम्राज्य का औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त ही कैसे पतन हो गया? यह एक रहस्यमय समस्या है।

परन्तु कुछ कारण स्पष्ट है। प्रथम उत्तराधिकारियों की अयोग्यता, विलासिता और आंतरिक कलह। द्वितीय मराठों, जाटों तथा सिक्खों के विद्रोह और अन्तिम कारण था यूरोपीय जातियों की कूटनीतिक चालें। औरंगजेब के उत्तराधिकारी अयोग्य थे। उनमें इतने बड़े साम्राज्य को संभालने की शक्ति नही थी। वे अपने सामन्तों की विशेष कर सय्यद भाइयों की कठपुतली बने रहें और स्वयंम विलासिता के गर्त में डूब गये। इतना ही नही बल्कि हर समय अपने आपको सम्राट् घोषित करने के अवसर की प्रतिक्षा करते रहते थे। वैसे भी मुगलों में उत्तराधिकार नियम का अभाव ही है। तख्त और ताज को लेकर अनेक शताब्दियों से मुगल शाहजादे अपने स्वजनो का रक्त बहाते आये है और इस प्रकार के रक्त रंजित आंतरिक कलहों ने मुगलों की शक्ति को खोखला कर दिया। केन्द्रीय सत्ता निर्बल हो गई और प्रांतीय तथा देशी राजा स्वतन्त्र हो उठे। दूसरी बात मुगलों की धार्मिक नीति थी। हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर को छोड़कर सभी मुगल शासकों में धर्मान्धता कूट २ करके भरी हुई थी। मानव जाति यद्यपि सभ्यता और संस्कृति के उच्चतम छोर स्पर्श कर रही थी और आज भी कर रही है, परन्तु शिकारी युग की पाशविक हिंसा वृत्ति को रोकने में या परित्याग करने में असमर्थ रही है। इस धार्मिक असहिष्णुता का प्रारम्भ शाहजहाँ के शासन काल मे ही हो गया था परन्तु किसी कारण से विद्रोह की चिनगारी सुलग न सकी। परन्तु औरंगजेब के शासनकाल में यह चिनगारी उठी और सम्पूर्ण हिन्दू समाज में फैल गई। राजपूत, जाट, मराठे और सिक्ख' मुगल साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े हुये और उस महान् शक्तिशाली सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद मुगल साम्राज्य को धराशायी कर दिया।

अंगरेजों की विजयः- मुगल साम्राज्य का पतन शुरु हो गया परंतु उसके स्थान पर एक सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना न हो सकी। सम्पूर्ण देश में अनेक छोटे-बड़े राज्यों की उत्पत्ति हुई और ये राज्य अपनी सीमा और शक्ति तथा प्रभाव वृद्धि के लिये परस्पर झगड़ने लगे। इस प्रकार देश में अराजकता फैल गई। ठीक ऐसे ही समय में पश्चिम के व्यापारियों ने अपना स्वार्थ साधा। ये लोग भारत में व्यापार करने आये थे। सबसे पहले पुर्तगाली आये,

फिर अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच आदि आये। अंग्रेज सन् १६०० ई० में आये थे। इन व्यापारियों ने भारत के समुद्र तटों पर अपनी व्यापारिक कोठियाँ खोल रखी थी। इन कोठियों की सुरक्षा को तथा अपने पवित्र गिरजाघरों की सुरक्षा की ओट में किलों का निर्माण भी कर लिया और अनुकूल अवसर पाकर देशी शासकों की पीठ भी थपथपाने लगे। फिर इन श्वेत चमड़ीवालों में भी राज्य की स्थापना तथा विस्तार की आकांक्षा जाग उठी और उन्होंने देशी शासकों के कन्धे से एक दूसरे के विरोध में अपनी २ बंदूकें दागीं। बंदूकें और जहाजी शक्ति इन लोगों की विशेषतायें थी जिनसे हम लोग अनभिज्ञ तो नहीं परंतु उच्च ज्ञान से वंचित थे। देखते ही देखते भारत-भूमि पर अंग्रेज और फ्रेंच जाति में भीषण रक्त रंजित प्रतियोगिता—साम्राज्य स्थापना की दौड़ प्रारम्भ हो गई और अंग्रेजों ने सर्व प्रथम अपने ही स्वबंधुओं—फ्रांसीसियों को पछाड़ दिया और फिर स्वच्छन्द गति से अपने राज्य की स्थापना की ओर अग्रसर हुये। सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में लार्ड क्लाइव के नेतृत्व से अंग्रेजों ने अपना रंग दिखलाया और अंग्रेजी राज्य की नींव डाली। इसके बाद एक शताब्दी के निरंतर संघर्षमय प्रयत्न के उपरान्त सम्पूर्ण भारत,बर्मा, लंका पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस एक शताब्दी के दीर्घ प्रयत्न में उन्हें मराठों, मुगलों तथा सिक्खों से भयंकर संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष में क्लाइव,हेस्टिंग्ज बेंटिक, डलहौजी आदि अंग्रेज प्रतिनिधियों ने अपनी प्रतिभा का, अपने कूटनीतिक गुणों का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया और सम्पूर्ण भारत को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।

भारत की पराधीनता के कारण:—पाश्चात्य शक्तियों की विजय तथा भारतीयों की पराजय हमारे सम्मुख एक गम्भीर समस्या उपस्थित करती है। क्या कारण हुए जिनसे अधिक सभ्य, अधिक बलवान और अधिक उन्नत भारतवासी अपने से कम सभ्य, कम बलवान और उन्नत पाश्चात्य लोगों की चाल में निरन्तर इस सुगमता से आते चले गए, यहाँ तक कि अन्त में अपना सर्वस्व खो बैठे। सर्व प्रथम फ्रांसीसी सेनापति डुप्ले ने इस समस्या की ओर एक संकेत मात्र किया था। डुप्ले ने ज्ञात किया कि पाश्चात्य अर्थों में 'राष्ट्रीयता' अथवा 'देशभक्ति' का उस समय भारत में अभाव था और इसलिये भारतवासियों-

को एक दूसरे से लड़ा देना अत्यन्त सरल था और इसी कारण भारत अपनी स्वतन्त्ता खो बैठा। बात ठीक भी है। मराठों ने पाश्चात्यों का इसलिए साथ दिया था कि वे भी मुगलों के विरुद्ध थे। यही बात अन्य मुगल प्रांतीय शासकों की थी। अंग्रेज विद्वान मालेसन ने लिखा है कि अपने कौमो चरित्र की जिन त्रुटियों के कारण भारतवासी इस तरह पराधीन किए जा सके उनमें एक यह थी कि उन्हें 'स्वभाव से ही ईमानदारी का व्यहार करने और गैरों पर विश्वास कर लेने की आदत' थी। भारत की इस पराधीनता के हमें तीन मुख्य कारण स्पष्ट दिखाई देते हैं:—

राष्ट्रीयता का अभाव:—सर्व प्रथम कारण यह था कि राष्ट्रीयता का भाव उदार भारतीयों के चित्तों में कभी भी अधिक स्थान न कर पाया था। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के अन्दर कोई प्रबल केन्द्रीय शक्ति न रही थी। अनेक शक्तियाँ उस समय देश के अन्दर प्राधान्य प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी। मुसलमानों और हिन्दुओं में पूर्वोक्त कारणों से जगह २ एक प्रकार की पृथकता पैदा हो गई थी। ऐसी स्थिति में एक तीसरी बाहर की शक्ति अनेक लोगों को निष्पक्ष मध्यस्थ की तरह दिखाई दी। पाश्चात्य लोगों ने भारत में बसकर दिखावे के तौर पर भारत को अपना घर बना लिया था। ऐसी सूरत में अपने गैर का भेद भारतवासियों के लिए कोई विशेष अर्थ ही न रखता था। बल्कि भारतवासियों ने सात समुद्र पार के यूरोप निवासियों के साथ उसी तरह प्रेम और सत्कार का व्यवहार किया जिस तरह का वे आपस में एक दूसरे के साथ करने के आदि थे। ऐसी स्थिति में यूरोपीय निवासियों का विविध भारतीय नरेशों के परस्पर संघर्षों में कभी एक और कभी दूसरे का साथ देना अथवा अपनी साजिशों द्वारा इस तरह के संघर्ष खड़े करके उनसे पूरा लाभ उठाना अत्यन्त सरल हो गया था।

(२) व्यापारिक उदारता:—द्वितीय कारण यह था कि यद्यपि भारत का व्यापार उस समय बहुत अधिक बढ़ा हुआ था परन्तु 'व्यापार का जो स्थान उस समय यूरोपियन और विशेषकर अंग्रेज जाति के जीवन में दिया जाता था वह भारत में कभी नहीं दिया गया था। पाश्चात्य राष्ट्रों में बड़े २ ज़मींदार,

शासक तथा सम्राट् व्यापारिक कम्पनियों के हिस्सेदार होते थे। परन्तु भारत के शासक और सामन्त लोग व्यापार करना पसन्द नहीं करते थे क्योंकि व्यापार द्वारा धन उत्पन्न करना एक गौण अथवा छोटा कार्य समझा जाता था और अनादिकाल से एक श्रेणी विशेष के लिए छोड़ दिया गया था। इस कारण किसी भारतीय नरेश के लिए अपने देश के साथ पाश्चात्य लोगों के व्यापार के भावी राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय परिणामों का सोच सकना उस समय असम्भव था। इसके अतिरिक्त व्यापारी माल की रक्षा करना और व्यापार को प्रोत्साहित करना भारतीय नरेश अपना धर्म समझते थे। उन्हें यह गुमान तक न हो सका कि उनकी उदारता एक दिन बढ़ते २ भारतीय व्यापार, भारतीय उद्योग-धंधे और भारत की राजनीतिक स्वाधीनता तीनों के सर्वनाश का बीज साबित होगी।

राजकीय आदेशों व संधिपत्रों में विश्वासः— भारतीय अपने वचन के सच्चे थे। इसके पूर्व किसी विदेशी के वचनो पर अविश्वास करने का कोई कारण न था। भारत में संधिपत्रों और राजकीय आदेशों को पवित्र माना जाता था और विदेशी शासकों के संधिपत्र भी अब तक सच्चे होते थे। किन्तु इसके विपरीत अंग्रेजो के अपनी संधियां पालन करने या न करने के विषय में अंग्रेज इतिहास लेखक सर जॉन ने लिखा है—"मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार ने संधियों को तोड़ने का ठेका ले रखा था। यदि मौजूदा अहदनामों के तोड़ने की सजा में किसी से उसका प्रांत छीना जा सकता है, तो इस समय ब्रह्मपुत्र से लेकर सिन्धु नदी तक एक चप्पा जमीन भारत में अंग्रेजों के पास नहीं बच सकती।" इसी प्रकार एडमण्ड बर्क ने लिखा था कि "एक भी ऐसी संधी नहीं है जो अंग्रेजों ने भारतवर्ष में किसी के साथ की हो और जिसे उन्होंने बाद में तोड़ा न हो।" परन्तु सन् १७५७ से लेकर १८५७ तक बराबर के प्रतिकूल अनुभवों के होते हुए भी भारतवासी सजग न हो सके और सदा अंग्रेजों की प्रतिज्ञाओं पर विश्वास किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में देश को दो टुकड़ों में विभाजित होना पड़ा।

अन्यकारणः— उपर्युक्त तीन कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जिनके कारण भारत पर पाश्चात्य शक्तियों का अधिकार सम्भव हो सका। भार-

तवासी वीरता, साहस अथवा युद्ध-कौशल में पश्चिम के महारथियों से कम नहीं थे। भारतवर्ष में लड़े गये युद्धों को अंग्रेजों ने नहीं जीता, किन्तु भारतवासियों ने अंग्रेजों के लिए जीतकर अपनी विजय का फल अंग्रेजों के हवाले कर दिया। जो असंख्य लड़ाइयां अंग्रेजों और भारतवासियों के बीच लड़ी गई उनमें एक भी ऐसी नहीं हुई जिसमें अंग्रेजी सेना एक ओर रही हो और भारतीय सेना दूसरी ओर; और फिर आंग्ल सेना ने विजय प्राप्त की हो। इस तरह के संघर्ष लड़े भी गये थे परन्तु परिणाम उल्टा हुआ था। अंग्रेज पराजित हुए थे। जहां कहीं भी किसी संग्राम में अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की वहाँ सदा भारतवासियों में दो दल दिखाई दिए हैं; एक उनके पक्ष में और दूसरा उनके विरुद्ध। यह एक अकाट्य सत्य है कि अंग्रेजों ने भारत को तलवार से नहीं जीता; वरन् भारतीयों ने अपनी ही तलवार से अपने देश की स्वतन्त्रता को फिरंगियों के चरणों में डाल दिया।

(१) **मानसिक तथा नैतिक सर्वनाश**:- पूर्वोक्त हानियों से कहीं भयंकर हानि जो देश की राजनीतिक परतन्त्रता पहुँचा सकती है—वह है उस देश के चरित्र का नाश। अमरीकन विद्वान् ई० ए० रास ने लिखा है "किसी राष्ट्र के चरित्र के अधःपतन के सबसे प्रबल कारणों में से एक कारण उस राष्ट्र का किसी विदेशी जाति के अधीन हो जाना है।" भारत के साथ यह कथन सही रूप में लागू होता है। मुगलों की अधीनता में भारत का सामाजिक जीवन भ्रष्ट हो गया था। उच्च नैतिक आदर्शों की हत्या हो चुकी थी। इन्द्रिय सुखों और भोग-विलासिता के अत्यधिक प्रचार से लोगों का मानसिक तथा नैतिक पतन हो चुका था। समाज में भ्रष्टाचार, व्यभिचार तथा अन्य अनैतिक तत्वों की प्रधानता आ गई थी। इस कारण सामाजिक भावना, जिसके संगठन पर स्वतन्त्रता का भवन टिका होता है: डगमगाने लग गई थी और स्वतन्त्रता परतन्त्रता में परिवर्तित हो गई। परिवार की प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी। प्रारम्भिक भारत-वासियों के चरित्र की इस समय के भारतीयों के चरित्र से तुलना अत्यन्त दुष्कर है। एक विद्वान् ने लिखा था कि" भारत वासियों के उच्चतर जीवन के ऊपर विदेशी शासन का प्रभाव ऐसा ही है जैसा किसी चीज को पाला मार जाना"

निःसन्देह मुगल कालीन युग में यह प्राचीन देश वेग के साथ मानसिक; नैतिक तथा भौतिक सर्वनाश की ओर अग्रसर हो चुका था।

(२) विदेशी सम्पर्क की समाप्तिः—भारत में पठान राज्य स्थापित हो जाने के बाद यहां शांति कायम नहीं रह सकी। छोटे २ राज्यों का विकास भी होने लगा और केन्द्र तथा प्रांतीय राज्यों में संघर्षों की अभिवृद्धि हुई। इस प्रकार की अराजक स्थिति में भारत वासियों के लिये या सम्भव नहीं रहा कि वे विदेशी राष्ट्रों से सम्पर्क जारी रख सके। इस सम्पर्क के टूटने से भारतवासियों की विस्तृत विचार सरणी का प्रवाह रुक गया और धीरे धीरे उनमें कूप मण्डूकता के लक्षण प्रगट होने लगे। उन्हें संसार की घटनाओं के इतिहास का कोई ज्ञान न रहा और इस कारण पाश्चात्य देशों की गतिविधि और शक्ति का सही अनुमान लगाना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त वे अपने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी पिछड़ने लगे। भारत का विज्ञान तथा दर्शन लुप्त होने लगा। केवल अकबर के समय में ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ परन्तु फिर वही शिथिलता आ गई।

(३) आर्थिक विषमता:—भारत के पराभव तथा पाश्चात्य शक्तियों के अभ्युदय में तत्कालीन आर्थिक स्थिति ने भी काफी सहयोग प्रदान किया। सरकार ने इस युग में कुछ विशेष भूलें की। उसने राजकर भारी रखे; छोटे वर्गों के वेतन कम रखे और गरीबों के धन को विलासिता पर व्यय करके देश के आर्थिक ढांचे को दुर्बल कर दिया। उसने यातायात के साधनों के सुधार की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। साम्राज्य विस्तार की कामना में उसने आंतरिक संगठन को सुदृढ आर्थिक व्यवस्था द्वारा पुष्ट करने की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया। उसने विदेशी व्यापार की उपेक्षा की; अपना जहाजी बेड़ा बनाने के कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखा और अनेक व्यवसायों के विकास अथवा स्थापना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। विदेशी व्यापारियों ने भारत में अपने छापेखाने खोले थे परन्तु तैमुरी सम्राटों अथवा मराठों या राजपूतों ने छापाखाने अथवा कागद के मिल स्थापित करने की कल्पना नहीं की। इस कारण देश की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकी। दरबार के वैभव और ऐश्वर्य में जनता की दुरावस्था की व्यथा झलकती रही। परन्तु उसे दूर करने

का उपाय नहीं सोचा गया। इन सब कारणों के कारण भारत का पराभव हुआ और पाश्चात्य शक्तियों ने भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस का कारण विदेशियो की उन्नत अवस्था नहीं थी परन्तु भारतवासियों का पारस्परिक कलह, सामाजिक पतन, आर्थिक विषमता, राजनीतिक अराजकता, व्यापारिक उदारता और राष्ट्रीय भावों का अभाव था।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. मुगलसाम्राज्य का पतन और अंग्रेजों द्वारा भारत विजय की कहानी समझाइए।

२. भारत का पराभव कैसे हुआ ? कारणों को स्पष्ट रूप से समझाइए।

३. "भारतवासियों के उच्चतर जीवन के ऊपर विदेशी शासन का प्रभाव ऐसा है जैसा कि किसी चीज को पाला मार जाना।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत है ?

४. "राष्ट्रीयता की कमी के कारण भारत का पतन हुआ।" विस्तारपूर्वक समझाइए।

तेरहवाँ अध्याय

ब्रिटिश युग में भारतीय प्रशासन

व्यवस्थापिका और केन्द्रीय सरकारः—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी साधारण व्यापारी संस्था से धीरे धीरे भारतीय ब्रिटिश शक्ति बन गई; और फलस्वरूप उसके ऊपर नई जिम्मेदारियां आईं। तीनों प्रेसिडेन्सियों (बंगाल बम्बई और मद्रास) के बीच एकता और सहयोग की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और ब्रिटिश लोकसभा ने इसके मामलों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता समझी। इस दिशा में १७७३ का रेगुलेटिंग ऐक्ट प्रथम महत्वपूर्ण कार्य है। इस अधिनियम से भारतीय शासन में नवीनता आती है। इसके अनुसार बंगाल का गवर्नर, गवर्नरजनरल ऑफ बंगाल हो गया और उसे कौंसिल समेत यह अधिकार मिला कि वह अन्य अधीन प्रांतों की देखभाल करे और उन पर नियंत्रण रखे। १७८१ में गवर्नर जनरल और कौंसिल को यह अधिकार दिया गया कि "प्रांतीय अदालतों और कौंसिलों के लिए समय समय पर नियम बनाये।" १७९३ ई० में चार्टर ऐक्ट ने स्पष्ट रूप से यह बतलाया कि समूचे ब्रिटिश भारत पर गवर्नर जनरल का अधिकार है। १८३३ के चार्टर ऐक्ट के अनुसार भारतवर्ष में समूची नागरिक और सैनिक सरकार की देख रेख, निरीक्षण संचालन और नियंत्रण स्पष्ट रूप से अपनी कौंसिल समेत भारतवर्ष के गवर्नर जनरल को प्रदान किया गया। १८५७ ई० में भारतीय विद्रोह हुआ। इसके फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता खत्म हो गई और भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने स्वयं अपने हाथ में ली।

१८६१ ई० में ब्रिटिश लोकसभा ने कौंसिल ऐक्ट पास किया। इस ऐक्ट के अनुसार कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ४ से ५ कर दी गई और यह भी कहा गया कि उनमें से ३ ऐसे लोगों में से लिये जावेंगे जो इस नियुक्ति के समय भारतवर्ष में नौकरी करते रहेंगे और उस नौकरी में उनका काम से कम

१० वर्ष तक रहना आवश्यक था। सन् १८६२ में दूसरा कौंसिल ऐक्ट पास हुआ जिसमें कुछ स्थान निर्वाचन पद्धति द्वारा किये गये। इस कानून के अनुसार प्रांतों व केन्द्र दोनों में धारा सभाओं की स्थापना की गई। सदस्यों के अधिकार को वढा दिया गया। अब कौंसिल के सदस्य सरकारी वजट पर वहस कर सकते थे। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकते थे। जब इससे भी भारतीयों की आकाँक्षायें पूरी न हुई तो तीसरा सुधार सन् १६०६ में हुआ। यही मिन्टो-मार्ले सुधार के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय कौंसिलों के सदस्यों व अधिकारों में कुछ वृद्धि की गई। सदस्यों की संख्या ६० कर दी गई। जिसमें लगभग २४ मनोनीत तथा २७ निर्वाचित सदस्य होगे। परन्तु कौंसिल गवर्नर जनरल को कार्यकारिणी पर किसी प्रकार का दवाव नहीं डाल सकती थी। सन् १६१६ में इंगलैंड की भांति दो भवनों का निर्माण केन्द्र में किया गया। उच्च भवन "कौंसिल ऑफ स्टेट" कहलाता था। इसमें ६० सदस्य थे जिनमें ३३ सदस्य चुने हुये और शेष नामजद। निम्न भवन का नाम 'व्यवस्थापिका सभा' था। इसमें १४० सदस्य थे जो अधिकतर चुने हुए होते थे। दोनों भवन अपने २ सभापतियों को चुनते थे। १६१६ के कानून के अनुसार धारा सभाओं के अधिकार भी वढा दिये गये। इसके अनुसार प्रांतों में दूहरे शासन की स्थापना की गई थी। १६३५ में ब्रिटिश लोकसभा ने अन्तिम सुधार किया।

१६३५ के ऐक्ट ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो सभाओं की व्यवस्था की। एक का नाम कौंसिल ऑफ स्टेट पड़ा और निचली सभा का नाम 'हाउस ऑफ असेम्वली' पड़ा। इसकी अधिक से अधिक अवधि पाँच वर्ष रखी गई परन्तु इसे पहले भी विघटित किया जा सकता था। कौंसिल ऑफ स्टेट को स्थायी संस्था वनाया गया और कहा गया कि एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष चुने जायेंगे। व्यवस्था यह थी कि ६ सदस्यों को गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से चुनेगा और १०४ को राज्य अपनी इच्छा से चुनेगा। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को साम्प्रदायिक आधार पर चुनने की व्यवस्था हुई, और राज्यों के शासक अपने प्रतिनिधि चुन सकते थे। इसका चुनाव प्रत्यक्ष होगा। फेडरल असेम्वली में ब्रिटिश भारत के २५६ प्रतिनिधि होगें। संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों के १०४ से अधिक प्रतिनिधि न होगें। चुनाव अप्रत्यक्ष होगा। ब्रिटिश भारत के

प्रतिनिधि को उन प्रांतों की लेजिस्लेटिव असेम्बली चुनेगी जहाँ दो धारासभाएं है। दोनों धारासभाओं को सभी विषयों में समान अधिकार रहेगा।

१६३५ के ऐक्ट ने संघ के विषयों को दो भागों में बांट दिया सुरक्षित और हस्तांतरित। गवर्नर जनरल को सुरक्षित पर शासन करने को मिला। इसमें रक्षा, वैदेशिक मामले, धर्म सम्बन्धी मामले और कबीलों के क्षेत्र थे। गवर्नर जनरल को उन पर कौंसिल के सदस्यों की, जिनकी संख्या ३ से अधिक नहीं थी; राय से शासन करने को मिला। उनकी नियुक्ति उसके हाथ में थी और वे संघ व्यवस्थापिका के समक्ष उत्तरदायी नहीं हो सकते थे। हस्तांतरित भाग में बाकी संघ विषय थे। उन पर गवर्नर-जनरल को मन्त्रियों को कौंसिल की राय से शासन करने का अधिकार मिला; और संघ-व्यवस्थापिका के सदस्य के रूप में वे इसके समक्ष उत्तरदायी थे। कुछ विषयों में गवर्नर-जनरल को विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये। इस प्रकार ब्रिटिश युग में भारतीय व्यवस्थापिका और केंद्रीय सरकार का विकास हुआ।

प्रांतीय सरकार:—ब्रिटिश भारत प्रांतों मे विभाजित था। प्रांतों का निर्माण विशुद्ध वैज्ञानिक अथवा राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर नहीं हुआ था। जातीय, भाषागत, सांस्कृतिक दल अथवा राजनीतिक आर्थिक इकाइयों के विचार बाद में पैदा हुए है। इस त्रुटि का प्रधान कारण भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्यों का धीरे २ फैलना है। प्रांतों के गवर्नरों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। बहुत दिनों तक वह कार्यकारिणी का अपने पद के कारण सभापति बना रहा। उसे लेजिस्लेटिव कौंसिल को बुलाने, स्थगित करने, भंग करने तथा नये निर्वाचनों की आज्ञा देने का अधिकार था। १६१६ के सुधारों ने प्रांतीय कार्यकारिणी में दोहरे शासन की प्रथा चलाई। कार्यकारिणी दो भागों में बंट गई। गवर्नर अपनी एक्जीक्यूटिव कौंसिल के साथ सुरक्षित विभागों की देख रेख करता था और हस्तांतरित विषयों में वह अपने मंत्रियों के साथ मिलकर काम करता था। साधारणतः गवर्नर प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के चुने हुए सदस्यों में से मंत्रियों को चुनते थे और वे "उसकी इच्छानुसार पद" पर रखते थे। व्यावहारिक दृष्टि से मन्त्री अपने शासन के लिए प्रांतीय व्यवस्थापिका के सामने

उत्तरदायी थे। प्रांतीय व्यवस्थापिका में सरकारी और सरकार-समर्थकों की संख्या अधिक थी।

दोहरा शासन एक प्रयोग था। इसमें एक प्रकार से समझौते की लालच थी। अतः इसमें स्वाभाविक त्रुटियां थी। साथ ही भारतीयों की भावनाओं और राजनीतिक विचारों में परिवर्तन भी हुए। इन कारणों से आरम्भ से ही इसका सफल संचालन असंभव हो गया। १६३५ के ऐक्ट ने प्रांतों में दोहरे शासन तथा प्रांतीय सरकारों के द्वैध स्वरूप को उठा दिया। कोई सुरक्षित विषय न रहा और गवर्नर की एक्जिक्यूटिव कौंसिल उठा दी गई।

१६३५ के ऐक्ट के अनुसार प्रान्त का शासन प्रान्तीय गवर्नर, मंत्रिमंडल और प्रान्तीय धारा सभा द्वारा संचालित होता था। यह भारतीय राजनीति में ब्रिटिश शासन काल में पहला ही अवसर था जब कि प्रान्तीय शासन, केन्द्रीय शासन से बिल्कुल पृथक करके प्रान्तीय धारा सभा, प्रान्तीय मंत्रिमंडल व गवर्नर के हाथ में सौंपा गया था। प्रान्तीय स्वराज्य वास्तव में जैसा होना चाहिए था न था। क्यों कि प्रांतीय धारा सभा व प्रांतीय मंत्रिमंडल को विशेष अधिकार न देकर प्रांतीय गवर्नर के विशेषाधिकार इतने व्यापक व नियन्त्रक बना दिये थे कि जिससे प्रांतीय स्वराज्य केवल एक दिखावे व तमाशे की वस्तु रह गई। गवर्नर मन्त्रिमंडल का निर्माण, उसका कार्य-संचालन तथा उसको हटाने का अधिकारी था।

प्रत्येक प्रांत में जनता द्वारा चुनी एक धारा सभा होती थी। धारा सभा का बहुमत दल अपना नेता चुना करता था और गवर्नर इस नेता को मुख्य मन्त्री नियुक्त करता था। मुख्य मन्त्री अन्य मन्त्रियों को गवर्नर की आज्ञा से नियुक्त करता था। मन्त्रिमण्डल का सम्मिलित उत्तरदायित्व होता था। मंत्रि-मण्डल धारा सभा के प्रति उत्तरदायी होता था परन्तु वह गवर्नर के प्रति भी उत्तरदायी होता था। सन् १६३७ में प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों की स्थापना की गई। ११ प्रांतों में से ८ प्रांतों में कांग्रेस के और शेष तीन प्रांतों में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए। इन प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों ने विशेष कर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने अपनी सीमित शक्तियों के होते हुए भी जनता की

सराहनीय सेवा की। किसानों के सुधार के लिये Tenancy Act, शराबबन्दी, राजनैतिक बंदियों को मुक्त कराना, बेसिक शिक्षण प्रणाली आदि कई सराहनीय कार्य किये।

लगान शासन प्रबन्धः—शासन व्यवस्था में लगान वसूली का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में कुल उपज का १/६ से १/४ भाग तक वसूल किया जाता था। मुगलों के शासन में कुछ महत्वपूर्ण सुधार हुये। अंग्रेजों ने प्रारम्भ में इनकी तरफ ध्यान नहीं दिया। वारेन हेस्टिंगज ने लगान वसूली का काम अधिक बोली लगाने वाले ठेकेदारों को दे दिया। परन्तु इन सुधारों से लगान प्रबन्ध की कोई सन्तोषजनक व्यवस्था न हो सकी। सबसे अधिक डाक बोलने वालों को कुछ समय के लिए ठेके पर लगान देने से जबरदस्त बुराइयाँ हुई। जमीन में अपना कोई स्थायी स्वार्थ नहीं होने के कारण नये जमीन्दार नियत समय में जितना हो सके उतना किसानो से चूसने की कोशिश करते थे। लार्ड कॉर्नवालिस ने १० फरवरी १७६० को बंगाल, बिहार में दस वर्षा प्रबन्ध का प्रारम्भ किया। भारतीय इतिहास और अर्थशास्त्र के विद्वानों ने चिरस्थायी प्रबन्ध (दस वर्षा) की अच्छाइयों और बुराइयों पर बिल्कुल परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किया है। चिरस्थायी प्रबन्ध भूल था। छोटे किसानों को इससे किसी भी तरह का लाभ नहीं हुआ। यह सच है कि इससे जमीन्दारों को जायदाद पर अधिकार का स्वामित्व मिला। पहले जमीन्दार और ताल्लुकेदार केवल लगान के ठेकेदार थे। वे अपनी वसूली का एक भाग सरकार को देते थे और बाकी पारिश्रमिक के रूप में ले लेते थे। उन्हें जमीन पर कभी कोई स्वामित्व का अथवा पैतृक अधिकार नहीं था। कॉर्नवालिस ने इन ठेकेदारों और एजेन्टों को "जमीन का मालिक" स्वीकार किया। रैयतों के अधिकारों और हितों की उपेक्षा की गई। वे बिल्कुल जमीन्दारों की मर्जी पर छोड़ दिये गये।

भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्य के क्रमिक विकास के साथ, समूचे देश में अलग अलग इलाकों की अलग अलग परिस्थिति के अनुसार तरह तरह की भूमि की व्यवस्था और लगान की जमाबन्दी की प्रथाएँ चलाई गई। मद्रास में सर

टामस मुनरो की चेष्टाओं के कारण रैयतवारी प्रथा चलाई गई। बम्बई प्रेसिडेन्सी में भी रैयतवारी प्रथा का विकास हुआ। मध्यप्रान्त में मालगुजारी बन्दोबस्त चलाया गया। इन सब व्यवस्थाओं ने सरकार और काश्तकारों तथा खेतिहारों के बीच जमीन्दारों और ताल्लुकेदारों का एक नवीन वर्ग खड़ा कर दिया जो ब्रिटिश सरकार का पक्षपाती तथा किसानों का शोषक बन गया। १९१९ के सुधारों के पश्चात् भूमिराजस्व प्रान्तीय विषय बन गया और यह प्रान्तीय सरकार की आमदनी का एक प्रधान अंग बन गया। १९३७ में प्रांतीय स्वराज शासन लागू हुआ तो भिन्न २ प्रांतों में भूमि व्यवस्था सुधार के महत्त्वपूर्ण कानून बने और किसानों को कुछ राहत मिली।

न्याय व्यवस्थाः— अँग्रेजों की प्रारम्भिक विजय के समय उनके अधीन इलाकों की न्याय शासन व्यवस्था को लकवा मार गया। वारेन हेस्टिंगज ने इस क्षेत्र में काफी सुधार किये। लार्ड कार्नवालिस के समय में न्याय की शासन व्यवस्था में पूरा सुधार किया गया और आधुनिक न्याय व्यवस्था की प्रधान नींव रखी गई। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि दीवानी न्याय के लिए अदालतों की एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था कायम की गई। सबसे ऊपर सदर दीवानी अदालत थी। उसके नीचे प्रधान शहरों में प्रांतीय कचहरियाँ कायम की गई और इनके नीचे जिले की कचहरियाँ थीं। बड़े शहरों और कस्बों में 'सिटी-कोर्ट्स' तथा गांवों के लिए देहाती कचहरियां कायम की गई। न्याय के शासन में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वकीलों की नियुक्ति सदर दीवानी अदालत के हाथों में सौंप दी गई। फौजदारी न्याय शासन के लिए कचहरियों का एक समानान्तर संगठन कायम किया गया।

लॉर्ड विलियम बेंटिक का शासनकाल आधुनिक न्याय शासन के इतिहास में महत्वपूर्ण है। इसके बाद सुधारों का कार्य जोरों से हुआ। १८६० में फौजदारी कानून संग्रह (I.P.C. तैयार किया गया। फिर दीवानी कार्यवाही (Civil Procedure) फौजदारी कार्यवाही (Criminal Procedure) आदि कानून संग्रहों का निर्माण किया गया। इसके बाद अधिक सुधार नहीं हो सके। १८६१ में हाईकोर्टों की स्थापना की गई। १९३५ में हाईकोर्टों के

ऊपर फेडरल कोर्ट (संघीय न्यायालय) की स्थापना की गई। इन सबके ऊपर इंगलैण्ड की 'प्रिवी कौंसिल' को अपील सुनने का अधिकार था।

संक्षिप्त में, ब्रिटिश कालीन न्याय विभाग की रूपरेखा निम्न प्रकार से समझाई जा सकती है:—
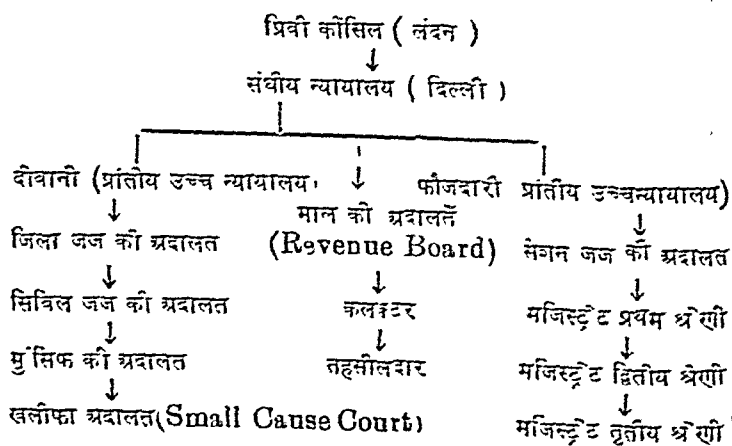
नौकरशाही व्यवस्था:—भारतीय शासन एक प्रकार से नौकरशाही (Bureaucracy) थी, क्यों कि यहां शासन का सारा कार्य भारत सरकार द्वारा नियुक्त अफसरों द्वारा संचालित होता था। एक गांव के मामूली चौकीदार से लेकर भारत के उच्च से उच्च पदाधिकारी गवर्नर जनरल तक अफसर भारत सरकार द्वारा नियुक्त होते थे और वे सरकार के कार्य करते थे। प्राचीन या मध्ययुग की भांति देश किसी वंशानुगत सम्राट् या राजा के अधीन न होकर, प्रारम्भ में सौदागरों की सभा और बाद में ब्रिटिश ताज के अधीन था। बड़े से बड़े अधिकारी को भी वेतन मिलता था और उसकी नियुक्ति ताज की इच्छा पर होती थी।

भारत सरकार के शासन का कार्य विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग के कार्य संचालन के लिए सरकार द्वारा एक विशेष प्रकार के अनुभवी तथा शिक्षित लोग रहते थे। भारत सरकार की नौकरियां तीन भागो में विभक्त थी—(१) भारत सरकार की नौकरियां (२ प्रान्तीय नौकरियां ३) अधीनस्थ नौकरियां (Subordinate Services)। अखिल भारतीय नौकरियों में दो प्रमुख थी—एक; सिविल सर्विस और दूसरी रक्षा-सम्बन्धी नौकरियां।

सिविल-सर्विस को तीन भागों में बांट दिया गया था— क) अखिल भारतीय नौकरियां जो भारत मन्त्री के हाथ में थी (ख) संघ-शासन में जो गवर्नर जनरल के अधीन थी ग प्रांतीय नौकरियां जो प्रातीय गवर्नरो के अधीन थी।

सिविल-सर्विस—प्रत्येक देश के शासन के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त व अनुभवी सिविल सर्विस की आवश्यकता होती है। अंग्रेजों के विदेशी शासन को तो एक सिविल सर्विस की और भी अधिक आवश्यकता थी; क्योंकि उनके शासन के ढंग और भारतीय मुस्लिम शासन में बहुत अन्तर था। सारे भारत का शासन व नियंत्रण इन्ही सिविल सर्विस के लोगों द्वारा संचालित होता था। इण्डियन सर्विस की तीन शाखाएँ थी—इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस और इण्डियन मेडिकल सर्विस। ये तीनों प्रकार के अफसर भारत सरकार रूपी रथ के पहिये थे। इनके बिना भारतीय शासन का कार्य सुचारु रूप से असंभव था।

इन मुख्य नौकरियों का नियन्त्रण भारत मंत्री के हाथ में था। इनके नियुक्त करने के लिए दो कमीशन थे। (१) ब्रिटिश पब्लिक सर्विस कमीशन। २ संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन। सन् १९३९ से भारत मंत्री भी अंग्रेजों की नियुक्ति इस पद पर नाम निर्देश द्वारा भी नियुक्त कर सकता था। सिविल सर्विस की अन्य नौकरियों पर नियुक्ति करने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया था। अखिल भारतीय सिविल सर्विस की नियुक्ति वेतन, भत्ता, छुट्टी, कार्यविधि आदि बातें निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दे दिया गया था। इन पदाधिकारियों को भारत मन्त्री व गवर्नर जनरल या

प्रान्तीय गवर्नरों के अतिरिक्त और कोई इनके पदों में अलग नहीं कर सकता था। यद्यपि भारतीयों को भी इनमें भाग्य आजमाने का अधिकार दिया गया था परन्तु उनके साथ पूर्ण रूप से न्याय नहीं किया जाता था। प्रान्तों में प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशन होता था। वह अपने प्रांत की मुख्य मुख्य नौकरियों पर नियुक्तियां करने के लिये छांट करता था। यही नौकरियां प्रांतीय सिविल सर्विस कहलाती थीं। इनका मुख्य कार्य प्रांतीय विभागों का सरकारी कार्य संचालन करना था।

स्वायत्त शासन (Local Self Government)—भारतवर्ष में स्वायत्त शासन एक प्रतिनिधात्मक संगठन के रूप में, जो कुछ मतदाताओं के सन्मुख अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी हो, जिसे शासन सम्बन्धी व कर लगाने के अधिकार भी प्राप्त हो, जो देश में राजनीतिक शिक्षा का प्रसार करता हो तथा देश के लोगों में अपनी जिम्मेदारी उठाने तथा अपने देश की सरकार तथा प्रजा में घनिष्ठता व निकटता लाने वाला हो, ऐसा रूप तो ब्रिटिश शासन-काल ही में प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व स्वायत्त शासन का क्षेत्र; अधिकार व व्यापकता इतने न थे। यह बात अवश्य निश्चित है कि प्राचीन भारत में पंचायत प्रथा तथा नगरपालिका व्यवस्था प्रचलित थी। उसी प्रथा के द्वारा गांवों तथा नगरों के कुछ सीमित कार्य जैसे सफाई, रक्षा, सार्वजनिक कार्यों का निरीक्षण आदि होते थे। परन्तु स्वायत्त शासन का व्यापक रूप मुगलकाल में लुप्त हो चुका था।

अंग्रेजी शासन में सर्व प्रथम मद्रास में भारतीय और योरुपीय लोगों की एक सभा 'कर' लगाने के उद्देश्य से निर्मित की गई थी। थोड़े दिन बाद यही सभा बम्बई और कलकत्ते में भी स्थापित कर दी गई। सन् १८४२ से लेकर सन् १८६२ तक भारत के अन्य नगरों में भी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को जन्म दिया गया। सन् १८७० ई० में लार्ड मेयो ने घोषणा की थी कि भारतीयों को भारतीय शासन में अधिक से अधिक संख्या में सम्मिलित करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि भारत में अधिक से अधिक स्वायत्त-शासन संस्थाएं स्थापित की जावें। इस प्रकार भारत में नगरपालिकाओं तथा स्वायत्त शासन संस्थाओं की गांव और नगरों में संख्या बढ़ गई।

सन् १८८२ ई० में लार्ड रिपन ने स्वायत्त शासन संस्थाओं को और अधिक प्रोत्साहन दिया। लार्ड रिपन की घोषणा के अनुसार इन संस्थाओं में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि जाने लगे। उनके कार्यक्षेत्र व कर आदि लगाने की शक्तियां भी अधिक व्यापक बना दी। प्रत्येक जिले का डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट इन संस्थाओं का सभापति होता था।

सन् १९१९ के कानून के अनुसार स्थानीय स्वायत्त शासन को और अधिक प्रोत्साहन मिला। इन संस्थाओं पर जो नियन्त्रण व प्रतिबन्ध थे; कम कर दिये गये तथा उन्हें अपने सीमित क्षेत्र में कार्य करने की अधिक सुविधा व स्वतन्त्रता मिल गई। १९३९ में इस दिशा में और प्रगति की गई। अब प्रत्येक प्रांत में एक स्थानीय स्वायत्त शासन मन्त्री होता था और वह अपने सम्पूर्ण शासन का नियंत्रण करता था। पंचायत व नगरपालिकायें अब केन्द्रीय विषय न रहकर प्रांतीय विषय हो गये। कई प्रांतों में पंचायत कानून पास किये गये जिनके अनुसार प्रत्येक गांव में पंचायतें स्थापित कर दी गई। इन पंचायतों को गांव के शासन सम्बन्धी बहुत से अधिकार दिये गये। इस प्रकार ब्रिटिश काल में स्वायत्त शासन का विकास हुआ।

भौतिक उन्नति:—यद्यपि ब्रिटिश सरकार भारतीय उद्योग धन्धों की उन्नति करने के पक्ष में नहीं थी परन्तु फिर भी परिस्थितियों के कारण इस युग में आर्थिक तथा भौतिक क्षेत्र में उन्नति की प्रक्रिया को रोका नहीं जा सका और इसके परिणामस्वरूप यातायात व संदेशवाहन के साधनों का भी द्रुत गति से विकास हुआ। रेलवे, मोटर, तार, रेडियो आदि के द्वारा देश की एकता स्थापित हुई और दूर दूर के प्रान्तों के बीच विचारों का आदान-प्रदान भी बढ़ा जिससे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को भी बल मिला। रेलवे के विकास पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त पक्की सड़कों के निर्माण पर भी ध्यान दिया गया। भाप की शक्ति से संचालित विशालकाय जहाजों के प्रयोग के कारण भारत के विदेशी व्यापार को बहुत सहायता मिली। ब्रिटिश शासकों ने सिंचाई व्यवस्था की तरफ भी ध्यान दिया। १८७४ में आगरा नहर, १८७८ में गंगा की नहर और १८८२ में पश्चिमी यमुना नहर का निर्माण किया गया।

१८९० ई० में पंजाब में नहरों की भरमार हो गई। नहरों के अतिरिक्त बड़े बड़े बाँधों का भी निर्माण किया गया।

डाक, तार, टेलीफोन आदि के सम्बन्ध में जो उन्नति ब्रिटिश युग में हुई उसका विशेष रूप से उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। ये सब जहाँ ब्रिटिश शासन की सुव्यवस्था के लिए अत्यन्त उपयोगी थे, वहाँ साथ ही जनता को भी इनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता था। भौतिक उन्नति की अन्य अनेक बातों के समान इनका भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनके कारण जहाँ भारतीय जनता का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न बना, वहाँ साथ ही उसे व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्र में उन्नति करने का भी अवसर मिला।

संक्षिप्त में, हम इतना ही कह सकते हैं कि ब्रिटिश युग में भारतीय शासन सुसंगठित और व्यवस्थित था। देश में पूर्ण रूप से शांति रही और विदेशी आक्रमणों से देश सुरक्षित रहा तथा पाश्चात्य शिक्षा और ज्ञान की सहायता से भारत आगे बढ़ने में सफल रहा। ब्रिटिश शासन की आधारशिला पर ही हमारी आधुनिक शासन प्रणाली टिकी हुई है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. ब्रिटिश युग में भारतीय प्रशासन की रूप रेखा पर प्रकाश डालिये।
२. यह कहना कहाँ तक सही है कि ब्रिटिश शासन नौकरशाही शासन था?
३. ब्रिटिश युग में केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के संगठन का उल्लेख कीजिये।
४. "स्थानीय स्वराज्य की व्यापकता ब्रिटिश शासन की देन थी।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं?

चौदहवाँ अध्याय

सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन

(१) धार्मिक आन्दोलन:—जिस समय अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार किया भारतीय समाज में धर्म द्वारा फैलाए हुए आडम्बर का अधिक प्रचार था। जातीय घृणा के कारण समाज में एकता नहीं थी। अंग्रेजों द्वारा संरक्षित ईसाई धर्म को मिशनरियों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना शुरू किया। ईसाई धर्म के एकत्व व बन्धुत्व की भावनाओं से भारत की जनता इस धर्म की ओर आकर्षित होने लगी। भारतीय समाज अंग्रेजों के सामाजिक तत्वों द्वारा प्रभावित होने लगा। ऐसे समय मे भारतीय विचारकों ने अपने धर्म और समाज की सुरक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ किया। सब धार्मिक आन्दोलनों का उद्देश्य हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को हटाना था। इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दुओं के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों-वेदों तथा उपनिषदों से प्रेरणा ली। ये आन्दोलन धार्मिक तथा सामाजिक उद्देश्य को लेकर चले और इसके साथ-साथ देश की राजनैतिक जागृति में भी उनका महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय:—अंग्रेजी साहित्य व दर्शन द्वारा प्रभावित भारतीयों ने अपने समाज व धर्म में सुधार करने का प्रयत्न किया। उनमें मुख्य राजा राममोहन राय थे। वेद उपनिषदों के ज्ञान से इन्हें प्रेरणा मिली कि भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की अधिक आवश्यकता है। १८०५ से १८१४ तक इन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी कर ली। यहाँ वे पढ़े लिखे अंगरेज शासकों व व्यापारियों के सम्पर्क में आये। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करने का सुअवसर उन्हें प्राप्त हुआ। राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना की। १८३३ में उनका देहावसान हो गया। राजा राममोहन राय के अलावा ब्रह्म समाज के प्रमुख

समाज पर प्रभाव:—आर्य समाज ने पश्चिमी भारत में वही कार्य किया जो पूर्वी भारत में ब्रह्म-समाज ने किया। धार्मिक क्षेत्र में इसने मूर्ति पूजा, अन्धविश्वास और आडम्बर ज्ञान को दूर किया। परन्तु धर्म के क्षेत्र में इसे अधिक सफलता नही मिली क्योंकि यह उपनिषद्, गीता, भागवत, पुराणों के सिद्धान्तों को सत्य नही समझती थी। सामाजिक क्षेत्र में इस समाज ने बहुत सफलता प्राप्त की। आर्य समाज ने स्त्रियों में पर्दा प्रथा, दहेज, बाल-विवाह को समाप्त करने का आन्दोलन किया। वे स्त्रियों की शिक्षा के भी पक्षपाती हैं। जातीय रूढ़िवाद को समाप्त कर अन्तर्जातीय सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हरिजनों को अछूत न समझ कर उन्हें सवर्ण-हिन्दुओं के साथ बराबरी का स्थान देना व उन्हें शिक्षित बनाना चाहते हैं। वे सादगी का जीवन चाहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में वे गुरुकुल प्रणाली के आधार पर शिक्षा चाहते हैं। संस्कृत और वेदों का अध्ययन ही वास्तविक शिक्षा मानते हैं। आर्य समाजियों द्वारा संचालित कई कालेज व स्कूल भारत में चल रहे हैं। राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने व स्वतन्त्र राष्ट्र के निर्माण में आर्य समाज ने १९वीं शताब्दी में बहुत प्रभावशाली कार्य किया।

थियोसोफीकल समाज

एनीबिसेंट—थियोसोफीकल समाज की स्थापना न्यूयार्क में सन् १८७५ में हुई थी। इसके जन्मदाता मादम ब्लीवात्सकी तथा कर्नल आल्कट थे। भारत में सन् १८८२ ई० में अदयार नामक स्थान पर इस समाज की स्थापना हुई थी। भारत में इस समाज की प्रमुख कार्यकर्त्री एनीबिसेंट थी जो एक आयरिश महिला थीं। भारत आकर श्रीमती एनीबिसेंट ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और हिन्दू-धर्म के आदर्शों का प्रचार करने लगीं।

सिद्धान्त:—यह समाज सर्व धर्मी समाज है। पश्चिम के भौतिकवाद और हिंदुओं में फैली हुई कुरीतियों का यह घोर विरोधी रहा। इसकी प्रेरणा का आधार हिन्दू, बुद्ध व ईसाई धर्म थे। इसके अनुसार विश्व एक महान् बन्धुत्व का क्षेत्र है। सब व्यक्ति समान हैं और भाई भाई हैं। सब धर्मों के आदर्शों का सम्मेलन इसी समाज में हुआ। ईश्वर एक ही है और सर्व शक्ति-

शाली है। आत्मा अमर है और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का यह समाज स्वीकार करता है। बन्धुता व शांति ही जीवन के संदेश है।

समाज पर प्रभावः—धार्मिक क्षेत्र में यह समाज दर्शन विवाद को सभा ही रह गई है। परन्तु हिन्दू धर्म और दर्शन के प्रचार करने में इस संस्था ने प्रमुख भाग लिया। सामाजिक सुधारों की ओर भी इस समाज ने हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया। स्त्रियो के अधिकारों का भी समर्थन किया गया। जाति पांति के भेद-भाव मे इस समाज का विश्वास नही है। सभी ईश्वर की सन्तान है, इसीलिए सभी बराबर है और सभी पर ईश्वर की समान कृपा है। इस आंदोलन के द्वारा हिन्दुओ मे एक नई चेतना का संचार हुआ। देश में कई शिक्षण संस्थाएं स्थापित हुई। सन् १८९८ मे एनीबिसेंट ने काशी में सेंट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। उन्होंने कहा था कि इसका उद्देश्य हिन्दुओं को हिन्दू धर्म सिखलाना होगा। यही बाद को चल कर हिन्दू-विश्वविद्यालय हुआ।

वेदान्त समाज या रामकृष्ण परमहंस समाज

स्वामी विवेकानन्दः—यह समाज स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित किया गया। स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। परमहंस का जन्म बंगाल में हुआ। बचपन मे ही उनमें धार्मिक प्रवृत्ति थी। धीरे धीरे इनमें संन्यासी भावना पैदा होने लगी और ये जंगलों में चले गये। वही उन्होंने सन्यासी जीवन अपनाया और सब धर्मों का अध्ययन करने लगे। इनके मुख्य शिष्यों में विवेकानंद ने इनके विचारों का प्रचार किया। पहले स्वामी विवेकानन्द (जिनका पहला नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था) नास्तिक थे फिर परमहंस के सम्पर्क में आने के बाद आस्तिक हो गये। सन् १८९२ से ये अपने गुरु के सिद्धांतों के प्रचार कार्य में लग गये। १८९३ में शिकागो में सर्व धर्म सम्मेलन में भाग लेकर हिन्दू धर्म की व्याख्या पश्चिम के देशों को बतलाई। विदेशों में हिन्दू धर्म का सन्देश पहुँचाने का कार्य स्वामी विवेकानन्द ने ही किया। भारत लौट कर उन्होंने वेदान्त समाज या रामकृष्ण परमहंस समाज को पुनः संगठित किया।

सिद्धान्तः—परमहंसजी के अनुसार ईश्वर निराकार है तथा मनुष्य के

ज्ञान और पहुँच के परे हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु में ईश्वर वर्तमान है और जो कुछ संसार में होता है वह ईश्वर द्वारा ही किया जाता है। सब देवता एक ही ईश्वर के विविध रूप हैं। विवेकानन्दजी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म में रहना चाहिये क्योंकि प्रत्येक धर्म सच्चा तथा अच्छा है। आत्मा ईश्वरीय है। हिन्दू सभ्यता सब से प्राचीन तथा श्रेष्ठ धर्म से निस्सृत है अतएव सत्य है, शिव है तथा सुन्दर है। हिन्दू राष्ट्र संसार का शिक्षक रहा है तथा भविष्य में रहेगा। पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक न होकर भौतिक है अतः हेय है।

समाज में प्रभाव:—स्वामी विवेकानन्द के प्रचार कार्यों से भारतीय धर्म, दर्शन और प्राचीन समाज का चित्र विदेशों में फैलने लगा। समाज के क्षेत्र में इन्होंने दीन तथा दुखियों की सहायता की है। राष्ट्रीय आपत्तियों के प्रकृति द्वारा प्रदत्त बीमारियों का बाढ़ या अकाल के समय में इन्होंने भारतीयों की सेवा करके आदर्श की स्थापना की है।

अन्य धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन

प्रार्थना समाजः—ब्रह्म समाज के ही प्रभाव से सन् १८६७ में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके प्रमुख सदस्यों में श्री रानाडे तथा सर भण्डारकर थे। इस समाज के उद्देश्य जाति प्रथा का अन्त, विधवाओं का पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन तथा बाल विवाह बन्द करने आदि थे। धर्म के विषय में इसके तथा ब्रह्मसमाज के विचार मुख्यतया एक ही हैं।

देव समाज:—एक दूसरा आंदोलन देव समाज है। इसकी स्थापना पं० शिवनारायण अग्निहोत्री द्वारा की गई थी। श्री अग्निहोत्री पहले ब्रह्म समाज में थे। उससे अलग होने पर उन्होंने देव समाज की स्थापना की। अपने अन्तिम दिनों में वे नास्तिक हो गए थे। इसलिए देव समाज भी ईश्वर में विश्वास नहीं करता है।

राधास्वामी सत्संग आन्दोलनः—इस संस्था के संस्थापक श्रीविश्वदयाल जी महाराज थे। जिन्होंने दयालबाग आगरा में अपने विचारों को प्रयोग में लाने के लिए इस संस्था को प्रारम्भ किया था। इस संस्था का क्षेत्र

सीमित है परन्तु समाज व शिक्षा के क्षेत्र में इसने महत्वपूर्ण सेवा की है। इसके सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर पूर्ण है और आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर को योग व तपस्या से ही प्राप्त किया जा सकता है। वे आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते है। गुरु ही ज्ञान, सत्य और ईश्वर का प्रतिरूप है। वे भक्ति-योग पर अधिक महत्व देते हैं। इस संस्था ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। दयालवाग आगरा में स्थित कालेज, खेती और औद्योगिक केन्द्र के द्वारा इस संस्था का प्रचार कार्य होता है।

मुस्लिम-सुधार आंदोलनः—१९ वी शताब्दी मे मुस्लिम समाज में भी अवगुण घुस आये थे। मुसलमान शिक्षा की दृष्टि से वहुत पिछड़े हुए थे। वहुत से हिन्दू मुसलमान हो गये थे परन्तु हिन्दू धर्म के प्रभाव से मुक्त नही हुए। इस्लाम धर्म और समाज को पुनः संगठित करने के लिए आन्दोलन होने लगे।

वहावी-आन्दोलनः—अरव के वहावी आंदोलन का प्रभाव भारत के मुसलमानों पर भी पड़ा। वे भी अपने समाज को सुधारने लगे। इसके नेता थे सैयद अहमद वरे अेलवी। वंगाल में इस आंदोलन के फल-स्वरूप वहुत वड़ी संख्या में लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। पंजाव में वे सिखों और अंग्रेजों से लड़े परन्तु अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को वुरी तरह दवाया। यह आंदोलन साम्प्रदायिक था।

अलीगढ़ आन्दोलनः—सर सय्यद अहमद खां द्वारा स्थापित यह आंदोलन मुसलमानों में नवीन शिक्षा व नए समाज का प्रचार करना चाहता था। इसी उद्देश्य से अलीगढ़ में मुस्लिम कालिज की स्थापना की जो आज विश्व विद्यालय है। सर सैयद अहमद खाँ अंग्रेजों के परम भक्त थे। उन्हीं के प्रभाव से भारतीय राजनीति में मुसलमानों को सुविधाएँ मिलने लगीं।

अहमदिया अन्दोलनः—इस आंदोलन के नेता मिर्जा गुलाम अहमद थे। ये कादियानी मुसलमान थे। इनका कहना था कि वे ईसाइयों के मसीहा, मुसलमानों के मेंहदी तथा हिन्दुओं के अन्तिम अवतार थे। इनका प्रभाव अधिक नहीं फैला।

आन्दोलनों का प्रभाव:—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन से भारतीय समाज में नई जागृति पैदा हुई। उनके प्रयास से धर्म के प्रति नया दृष्टिकोण पनपने लगा। वेद, उपनिषद् आदि का अधिक अध्ययन होने लगा। धर्म में फैले हुए अन्ध विश्वास, आडम्बर दूर होने लगे। सामाजिक संगठन शक्तिशाली होने लगा। असामाजिक तत्वों को दूर करके समाज में नवीन आधार अपनाया जाने लगा। प्राचीन व नई शिक्षा द्वारा इन आंदोलनो ने भारत के समाज को नए ढंग से संचित करना शुरू किया। यद्यपि ये आंदोलन राजनैतिक नही थे परन्तु राष्ट्रीय आंदोलनों में इन संस्थाओं ने बहुत महत्वपूर्ण हाथ बंटाया है।

(२) सामाजिक सुधारों की लहर

सामाजिक दोष - भारतवर्ष मे धार्मिक आन्दोलनों के साथ ही साथ सामाजिक सुधारों की लहर भी उठी। वास्तव मे सामाजिक पतन के कारण ही धार्मिक आन्दोलनों की उत्पत्ति हुई थी। हमारे समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो चुके थे और उनके परिणाम-स्वरूप देश की उन्नति रुक गई, समाज का नैतिक आदर्श गिर गया था। आधुनिक युग मे इस प्रकार की सामाजिक दुर्दशा के लिए निम्न दोष उत्तरदायी थे—(१) साम्प्रदायिक ईर्ष्या तथा द्वेष, (२) जाति व्यवस्था तथा अस्पृश्यता (३) सम्मिलित परिवार की भावना का अंत (४) वैवाहिक कुव्यवस्था (५) स्त्रियों की दुर्दशा (६) निरक्षरता तथा मानसिक जड़ता (७) दलित जातियों की दुर्दशा (८) मद्य पान (९) भिखारियों की समस्या। ब्रिटिश सरकार ने उपरोक्त दोषों में से अनेकों दोषों के निवारण का प्रयास किया परन्तु उसे पूर्ण रूप से सफलता नहीं मिली। सरकार के अतिरिक्त भिन्न २ राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाओं ने भी काफी प्रयत्न किया और देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भारत सरकार भी सामाजिक दोषों को दूर करने का प्रयत्न कर रही है।

साम्प्रदायिकता का अन्त—भारतीय समाज का सबसे बड़ा दोष साम्प्रदायिकता की भावना है। देश में असंख्य सम्प्रदाय हैं जो एक दूसरे को घृणा और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। ब्रिटिश शासन काल में हिन्दुओं

तथा मुसलमानों में अविश्वास तथा द्वेष बढ़ गया था। महर्षि दयानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गांधी आदि महान् विभूतियों ने इस भावना का अन्त करने का अधिक प्रयत्न किया और वे काफी सफल भी हुए। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए ही राष्ट्र पिता गांधीजी ने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। भारतीय संविधान ने अल्प संख्यकों की रक्षा करने तथा साम्प्रदायिकता की भावना को समाप्त करने में कुछ कसर बाकी नहीं रखी है और इसके परिणाम-स्वरूप इस प्रकार की भावना का यदि बिल्कुल ही अन्त नहीं हुआ है तो भी इसका भयंकर रूप काफी शांत रूप मे परिवर्तित हो चुका है।

अस्पृश्यता का अन्त—अस्पृश्यता हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलंक है! अछूतों की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आध्यात्मिक तथा नैतिक दशा सुधारने का प्रयत्न भिन्न-भिन्न कालों में किया गया है। प्राचीन काल में महात्मा गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी ने अस्पृश्यता का खण्डन किया। मध्य युग में स्वामी रामानन्द, कबीर, नानक, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, आदि संतों ने भी अस्पृश्यता को दूर करने का प्रयत्न किया। १९वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के माध्यम से अस्पृश्यता के दूर करने का तथा जाति व्यवस्था के बन्धनों को ढीला करने का प्रयत्न किया था। इसके बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति प्रथा का खण्डन करना आरम्भ किया। उन्होंने शुद्धि तथा संगठन का प्रचार करने के लिए आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाजियों ने शूद्रों की दशा को सुधारने का अथक प्रयत्न किया। और वे काफी सफल भी हुए। इन लोगों ने अछूतों में शिक्षा प्रसार करके व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। सन् १९०६ ई० में अखिल भारतीय अछूत मिशन समाज की स्थापना की गई। इस संस्था ने अछूतों की सामाजिक तथा धार्मिक दशा के सुधारने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया।

बीसवीं शताब्दी में अछूतोद्धार का सबसे अधिक प्रयत्न महात्मा गाँधी ने किया। उन्होंने अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। महात्माजी ने इन अछूतों को हरिजन कहना आरम्भ किया और इनकी सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न किया। उनके नेतृत्व में हरिजनों के लिए स्कूलों

कालेजों, विद्व विद्यालयों, सरकारी नौकरियों, मन्दिरों, सार्वजनिक स्थानों, वाचनालयों आदि के मार्ग खुल गये। कांग्रेस सरकार भी इस दिशा में काफी प्रयत्नशील है। भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का बिल्कुल अन्त कर दिया है। आज हरिजन धारा सभा, लोक सभा, मंत्रिमंडल आदि उच्च पदों पर भी विभूषित हैं।

बाल-विवाह का अन्त—विश्व के किसी भी देश में विवाह सम्बन्धी इतनी कुव्यवस्थाएं नहीं हैं जितनी भारतीय समाज में पाई जाती हैं। हिन्दू समाज में बाल विवाह का बड़ा प्रकोप है। कुछ जातियों में तो अत्यन्त अल्पायु में बालक-बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता है। इसका बहुत बुरा सामाजिक प्रभाव पड़ता है। बाल विवाह को रोकने का सबसे पहला प्रयत्न केशवचन्द्र सेन ने किया था। १९३० ई० में 'शारदा-एक्ट' पास करके बाल विवाह का निषेध कर दिया गया। इस एक्ट के अनुसार बालक की अवस्था कम से कम १८ वर्ष और लड़की की अवस्था कम से कम १४ वर्ष की होनी चाहिये।

बहु-विवाह प्रथा—भारतीय समाज में पुरुषों को कई विवाह करने का अधिकार है। यह कुप्रथा हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों में पाई जाती है। एक व्यक्ति की कई पत्नियां होती हैं। ऐसी दशा में घर में कलह तथा अशांति फैल जाती है। बीसवीं शताब्दी में इस प्रथा के विरुद्ध बहुत बड़े प्रदर्शन किये गये। इसका विरोध किया गया। हिन्दू कोड बिल में बहु-विवाह के रोकने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार वृद्ध विवाह या अनमेल विवाह को भी रोकने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विधवाओं की दुर्दशा में सुधार—हिन्दू समाज में विधवाओं की बड़ी दयनीय दशा है। वह पुनः विवाह नहीं कर सकतीं। विधवायें बरबस सती करा दी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय के प्रयत्न से सती प्रथा का अन्त कर दिया गया। विधवा-विवाह की ओर सबसे पहले पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ध्यान दिया। इन्होंने सिद्ध कर दिया कि विधवा विवाह हिन्दू शास्त्रों के विरुद्ध नहीं है। १८५६ में सरकार ने विधवा विवाह नियम को पास कर दिया था। इसके बाद १९३७ में विधवा सम्पत्ति

नियम पास किया गया जिससे विधवाओं को सम्पत्ति में भाग मिलने लगा। ब्रह्म-समाज, आर्य समाज, पं० विष्णुशर्मा की विधवा विवाह सभा तथा लखनऊ की हिन्दू-विधवा सुधार सभा ने इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। अब विधवाओं को उन्नत्ति के सभी अधिकार प्राप्त हो चुके हैं। वे नैतिक जीवन व्यतीत कर रही हैं।

स्त्रियों की दशा के सुधार के प्रयत्न – यद्यपि स्त्रियों के सुधार का आन्दोलन बहुत दिनों से चल रहा था और राजा राममोहन राय तथा अन्य समाज सुधारकों ने सती प्रथा तथा अन्य कुप्रथाओं जैसे—पर्दा प्रथा, अशिक्षा, लज्जाशीलता, संकीर्णता आदि के हटाने का प्रयत्न किया था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद से स्त्री उद्धार के आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण भारत की महिलाओं में भी जागृति आरम्भ हो गई। पहले यह आन्दोलन केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित था। परन्तु बाद में राजनैतिक क्षेत्र में भी सुधार का कार्य आरम्भ हो गया। श्रीमती सरोजनी नायडू तथा सरला देवी ने स्त्रियों की दशा सुधारने के आंदोलन को जोरों के साथ चलाया। भारतीय स्त्रियों ने अपने राजनैतिक अधिकारों की मांग सबसे पहले १९१७ में की। इसके परिणाम-स्वरूप उन्हें प्रान्तीय धारा सभाओं में वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया १९२३ में स्त्रियां ने सर्व प्रथम प्रान्तीय धारा सभाओं और केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव में भाग लिया। १९२६ में उन्हें धारा सभा के सदस्य बनने का अधिकार प्राप्त हो गया। १९३५ के संविधान द्वारा ६६ लाख से अधिक स्त्रियों को मताधिकार दे दिया गया। १९४६ में नवीन संविधान बनाने के लिए जो विधान निर्मात्री सभा बनी उसमें दस स्त्रियां थीं। इसके अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय चुनावों में कई स्थानों से स्त्रियां निर्वाचित घोषित की गईं। आज बहुत सी स्त्रियां मंत्री, राजदूत, सचिव, कलक्टर, डाक्टर, वकील, अध्यापक, समाज-सुधारक आदि विविध पदों पर कार्य कर रही हैं। पुरुषों के समान ही उन्हें अधिकार प्राप्त हैं।

श्रमिकों की स्थिति में सुधार—व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बड़े २ कारखाने तथा मिलें स्थापित हुईं जिनमें लाखों श्रमिक

कार्य करते हैं। प्रारम्भ में उन्हें उचित पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता था और उन्हें अधिक समय तक काम करना पड़ता था। उन्हें कोई विश्राम काल तथा मनोरंजन का साधन प्राप्त नहीं होता था। आकस्मिक दुर्घटना हो जाने पर भी उनकी व्यवस्था का कुछ प्रबन्ध नहीं होता था। इन सब असुविधाओं को दूर करने के लिए १९२० ई० में अखिल भारतीय मजदूर संघ की स्थापना की गई। सरकार ने मजदूरों के हितों की सुरक्षा की तरफ ध्यान दिया। स्वतन्त्र भारतीय सरकार ने मिल मालिकों और मजदूरों में होने वाले झगड़ों को दूर करने के लिये Trades Disputes Act पास कर दिया। इसके अतिरिक्त सरकार ने फैक्ट्री नियम भी पास कर दिया। इन नियमों से कार्यविधि, साप्ताहिक अवकाश, दुर्घटना के समय हरजाना, बीमा, प्राविडेन्ट फन्ड, बोनस आदि की व्यवस्था हो चुकी है और श्रमिक वर्ग उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। इसके अतिरिक्त उनके बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया जा चुका है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत में सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन व जागृति का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

२. ब्रह्म समाज और आर्य समाज के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

३. अस्पृश्यता का अन्त कैसे किया गया ?

४. स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिये क्या क्या प्रयत्न किये गए ?

---

२. इनाम में दी गई भूमि को अंग्रेजी सरकार अपने अधिकार में करने लगी।

३. किसानों पर सामन्तों व जमींदारों के अत्याचार का सहारा अंग्रेजी सरकार दे रही थी।

४. कई देशीय राजाओं की सेना सैनिक राज्य विलय के बाद बेकार हो गई।

५. भारत का कच्चा माल भारत से बाहर भेजा जाने लगा और भारत में अकाल व भुखमरी बढ़ने लगी।

(३) सामाजिक व धार्मिकः— १. भारत की जनसंख्या अधिकतर सामाजिक सुधारों के विरुद्ध हो गई क्योंकि सुधारों के पीछे सामाजिक संगठन को तोड़ने की व्यवस्था थी।

२. सती प्रथा का बन्द करवाना, बाल व नर-हत्या को रोकना आदि समाज के विरोधी तत्व समझे गये।

३. रेल व अन्य यातायात के साधनों से छूआ-छूत का क्रम टूटने लगा यह भारतीयों को बुरा लगा।

४. पश्चिमी शिक्षा ने भारतीयों में खाई पैदा कर दी।

५. ईसाई धर्म का प्रचार, मिशनरियों को राजकीय सहायता व हिन्दू व मुसलमानों को ईसाई बनाने की योजनाएँ भारतीयों के विरुद्ध थीं।

(४) सैनिकः—१. भारतीय सैनिकों व अंग्रेजी सैनिकों में भेद-भाव, खान-पान में, रहन-सहन में व वेतन में अन्तर।

२. भारतीय सैनिकों को बाइबिल का अध्ययन कराया जाता था।

३. उनको दाढ़ी मूँछ साफ करने व साफा न रखने की हिदायत थी।

४. उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें विदेश व समुद्र पार भेजा जाता था जो उनके धर्म के प्रतिकूल था।

५. इस समय भारत में २,३३,०० भारतीय सिपाही और ४५,३२२ अंग्रेजी सिपाही थे। भारतीयों की संख्या अधिक होते हुये भी उन्हें ऊँचे पद नहीं दिये जाते थे।

६. अंग्रेज इस समय क्रिमिया, मिश्र व चीन में हार रहे थे—भारतीय सैनिकों को विश्वास होने लगा कि वे अंग्रेजों पर विजय प्राप्त कर भारत को स्वतन्त्र कर सकते है।

७. नये कारतूसों ने जिनमें कहा गया कि गाय व सूअर की चर्बी है, और जिन्हें मुँह से खोलना पड़ता था, क्रांति की आग लगा दी। सैनिको ने इस प्रकार के कारतूसों को प्रयोग में लाना अस्वीकार किया।

क्रांति के प्रथम चिन्ह १८५७ में बगाल के बैरकपुर सेना में दिखाई पड़े जब कि उन सैनिकों ने नए कारतूसों का प्रयोग नही किया। १० मई १८५७ को मेरठ के सिपाहियों ने भी इस प्रकार का विद्रोह किया। दण्ड व्यवस्था देने पर सैनिकों ने अंग्रेजी अफसरों को मारकर मेरठ पर अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झांसी आदि भागों मे क्रांति की लपट फैल गई। बहादुरशाह द्वितीय को पुनः दिल्ली का शासक बनाया गया। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई स्वतन्त्रता के युद्ध में रणक्षेत्र में सो गई। नाना साहब, तांतिया टोपे आदि नेताओं ने क्रांति को सफल बनाने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु अंग्रेजों की सेना के आगे जिसे अनेक देशद्रोही भारतीय शासकों का समर्थन प्राप्त था वे टिक न सके। क्रान्ति दबा दी गई। यद्यपि क्रान्ति असफल रही परन्तु इसका महत्वपूर्ण प्रभाव भारतीयों पर पड़ा।

१८५७ की क्रांति के बाद भारतीयो में पुनः राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई। युवकों ने अराजकतावादी विचारों का सहारा लिया। वृद्धो व समझदार लोगों ने संवैधानिक तरीका अपनाया परन्तु सब भारतीयों में राष्ट्रीयता की अटूट भावना भर चुकी थी जिसकी कमी १८५७ की क्रांति में थी। राष्ट्रीयता की उन्नति के कई कारण हो चुके थे जिनका प्रभाव भारतीय विचारकों पर पड़ा।

१. धार्मिक आन्दोलनों का प्रभावः—१९वी शताब्दी के मध्य व अन्त काल में भारत की सामाजिक व धार्मिक स्थिति का पुनः संगठन करने का प्रयत्न राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज ने, दयानन्द के आर्य समाज ने, एनीबीसेन्ट के थीयोसोफीकल समाज व स्वामी विवेकानन्द के रामकृष्ण परम-हंस मिशन ने किया। इन सब धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव यह हुआ कि

भारत में एक नवीन जागृति प्रारम्भ हुई। यहां के निवासियों में आत्मविश्वास तथा आत्म गौरव के भाव जागे। राष्ट्रीयता की भावना का भी संचार किया।

(२) इसी समय यूरोप में कई विद्वानों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के ऊपर शोध कार्य किया। अपनी खोजों के फलस्वरूप उन्होंने भारत के महान् अतीत को सब के सामने रखा, हमारी सम्मान की भावना जागी। हमें यह लगने लगा कि हमारी सभ्यता के सम्मुख यूरोपीय सभ्यता कुछ नहीं है।

(३) अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव:—विदेशी भाषा के प्रयोग से भारतवर्ष में एक कोने से ले कर दूसरे कोने में शिक्षित समुदाय में भाषा की एकता स्थापित हो गई। इसी भाषा के द्वारा भारतीयों का राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, उदारवाद आदि विचारों से परिचय हुआ। भारत में भी इसी प्रकार के विचार व वातावरण पैदा करने की भावना उठी।

(४) देश में एकता की स्थापना—अंग्रेजों के भारत विजय के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टिकोण से एक इकाई हो गया। देश के विभिन्न भाग एक दूसरे के अधिक सम्पर्क में आए। अँग्रेज शासकों ने आर्थिक शोषण तथा सैनिक दृष्टि से भारत में यातायात के साधनों में उन्नति की थी परन्तु परोक्ष में उससे यह लाभ हुआ कि एकता की भावना संगठित हो गई।

(५) आर्थिक कारण:—(अ) कुटीर व्यवसाय के अन्त हो जाने से बेकारी फैलने लगी।

(आ) भारत का आर्थिक शोषण अँग्रेजों के हित में होने लगा।

(इ) खेती में कोई उन्नति नहीं हुई—जमींदारी प्रथा के कारण किसान भूमिहीन हो गए।

(ई) सरकारी उच्च पदों पर भारतीयों को स्थान नहीं मिलता था।

(उ) अकाल की भयङ्करता का भय हमेशा भारतीयों को लगा रहता था।

(६) समाचार पत्र व साहित्य:—देश की दुर्दशा की ओर जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करने में समाचार पत्रों ने बहुत सहयोग दिया। भारतीय पत्र सरकारी नीति के आलोचक थे इसीलिए समय समय पर ब्रिटिश

सरकार ने इनकी स्वतन्त्रता पर कई नियम बना कर कुठाराघात किया। भारतीय साहित्य ने भी राष्ट्रीय विकास में सहायता दी। बंकिमचन्द्र के उपन्यासों में सर्वत्र स्वतन्त्रता की महिमा गाई गई।

(७) **अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति घृणाः**—योरुपीय लोग भारतीयों को असभ्य समझते थे। वे उनसे अलग रहते थे। भारतीयों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण योरुपीय लोगों का जीवन समझा जाता था। अंग्रेजों का काम भारत में आकर आनन्द करना है न कि यहां के निवासियों का हित साधन। अंग्रेजों के दुर्व्यवहार के कारण भारतीयों में भी उनके प्रति घृणा, असन्तोष तथा क्षोभ की भावना जागृत हुई।

(८) **लार्ड लिटन का शासन**:—लार्ड लिटन (१८७४-१८८०) ने अपने वायसराय काल में ऐसे काम किए जिससे भारत में असन्तोष और बढ़ा।

१. १८७७ का दरबार जबकि लोग अकाल के ग्रास हो रहे थे।

२. द्वितीय अफगान युद्ध में करोड़ों भारतीय रुपया खर्च किया गया।

३. भारतीय समाचार पत्रों पर 'बन्धन ऐक्ट' लगा कर उनकी स्वतन्त्रता छीन ली।

४. इंगलैण्ड की कपड़े की मिलों के लाभ के लिए भारत से रुई के निर्यात पर कर उठा दिया।

५. आर्म्स ऐक्ट द्वारा बिना लाइसेंस प्राप्त किये हथियार रखने पर भारतीयों को दण्ड दिया और अंग्रेजों पर यह कानून लागू नहीं किया।

(९) **लार्ड रिपन का उदारवादी शासन**—१८८० में लार्ड रिपन भारत का वायसराय बना। उसने (Local self Government) स्थानीय स्वशासन की नींव डाली जिससे भारतीयों में स्वशासन का अनुभव होने लगा, समूचे भारत में स्वशासन की मांग वे करने लगे।

(१०) **इलबर्ट बिल**—भारतीय न्यायाधीशों को अंग्रेजों के मुकदमे करने का अधिकार नहीं था। १८८३ में लार्ड रिपन के कौंसिल के कानूनी सदस्य इलबर्ट ने एक बिल द्वारा यह भेद-भाव दूर करने का प्रयत्न किया। इस पर भारत में अंग्रेजों ने एक तूफान खड़ा कर दिया। बिल पास न हो

सका। पर इससे भारतवासियों ने यह समझ लिया कि अंग्रेजों से न्याय की आशा करना व्यर्थ है, उनके लिए एक संगठन की आवश्यकता है।

उपर्युक्त कारणों से भारत में राजनैतिक चेतना बढ़ती गई और १८८५ में प्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में संगठित हुई।

राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म—सन् १८८५ में अखिल भारतीय संघ की स्थापना हुई। श्री ए० ओ० ह्यूम ने भारतीय सिविल सर्विस से रिटायर्ड हो जाने के बाद भारतीयों के राष्ट्रीय विचारों को संगठित करने का प्रयास किया। इनके इस प्रयास ने राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया जिसका प्रथम सम्मेलन बम्बई में श्री उमेशचन्द्र बनर्जी की अध्यक्षता में हुआ। उस समय के वाइसराय लार्ड डफरिन का आशीर्वाद इस कांग्रेस को प्राप्त था। लाला लाजपतराय का कहना है कि ह्यूम साहब ने इस कांग्रेस का संगठन भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के स्थान पर अंग्रेजी सत्ता को उठते हुए राष्ट्रीय आवेग से बचाने के लिए किया था। यह तो विवादग्रस्त विषय नहीं है कि कांग्रेस का प्रारम्भिक उद्देश्य स्वराज्य प्राप्त करना था। इस सम्मेलन में ७२ प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिनमें २ मुसलमान भी थे।

१८८५ से १९०५ तक का इतिहास : कांग्रेस के जन्म के बाद भारतीयों को अपने राष्ट्रीय विचारों को संगठित करने का अवसर मिला। यद्यपि प्रारम्भ में कांग्रेस की सहयोग नीति रही परन्तु धीरे-धीरे गरम दल कांग्रेस में आया और इस संस्था को वास्तविक रूप से 'राष्ट्रीय' बना दिया। इसके अधिवेशन प्रति वर्ष होने लगे। कांग्रेस ने सरकार की आलोचना शुरु की। अंग्रेजी सरकार इस प्रकार की नीति को मंगलमय नहीं समझती थी। १८८६ की कलकत्ता की कांग्रेस से अंग्रेजी सहयोग हट गया। भारत में ही यह सभा अंग्रेजों से भारतीय शासन की माँग नहीं कर रही थी बल्कि इंगलैण्ड में भी इसकी शाखा खोली गई जिससे उदारवादी अंग्रेज जनमत भारतीयों के प्रति सहानुभूति रख सके। इस प्रकार के आन्दोलन का प्रभाव भी हुआ। १८९२ का इण्डिया कौंसिल एक्ट इसी प्रकार के आन्दोलन

को संतुष्ट करने के लिए बनाया गया। परन्तु इससे शिक्षित वर्ग को संतुष्टि नहीं हुई।

१८९७ में भीषण अकाल पड़ा। सरकार ने कोई विशेष कर्य करके अकाल की पीड़ा को दूर नहीं किया। १८९८ में जोरो से प्लेग फैला फिर अकाल पड़े। अंग्रेजी सत्ता ने उन्हें दूर करने के विशेष प्रयत्न किए। नवयुवकों का जोश उमड़ आया। आतंकवादी व्यक्तियों ने अंग्रेजो की हत्या करना शुरू किया। और सरकार ने उन्हें फांसी देना शुरू किया। अब राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप बदल रहा था। बंगाल में सुरेन्द्रनाथ पाल, पंजाब मे लाला लाजपतराय व महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक के प्रयत्नों से राष्ट्रीय कांग्रेस में नवजीवन आया। लार्ड कर्जन के वायसराय काल में (१८९९ से १९०५) राष्ट्रीय आन्दोलन क्रांतिकारी बन गया। लार्ड कर्जन ने भारत में अंगेजी साम्राज्यवाद को स्थायी बनाने के लिए नए कानून बनाये जिससे राष्ट्रीय आंदोलन कुचला जा सके। यूनीवर्सिटी के अनुसार विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप करके राष्ट्रीय विचारों की शिक्षा को रोकना चाहा। बंगाल के दो भाग (१९०५) करके वहाँ के उत्तेजित राष्ट्रीय आंदोलन को समाप्त करना चाहा।

१९०५ से १९२० तक का इतिहास:—बंग भंग (१९०५) के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में नवीन भावना का प्रचार हुआ। बालगंगाधर तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा बुलन्द किया। कांग्रेस में गरम दल, जो कि स्वराज्य की मांग करते थे और नरम दल, जो कि अंग्रेजों से शासन में हाथ बंटाने की मांग करते थे, पैदा हो गये। बंगाल में बंग भंग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस के नेतृत्व में यह आंदोलन चला। अंग्रेजी माल का बायकाट व दुकानों पर पिकेटिंग प्रारम्भ हुई। इसी समय बंगाल, पंजाब और देश के अन्य भागों में सशस्त्र क्रांति के चिह्न उत्पन्न होने लगे। देश के बाहर भी कुछ क्रांतिकारी संगठित होने लगे जो भारत में हथियार आदि भेजते थे। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने में नृशंसता तथा बर्बरता का पूर्ण उपयोग किया।

१९०६–१९०७ का वर्ष भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण है। १९०७ की सूरत काँग्रेस में कांग्रेस के दो दल गरम व नरम अलग अलग हो गए जिससे कांग्रेस की शक्ति को पूरा धक्का लगा। और इसी काल में अँग्रेजों की सहायता पा कर भारतीय मुसलमानों ने मुस्लिम लीग का संगठन करके अलग २ चुनाव क्षेत्र की मांग की। अराजकता व क्रांतिकारी शक्तियों को रोकने के लिए सरकार ने कड़े कानून बनाये। अखबारों की स्वतन्त्रता रोक दी और सभा व सम्मेलन करने पर रोक लगा दी फिर भी भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ता गया। अतः सरकार ने शिक्षित वर्ग को प्रसन्न करने के लिए १९०९ में Indian Council Act पास करके भारतीयों को शासन व असेम्बलियों में आने की सुविधा प्रदान की परन्तु इस कानून में भारतीयों को विचार प्रकट करने व शासन की बागडोर देने को कोई व्यवस्था नही थी।

१९१४–१९१९ के महायुद्ध में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने अँग्रेजों के साथ पूर्ण सहयोग किया। अँग्रेजों ने यह विश्वास दिलाया कि युद्ध समाप्त हो जाने के बाद वे भारत को औपनिवेशिक,स्वराज्य दे देंगे। अतः भारत के सब दलों ने क्रांतिकारियों को छोड़ कर सरकार की युद्ध नीति का सहयोग किया। युद्ध के दौरान में तिलक जेल से छोड़ दिए गए। श्रीमती एनी बिसेन्ट ने 'होम रूल' आन्दोलन प्रारम्भ किया। लखनऊ अधिवेशन (१९१६) में गरम व नरम दल एक हो गए। १९१६ की कांग्रेस में मुस्लिम लीग ने काँग्रेस के साथ सहयोग किया।

युद्ध समाप्ति के बाद औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर १९१९ का Government of India एक्ट मिला जिसके अनुसार भारतीयों को शासन प्रणाली मिली वह भी अँग्रेजों के नेतृत्व में। राष्ट्रीय काँग्रेस ने इसका विरोध किया। जिन कांग्रेसी नेताओं ने इसे अपना लिया उन्होंने कांग्रेस से अलग हो कर Libral party बनाई। क्रांतिकारी दल ने इसे रद्दी की टोकरी का बिल समझ कर अपनी कार्यवाही पहले से अधिक उग्र कर दी। इस पर सरकार ने Rowlett Bill बना कर देशभक्तों को मृत्युदण्ड देना शुरू किया। देश भर में इस बिल का विरोध हुआ। बिल के विरुद्ध जो आन्दोलन हुआ वह कांग्रेस के इतिहास में एक नया चरण था। १९१९–१९२० से भारत के

राजनैतिक क्षेत्र में, गांधी जी का आगमन हुआ और स्वराज्य प्राप्ति के नए साधन व नए उद्देश्य आंके गये।

गांधी युगः—१९२० के बाद इस आन्दोलन का नेतृत्व महात्मा गांधी (मोहनदास करमचन्द गांधी) के कन्धों पर पड़ा। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में आने के पहले गांधीजी अपने अनेक विचारों व सिद्धांतों का प्रादुर्भाव दक्षिणी अफ्रीका की रंग भेद की नीति के विरुद्ध करके सफलता प्राप्त करली थी। उनका शस्त्र असहयोग था और उनका नारा अहिंसा व सत्य थे। अतः वही सिद्धांत व नारे भारतीय राजनीति क्षेत्र में लगा कर उन्होंने राष्ट्रीयता के आंदोलन में स्फूर्ति व शक्ति फूंक दी। १९२० से १९४७ तक का राष्ट्रीय आंदोलन उनके व्यक्तित्व पर ही प्रभावित था; अतः उस युग को हम गांधी युग कहते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के २२ वर्ष तक (१९२०–१९४२) गांधीजी कांग्रेस के प्रमुख व्यक्ति बने रहे। १९४२-१९४७ तक कांग्रेस पर उनका प्रभाव बना रहा पर अन्य राजनैतिक दल जो पहले उनके नेतृत्व में विश्वास रखते थे, अलग हो गये और अपने दृष्टिकोण से भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने लगे। अतः गांधी युग का वास्तविक इतिहास १९४२ तक ही रहा।

रौलेट एक्ट के द्वारा भारत के देशभक्तों को मृत्यु दण्ड दे कर अंग्रेजों ने कई उदारवादी भारतीयों को भी अपने विरुद्ध कर दिया। देश भर में इस कानून के विरुद्ध हड़तालें हुईं। सरकार ने दमन नीति से इस आंदोलन को कुचल देना चाहा। पंजाब के जलियाँवाले बाग में जो सभा हुई—२०,००० व्यक्तियों पर गोलियां चलाई गईं। इस हत्याकांड ने देश भर में अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध असहयोग की भावना फैला दी। मुसलमान भी अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे थे क्योंकि टर्की में मुसलमानों के विरुद्ध अंग्रेज इसी प्रकार की नीति अपना रहे थे और खिलाफत आन्दोलन चला रहे थे। गांधीजी ने इस आन्दोलन में सहयोग देना आरम्भ किया।

असहयोग आन्दोलनः—१९२० की कलकत्ते की कांग्रेस के सामने गांधीजी ने अंग्रेजी सत्ता से असहयोग करने का प्रस्ताव रखा। बहुमत ने उसे स्वीकार किया। इस अधिवेशन पर गान्धीजी ने कौंसिल प्रवेश का विरोध किया

व १६१६ एक्ट के प्रति असहयोग का आदेश दिया। गान्धीजी का प्रभाव नागपुर कांग्रेस से भी रहा। फिर तो असहयोग की लहर देश भर में फैल गई। जेल कृष्ण मन्दिर बन गया, कालेज व स्कूलों में हड़तालें होने लगीं। वकीलों ने वकालत छोड़ी, देश-भक्तों ने उपाधियाँ लौटा दीं। स्वदेशी विचारों का प्रचार हुआ। १९२१ में प्रिंस आफ वेल्स भारत आए। हड़ताल द्वारा उनका स्वागत हुआ। आन्दोलन जोरों पर था परन्तु चौरी-चौरा के स्थान पर २००० की भीड़ ने पुलिस थाने को जलवा दिया जिसमें ७१ आदमी मर गये। यह वातावरण हिंसात्मक था अतः गान्धी जी ने यह आन्दोलन बन्द कर दिया। गान्धी जी को भी ६ वर्ष की सजा मिली। स्थगित आन्दोलन में जनता निराश हो गई। जो लोग गाँधीजी के पक्ष में नहीं थे वे कांग्रेस से अलग हो गये, जिनमें मोहम्मद अली जिन्ना मुस्लिम लीग और दामोदर सावरकर हिन्दू महासभा में चले गए। कांग्रेस के प्रभावहीन होने पर लीग व हिन्दू महासभा ने साम्प्रदायिक झगड़े फैलाने शुरू किये।

'स्वराज्यदल' व साइमन कमीशनः—कांग्रेस के कुछ प्रमुख व्यक्ति कौंसिलों में जा कर अंग्रेजी सरकार के कार्य में रोड़े अटकाना आरम्भ करना चाहते थे। उन्होंने स्वराज्य पार्टी का निर्माण किया। इनके नेता श्री मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास व विट्ठलभाई पटेल आदि थे। १९२३ में इस पार्टी ने अपना कार्य करना आरम्भ किया। कौंसिलों में जा कर इस दल ने अंग्रेजी सत्ता को हिलाना चाहा पर असफल रहे। १९२७ में मजदूरों का संगठन किया गया। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के जन्म से मजदूर संगठित हो कर राष्ट्रीय कांग्रेस में सहयोग देने लगे। १९१९ के Government of India Act के अनुसार १० वर्ष बाद एक कमीशन भेजा जाने वाला था, जो यह जांच करता कि यह कानून कहां तक सफल हुआ। अतः १९२८ में सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन नियुक्त हुआ। इसमें एक भी भारतीय सदस्य नहीं था अतः कांग्रेस ने इस 'साइमन कमीशन' का विरोध किया। इस विरोधी आन्दोलन से भारतीयों की राष्ट्रीय भावना पुनः उमड़ गई।

गोलमेज कांफ्रेंसः—१९२९ में लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया गया। २६ जनवरी १९३० को देश भर में स्वाधीनता

की प्रतिज्ञा पढ़ी गई। १८ मार्च १६३० को गांधी जी की प्रसिद्ध दण्डी यात्रा आरम्भ हुई जिसमें नमक कानून तोड़ा गया। देश भर मे आन्दोलन चला। गांधी जी पकड़े गये इसी समय साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने आग में घी का काम किया। अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेस के अलावा सब दलों की एक गोलमेज सभा लन्दन में की। यह सभा १६३१ में हुई पर असफल रही। कांग्रेस की अनुपस्थिति से इसका कार्य न चल सका। १६३१ की दिसम्बर में द्वितीय गोलमेज कांफ्रेन्स हुई। इसमें गांधीजी को कांग्रेस का प्रतिनिधि बना कर भेजा गया। परन्तु हरिजनों को हिन्दू न मानने पर गांधीजी ने विरोध किया। सभा फिर भी असफल रही। भारत आते ही गान्धीजी पकड़ लिए गए। फिर आन्दोलन चला। दमन की नीति नंगी होकर नाचने लगी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने एक निर्णय दिया जिसे Communal award कहते है जिसके द्वारा हरिजनों को पृथक् चुनाव क्षेत्र मिले। इस पर गांधीजी ने आमरण अनशन किया। हरिजन नेताओं ने बीच में पड़ कर पूना पेक्ट द्वारा हरिजनों को तो हिन्दू माना पर उनके लिये १० सीटें सुरक्षित करा लीं। १६३२ में तीसरी गोलमेज सभा हुई जिसमें कांग्रेस ने भाग नही लिया।

१६३५-१६४२—गांधी-इरविन समझौते के अनुसार १६३५ में भारतीयों को स्वशासन देने के हेतु अंग्रेजों ने कानून बनाया जिसे Government of India Act कहते हैं। इस कानून के अनुसार भारतीय प्रान्तों को पूर्ण स्वशासन व केन्द्र में ऐसा संघ जो देशीय राज्यों व प्रान्तों से मिल कर बनने की योजना रखी गई। कांग्रेस ने प्रांतीय भाग स्वीकार कर लिया परन्तु संघ का भाग अस्वीकार किया क्योकि ये देशीय राज्य हमेशा से अंग्रेजों के पिट्ठू रहे हैं अतः उनमें भारतीयता की कमी बनी रही। १६३७ में प्रांतीय भाग के अनुसार चुनाव लड़े गये। भारत के ११ प्रान्तों में से ८ प्रान्तों पर कांग्रेस का प्रभाव हो गया। २ पर मुस्लिम लीग का था १ पर मिला-जुला प्रभाव रहा। कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाए और पहला काम यह किया कि राजनैतिक बन्दियों को छोड़ दिया।

१६३८ में कांग्रेस के सभापति पद पर श्री सुभापचन्द्र बोस आसीन हुए। वे युवकों के जोश के प्रतीक थे। अंग्रेजी सरकार से पूर्ण सत्ता प्राप्त

करना ही उनका ध्येय था। वे गांधी जी से प्रभावित अवश्य थे परन्तु वे उनकी नीति का ढङ्ग नहीं अपनाते थे। अतः धीरे-धीरे अन्य नेता भी उनसे अलग हो गए। त्रिपुरी कांग्रेस में उन्होंने स्तीफा दे दिया और एक दल Forward Block बनाया। इसी समय द्वितीय महायुद्ध (१६३६–१६४५) शुरू हुआ। अंग्रेजी सरकार ने बिना भारतीयों की अनुमति प्राप्त किए भारत को अंग्रेजों के पक्ष में युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी। इसके विरोध में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने पद-त्याग दे दिए। मुस्लिम लीग ने देश भर में इस अवसर पर मुक्ति दिवस मनाया। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ किया। चर्चिल की सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से सहयोग मांगने व समझौता के लिए भेजा। उन्होंने यहां नेताओं से बातचीत की और २१ मार्च १६४२ को उन्होंने वह योजना जो इंगलैण्ड से लाये थे देश के सामने रखी। 'क्रिप्स योजना' की मुख्य बातें इस प्रकार थीः—

(१) भारत में युद्धोपरान्त एक नवीन संघ (Federation) स्थापित किया जायेगा जो एक उपनिवेश (Dominion) राज्य होगा अर्थात् उसे ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीन उपनिवेशों का पद प्राप्त होगा और उसे यह निश्चय करने का अधिकार होगा कि वह राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहे या नहीं।

(२) युद्ध समाप्त होते ही एक संविधान सभा बुलाई जायेगी। इसके लिये प्रांतों में १६३५ के अधिनियम के अनुसार नये चुनाव होंगे। उन प्रांतीय विधान-सभाओं (असेम्बलियों) के सदस्य अपने में से संविधान सभा के सदस्य चुनेंगे जिनकी संख्या अपने निर्वाचकों की संख्या का १/२० होगी। इस सभा में देशी नरेशों के प्रतिनिधि उनके राज्यों की जनसंख्या के अनुपात से होंगे।

(३) जो प्रांत या राज्य उस नये संविधान के अनुसार भारतीय संघ में सम्मिलित होना न चाहे वे अलग हो सकेंगे और अपना संघ बना सकेंगे।

(४) ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय संविधान सभा के बीच अल्प-संख्यकों के हितों और सत्ता-हस्तांतरण से उत्पन्न अन्य बातों के लिए एक संधि की जायेगी।

(५) युद्ध काल में भारतवर्ष की रक्षा के कार्य पर गवर्नर जनरल का पूरा अधिकार होगा और वह ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी होगा परन्तु

युद्ध के लिए सैनिक, नैतिक तथा भौतिक साधन जुटाने का उत्तरदायित्व भारतीय जनता और भारत सरकार पर होगा । रक्षा को छोड़ कर अन्य विषय प्रमुख दलों का प्रतिनिधित्व करने वाली राष्ट्रीय सरकार को सौंप दिये जावेंगे।

भारत छोड़ो प्रस्तावः—क्रिप्स की योजना सफल नही हो सकी । उसे भारतीय दलों ने अपने अलग-अलग कारणों से अस्वीकार कर दिया । यद्यपि इसमें युद्धोपरांत स्वतंत्रता की बात कही गई थी तो भी कई दोष थे (१) एक बड़ा दोष तो यह था कि प्रांतों अथवा देशी राज्यों को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था । यह वास्तव में मुस्लिम लीग और कुछ देशी राज्यों को प्रसन्न करने के लिए किया गया था, इससे देश की भावी एकता भंग होने का भय था । (२) देशी राज्यों में आने वाले प्रतिनिधि राजाओं द्वारा नामजद होते—जनता द्वारा निर्वाचित नहीं । अतः संविधान सभा में प्रतिक्रियावादी तत्व आ जाते । (३) युद्धकाल में भारतीयों को रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जाने वाला था । (४) गवर्नर जनरल मंत्रियों की राय पर विशेषाधिकार (Veto) काम में ले सकता था । (५) वास्तव में इस योजना का तत्काल महत्व कुछ नहीं था । गांधी जी ने इसीलिए कहा था कि वह योजना एक ऐसी हुण्डी की तरह थी जिस पर आगे की मिती डाली गई हो (Post dated Cheque) जिसका तत्काल मूल्य कुछ नहीं हो । क्रिप्स योजना की असफलता पर देश में निराशा, असंतोष, और क्षोभ का वातावरण छा गया । कांग्रेस कार्य समिति ने १४ जुलाई १९४२ को "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया । ८ अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी उस प्रस्ताव को स्वीकार किया । गांधीजी ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने का आह्वान किया और देश के प्राणों में 'करो या मरो' का मंत्र फूंका । गांधी जी ने यह भी बताया कि यह भारत की अंग्रेजों के विरुद्ध अन्तिम लड़ाई है । ९ अगस्त को सवेरा होने के पहिले ही कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए । देश में अंग्रेजों ने आन्दोलन दबाने के लिए अत्याचार और पाशविक दमन करना शुरू किया । लाठियां और गोलियां चलाना, गांव जला देना, सामूहिक जुर्माने करना और लोगों का सामान छीनना और नीलाम कर देना यह सब कुछ किया । अंग्रेजों का अन्धाधुंध दमन भी जन आन्दोलन की उस

धधकती हुई आग को न बुझा सका, केवल ऊपरी रूप से शांति दिखाई पड़ने लगी।

अंग्रेजी सरकार की नीति के खिलाफ गांधी जी ने जेल में १० फरवरी १९४३ को २१ दिन का अनशन व्रत रखा। मई १९४४ में अस्वास्थ्य के कारण उन्हें छोड़ दिया गया। उन्होंने तथा श्री राजगोपालाचार्य ने मुस्लिम लीग के नेता श्री जिन्ना से हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये बातचीत की। जिन्ना इस बात पर अड़े रहे कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं। इसी से वह वार्ता सफल न हो सकी।

भारत के नए वायसराय लार्ड वेवल ने ब्रिटिश सरकार के आदेश से देश के राजनैतिक गत्यावरोध को दूर करने के लिए १४ जून १९४४ को एक सुझाव रक्खा। इसको वेवल सुझाव कहते हैं। इसमें यह कहा गया था कि केन्द्रीय कार्यकारिणी का नया संगठन होगा, जिसमें सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमानों के बराबर प्रतिनिधि होंगे तथा भारतीय, ईसाई, सिक्ख, दलित वर्ग आदि के सदस्य भी होंगे। यह कार्यकारिणी गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी होगी।

शिमला कान्फ्रेंस—१५ जून, १९४५ को कांग्रेस के नेता छोड़ दिए गए और उपर्युक्त 'वेवल योजना' पर विचार करने के लिये २५ जून को शिमला में भारत के सब प्रमुख दलों के नेताओं की कान्फ्रेंस बुलाई गई। योजना को दोष पूर्ण मानते हुए भी कांग्रेस ने शिमला कान्फ्रेंस में भाग लिया किन्तु वहां कोई समझौता नहीं हो सका, क्योंकि लीग इस बात पर अड़ गई कि केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति में जो मुसलमान सदस्य लिए जायं वे मुस्लिम लीग के ही हों। इसका अर्थ यह होता है कांग्रेस का मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह राष्ट्रीय संस्था नहीं है। किन्तु यह बात ठीक नहीं थी (शिमला कान्फ्रेंस के समय भी मौलाना आजाद कांग्रेस के सभापति थे)। वायसराय ने लीग और कांग्रेस में समझौता न हो सकने के कारण कान्फ्रेंस समाप्त कर दी।

उन्हीं दिनों इंगलैण्ड में नये चुनाव हुए जिनसे चर्चिल अनुदारदलीय सरकार के स्थान में मजदूर दल की सरकार बनी और एटली नए प्रधानमंत्री एहु। इस समय पूर्व में जापान से युद्ध समाप्त हो गया था और भारत में

आजाद हिन्द फौज के मसले को लेकर जो हलचल मची उसके कारण देश में राष्ट्रीयता को और भी बल मिला और साम्प्रदायिक एकता की भावना पुष्ट हुई। क्योंकि आजाद हिन्द फौज में सभी सम्प्रदायों के सैनिकों ने कन्धे से कन्धा भिड़ा कर काम किया था। फरवरी १९४६ में सरकारी-नौ-सेना के जहाजी बेड़े में विद्रोह हो गया। इन सब बातों से और अपनी युद्ध ग्रस्त क्षीण शक्ति को देख कर ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव हो गया कि अब भारत को वे अधिक दिन तक अपने अधीन नहीं रख सकेंगे। यही सोच कर मार्च १९४६ में ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल ने अपने तीन सदस्यों को भारत भेजा। इससे पूर्व नई ब्रिटिश **पार्लियामेन्ट** का एक **शिष्ट मण्डल** भारत में भ्रमण करके यहां की स्थिति देख चुका था।

केबिनेट मिशन के तीनों सदस्यों ने भारतीय नेताओं से बात-चीत की। जब कांग्रेस और लीग में कोई समझौता होते नहीं देखा तो अपनी ओर से एक योजना १६ मई १९४६ को रखी जिसमें निम्नलिखित मुख्य बातें थीं—

(१) मुस्लिम लीग के द्वारा रखी गई पाकिस्तान की योजना अव्यावहारिक है, क्योंकि उसमें भी अल्पसंख्यकों की समस्या बनी ही रहती है तथा शासन, सुरक्षा, आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी वह मांग ठीक प्रतीत नहीं होती है।

(२) सारे देश का एक संघ राज्य हो जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। इसके आधीन विदेश विभाग तथा रक्षा और यातायात के विषय हों। शेष अधिकार प्रान्तों एवं राज्यों को ही हों।

(३) प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा पृथक् निर्वाचन सिद्धान्त के अनुसार एक संविधान सभा बनाई जाय।

(४) प्रान्तों को अपने समूह बनाने का अधिकार हो और प्रान्तीय कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के अतिरिक्त प्रान्तों के समूहों की भी अपनी-अपनी कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका हों।

इस दीर्घकालीन योजना के अतिरिक्त केबिनेट मिशन ने एक अन्तर्कालीन सरकार का सुझाव भी रखा था।

लीग ने योजना के दीर्घकालीन तथा अन्तर्कालीन दोनों भागों को

स्वीकार कर लिया, लेकिन जब लीग-कांग्रेस मतभेद के कारण अन्तरिम सरकार न बन पाई तो लीग ने पूरी योजना अस्वीकार कर दी क्योंकि लीग की मुख्य इच्छा यह थी कि उसे भारत पर शासन करने का अवसर मिले।

प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस—इधर कांग्रेस ने समयान्तर में केबिनेट मिशन की पूरी योजना दोषपूर्ण मानते हुए भी कार्य के लिए स्वीकार कर ली। वायसराय ने अन्तर्कालीन सरकार बनाने का फिर प्रयत्न किया और २ सितम्बर १९४६ को श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में लीग के सहयोग के बिना ही बारह सदस्यों की राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार बनाई जिसमें देश के अन्य सब प्रमुख हितों के प्रतिनिधि थे। लीग ने इसके विरोध में देश भर में "सीधी कार्यवाही दिवस" (Direct Action Day) मनाया, जिससे स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी। नोआखाली का हृदय द्रावक कांड हुआ और उसकी प्रतिध्वनि बिहार, यू० पी०, पंजाब आदि प्रान्तों में हुई। अन्त में अक्टूबर सन् ४६ में मुस्लिम लीग भी अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित हो गई।

जुलाई, १९४६ में संयुक्त भारत का संविधान बनाने के लिये संविधान सभा का चुनाव हुआ जिसके २९६ सदस्यों में से लीग को केवल ७३ स्थान मिले। लीग के नेता इससे चिंतित हो उठे। सरकार में सम्मिलित हो जाने पर भी उन्होंने निर्वाचित संविधान सभा से असहयोग करना तय किया, देश के विभाजन की मांग दोहराई, प्रत्यक्ष संघर्ष की घोषणा की और सरकार में भी कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति नहीं अपनाई।

स्वतन्त्रता:—इधर अंग्रेजों ने यह घोषणा की कि अधिक से अधिक जून १९४८ तक वे भारत से अपनी सत्ता हटा लेंगे और वे ही यह निश्चय करेंगे कि यदि उस समय तक भारत का सर्वमान्य संविधान नहीं बनेगा तो भारत के किस भाग में किसे सत्ता सौंपी जाय। इससे भारत के विभाजन की आशंका बढ़ गई। नये वाइसराय लार्ड माउन्टबेटन ने अलग अलग नेताओं से मिल कर ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति से ३ जून १९४७ को नई योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार अन्त में १४ अगस्त १९४७ की मध्य रात्रि को अखण्ड भारत के दो भाग हो गये—भारत और पाकिस्तान दोनों स्वतन्त्र उपनिवेश

राज्य बन गये। राष्ट्रीय नेताओं ने अत्यन्त खेद पूर्वक देश का यह विभाजन स्वीकार किया क्योंकि परिस्थितियों ने उन्हें इसके लिए विवश कर दिया था। विभाजन का विकल्प उस समय भयङ्कर गृह-युद्ध ही नजर आता था। देश के इस प्रकार होने वाले दुःखद विभाजन की अच्छाई या बुराई पर भावी इतिहास ही प्रकाश डालेगा।

स्वतन्त्रता के बादः—राजनैतिक आजादी ने देश के नेताओं और नागरिकों के कंधों पर नया भार डाल दिया। हमने विभाजन के फलस्वरूप आई हुई कठिनाइयों को पार किया है। लाखों विस्थापितों को बसाया है। देश के लिए गणतन्त्रात्मक संविधान बनाया है। देशी राज्यों की समस्यायें हल की हैं जिन्हें अंग्रेज अलग अलग सत्ता सौंपकर देश को खतरे में डाल गये थे। देश के खाद्य संकट से हम पार हुए हैं। अनेक छोटी–छोटी योजनाओं के अतिरिक्त भाखरा-नांगल, दामोदर-घाटी, हीराकुड, तुंगभद्रा, चम्बल आदि बड़े बड़े बांध बनाये जा रहे हैं जिनसे लाखों एकड़ भूमि में सिंचाई होगी। देश के उद्योग धन्धों और प्रकाश के लिए विद्युत शक्ति प्राप्त होगी। देश के आर्थिक विकास की फौलादी नींव के लिये इस्पात के कारखाने खोले जा रहे हैं। ग्रामों के सर्वतोमुखी विकास के लिए सामुदायिक योजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों में सरकार और नागरिकों के सहयोग से बड़े पैमाने पर काम हो रहा है। इस प्रकार के अनेक कार्यों से देश का नवनिर्माण करने की प्रथम पंच वर्षीय योजना संतोषजनक रीति से पूरी हो गई है और कृषि तथा सिंचाई आदि के बाद औद्योगिक विकास पर विशेष बल देने वाली द्वितीय पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो गई है। निर्माण के इस कार्य में संयुक्त राष्ट्र संघ से तथा विदेशों से हमें सहायता और ऋण के रूप में धन राशि प्राप्त हुई है। देश के भीतर व्याप्त विषमताओं को समाप्त करने के लिए भी हमने सरकारी तथा गैर सरकारी ढंग से सर्वोदय और समाजवादी व्यवस्था की ओर बढ़ने वाले कदम उठाए हैं जिनसे आर्थिक वितरण में समानता की ओर कुछ सीमा तक आगे बढ़े हैं, यह सही है कि अब भी हमारी आर्थिक और सामाजिक असमान-तायें मिटाने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। हमारे संविधान के द्वारा

स्वीकृत राजनैतिक समानता ने इस ओर बढ़ने के लिए दृढ़ आधार जुटा दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी अपनी स्वाधीनता के शैशवकाल में ही भारत ने पंचशील और सहअस्तित्व के सिद्धांत और शान्तिपूर्ण व्यवहार के कारण गहरी छाप डाली है। भारत ने कोरिया और हिन्द चीन में युद्ध की ज्वाला को शांत करने में महत्वपूर्ण योग दिया। विश्व के इतिहास में पहली बार वास्तव में निस्वार्थ कार्य और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए भारतीय सेनायें विदेशों में गईं। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में भारत की प्रगति उत्साहवर्द्धक और सन्तोषजनक रही है। लेकिन शताब्दियों की गुलामी के खण्डहरों में सुदृढ़ आधार पर लोक कल्याण का नया सृजन करने के लिए भारत माता प्रत्येक क्षेत्र में हमारी शक्ति और योग्यता का आह्वान कर रही है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. १८५७ में भारत के प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन के क्या कारण थे ? इस क्रान्ति में कौन कौन से नेताओं ने भाग लिया था ?

२. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की जाग्रति के क्या कारण थे ?

३. भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का १८८५ से १९२० तक का इतिहास बतलाइये।

४. 'गान्धीयुग' से क्या तात्पर्य है ? इस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए उसका महत्व समझाइये।

५. 'क्रिप्स-मिशन' तथा 'केबिनेट-मिशन' पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिये।

———

सामान्य-ज्ञान

अध्याय १

विज्ञान—एक दृष्टि

The knowledge of the "thing" is the knowledge of 'God'.

"जड़ जगत का ज्ञान आत्मा के जीवन में सहायक हो सकता है क्योंकि आत्मा जड़त्व के अन्दर कार्य कर रहा है और जड़त्व के अन्दर चरितार्थ होता है।
(इन्द्रसेन, श्री अरविन्द आश्रम),

Through Reason and Science shall we find Our noblest strength for human kind.
(Goethe),

"वैज्ञानिकों ने समाज पर उपकार न किया होता तो मानव संस्कृति का इतना उत्थान न होता।"
(विनोबा भावे),

Human ignorance moves towards the truth so that nescience may become omniscient.
(Sir Aurobindo),

(१)

मनुष्य को जीवन में बहुत कुछ वास्ता पड़ता है वस्तु से, पदार्थ या प्रकृति से, यों भी कह सकते है कि मनुष्य स्वयं, एक दृष्टि से, मूलतः वस्तु या पदार्थ का बना हुआ है—उसका समस्त शरीर, उसके सभी अवयव यहां तक कि मस्तिष्क भी तो, जिसमें से उद्भूत हुई है स्वयं ईश्वर की "भावना" और जिसमें से स्फुरित होते रहते हैं सभी युग निर्माणकारी विचार, वस्तु का बना है। यही तो सीधा सम्बन्ध है जीवन का विज्ञान (पदार्थ-ज्ञान) से।

हमारा जीवन सुखी नहीं हो सकता। यदि हम पदार्थ और प्रकृति की अधिक से अधिकतर जानकारी हासिल न करते जायं। वन-गिरी की वनस्पत्यादि वस्तुओं के गुणों का पता लगाकर ही तो मनुष्य आयुर्वेद-विज्ञान का निर्माण कर सका, जिसने मनुष्य को स्वस्थ रहने का ढंग बताया; क्लोरोफार्म वस्तु के गुण का पता लगाकर ही मनुष्य की असह्य पीड़ा को कम किया गया; ढूंढते-ढूंढते पेनिसिलिन एवं अन्य अनेकों

वस्तुओं के गुणों का पता लगा कर ही मनुष्य का शारीरिक दुःख कम किया जा सका पेट्रोल नामक वस्तु के गुण का पता लगा कर ही तो मनुष्य हवा में उड़ने लगा, और पदार्थ-अणु में छिपे मूल गुण का पता लगा कर यह सम्भावना मानने लगा कि कुछ ही वर्षों में वह मौज से चन्द्रमा की सैर करेगा। वस्तुज्ञान के बिना यह सम्भव नहीं हो सकता था। विज्ञान ने जीवन को वस्तुतः सुखी बनाया हो, न बनाया हो, किन्तु वस्तुज्ञान से उसने सुख का रास्ता अवश्य बता दिया, और सुख की अनेक सम्भावनाएँ अवश्य प्रस्तुत कर दीं। केवल सुखी नहीं, किन्तु हमारा जीवन सफल भी नहीं हो सकता था यदि हम पदार्थ और प्रकृति की अधिक से अधिकतर जानकारी हासिल न करते जायें क्योंकि जीवनेच्छा के साथ साथ आखिर मनुष्य को यह भी तो एक उत्सुकता बेचैन किये रहती है कि वह, जो कुछ भी उसके सामने है—कोई भी वस्तु ग्रह-नक्षत्र, आकाश, सृष्टि-प्रपंच—इसके रहस्य को समझले, और जब तक वह नहीं समझ जाता तो उसको बेचैनी बनी रहती है; और जब वह एक भी रहस्य को समझ लेता है, चाहे वह छोटे से छोटा हो तो मानता है जीवन सफल हुआ।

(२)

यह बात आज धीरे धीरे महसूस की जाने लगी है कि विज्ञान की पहुंच केवल स्थूल दृष्ट वस्तु तक ही नहीं। वह मानो आज वस्तु की अन्तरतम अदृष्ट अस्तित्व की स्थिति को भी समझने लगा हो, वस्तु के कण में अन्तर्भूत गति और शक्ति को प्रत्यक्ष देखने लगा हो, उस नियम का पता लगाने लगा हो जिससे वस्तु का अपने विशेष रूप में अस्तित्व बना हुआ है और जिससे उसमें गति है, जैसे—किसी भी पदार्थ के सूक्ष्मतम कण, अणु का अस्तित्व है विद्युत अणुओं के रूप में जिनमें अपार गति और अपार शक्ति है। इस शक्ति का अनुमान कीजिये :—

$$E = m c^2$$

जहां E शक्ति है, m वस्तु का भार है, एवं c प्रकाश का वेग है, जो एक सैकिण्ड में १,८६,३२६ मील है।

यदि यह माना जाय कि ईश्वर इस विश्व से परे नहीं है किन्तु इस विश्व के कण कण में ही समाया हुआ है—मानो वह विश्व ही ईश्वर स्वयं का विराट

स्वरूप है—तो क्या विश्व-पदार्थ कण के गुण, शक्ति और गति का पता लगा लेना, उन नियमों का पता लगा लेना जिनसे पदार्थ का अस्तित्व बना हुआ है, और जिनसे प्रकृति चल रही है, स्वयं ईश्वर का दर्शन पा लेना नहीं ?—पूर्ण दर्शन न सही, उस हद तक दर्शन जिस हद तक वैज्ञानिक ने वस्तु और प्रकृति के गुण और नियम का पता लगा लिया है।

पदार्थ या प्रकृति का कोई भी नियम मानों वह तात्विक गुण है जो समस्त पदार्थ या प्रकृति में समाया हुआ है, वैसे ही जैसे—मानो ईश्वर विश्व में अदृष्ट रूप से समाया हुआ हो। जिस समय न्यूटन ने यह पता लगाया कि वस्तु ऊपर से पृथ्वी पर देवेच्छा से नहीं वरन् पृथ्वी में निहित गुरुत्वाकर्षण शक्ति से खिंचकर आ गिरती है; या उसने जब यह पता लगाया कि समस्त आकाशीय पिंड अपनी मूल गति की ही धुन में चल रहे हैं; या जब रदरफोर्ड (इंगलैन्ड १६११), नील्सबोर (डैनमार्क १६१३), बैकरल (फ्रांस, १८६५), थोमसन (इंगलैंड१८६७), प्लांक (जर्मनी १६००), ने धीरे धीरे यह पता लगाया कि समस्त पदार्थों के मूल में एक ही तत्व (गतिमान-प्राणु-विद्युतणु) या शक्ति है; जब श्वान (जर्मनी १८३६) ने पता लगाया कि जीव-शरीर कोषाणुओं से निर्मित है; जब आइंस्टीन ने पता लगाया कि देश और काल भूत द्रव्य की ही स्थितियां हैं, उन से भिन्न नहीं; जब डार्विन ने यह पता लगाया कि प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा जीव का विकास और परिवर्तन होता रहता है—तब क्या मनुष्य को ईश्वर की झलक नहीं मिल गई थी, तब क्या मनुष्य ने ईश्वर का कुछ ज्ञान् प्राप्त नहीं कर लिया था ? जागतिक ज्ञान (वस्तुज्ञान) जिनका वैज्ञानिक पता लगाना है ईश्वरीय ज्ञान ही है। वस्तुतः वेदान्त का अपने आदि शुद्ध रूप में यही तो आशय था कि यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है—सर्वं खलुइदं ब्रह्म;—प्रकृति को सीधा अपने वस्तुरूप में देखना भी मानो ईश्वर को ही देखना है।

वस्तुः, प्रकृति संबंधी सही बातों का पता लगाकर विज्ञान एक ऐसी समझ, एक ऐसी दृष्टि मनुष्य में उत्पन्न कर देता है जिससे वह अपने चारों ओर की प्रकृति, विभिन्न वस्तुओं और जीवों के साथ, एक रस, एक मन होकर रह सके; क्योंकि विज्ञान से वस्तु या प्रकृति का स्वभाव जो मनुष्य जान लेता है, उनमें निहित गुण, गतिशीलता और शक्ति को जो वह पहचान लेता है। विज्ञान

वस्तु और प्रकृति की तह में स्थित नियम या शक्ति या सत्य से हमको न केवल अवगत करा देता है, बल्कि उनसे साक्षात्कार भी करा देता है।—जैसे साक्षात्कार हो गया, वैज्ञानिक का परमाणु में अन्तर्हित विशाल शक्ति से जिसे देखकर वह स्तंभित, विस्मित-सा रह गया था वैसे ही जैसे अर्जुन युद्ध क्षेत्र में भगवान के विराट स्वरूप को देखकर स्तंभित रह गया था।

इस पृथ्वी पर अपने जीवन के प्रारम्भ से ही मनुष्य-जाति विज्ञान के सहारे (या यों कहें कि अपने चारों ओर की वस्तुओं और प्राकृतिक घटनाओं को समझने के वैज्ञानिक ढंग के सहारे) अपने चारों ओर की वस्तुओं, जीव और जगत के गुण, रहस्य व तथ्यों को दिन-ब-दिन अधिक से अधिकतर स्पष्ट रूप से समझने में सफल हुई है। एक जमाना था जब मनुष्य यह नहीं जानता था कि आकाश में रात्रि के समय चमकने वाले ये नक्षत्र क्या हैं, क्या यह चन्द्रमा और क्या यह सूर्य है तब वह अनेक प्रकार की कल्पनायें किया करता होगा, और उसके लिये यह एक अलौकिक रहस्य ही बना रहा। उस वक्त तक जब तक की अपनी जिज्ञासा वृत्ति से प्रेरित होकर उसने वैज्ञानिक आधार पर यह सुनिश्चित नहीं कर लिया कि वे तो विशाल, गैसीय पिंड हैं। जमाना था जब मनुष्य को मालूम नहीं था कि यह पृथ्वी कितनी बड़ी है, गोल है या चपटी है, ऊपर सर्वत्र छाया हुआ आसमान क्या वस्तु है, कैसे और क्यों वर्षा, गर्मी और सर्दी हो जाती है, कैसे और क्यों वर्ष के कुछ महीनों में पृथ्वी हरी भरी हो जाती है, और फिर ऊजड़ और नग्न। निरीक्षण, परीक्षा और अनुभव से वह धीरे धीरे कारण और कार्य का सम्बन्ध समझने लगा था, वह वैज्ञानिक हो चला था, और ऐसी बातों का जो मनुष्य की बुद्धि से परे समझी जाती थी, जो अलौकिक रहस्यात्मक और दैवी मानी जाती थीं, रहस्य समझने लगा था। ये बातें अज्ञान रहस्यात्मक दायरे से निकल कर प्रत्यक्ष वस्तुज्ञान के दायरे में आ रही थीं। उसने जान लिया था कि पृथ्वी गोल है, लगभग २५,००० मील इसकी गोलाई है, सूर्य के ताप से समुद्र के जल की भाप बन कर वर्षा हो जाती है, और जल, पृथ्वी, और सूर्य की गर्मी और बीज के सहयोग से वनस्पति उत्पन्न हो जाती है;—जीव और मनुष्य की उत्पत्ति और विकास का रहस्य भी उसने समझ लिया; ५१८ में कोषाणुओं का पता लगाकर प्राण-चेतना के रहस्य को, एवं

मस्तिष्क के तंतुओं का पता लगाकर विचार और भावनाओं के रहस्य को भी वह समझने लगा; यहां तक कि २० वीं शताब्दी के आते आते जीव बीजाणु में पित्र्य सूत्र और पित्रैक (Chromo somes and genes) का पता लगाकर वह यह रहस्य भी जानने लगा कि कैसे एक ही माता पिता की संतानों में रूप-रंग और गुण की भिन्नता पैदा हो जाती है, और अपने इस विज्ञान के आधार पर वह यह भी संभावना बनाने लगा कि अपने ही वस्तुगत साधनों से यह मनुष्य-जाति के पित्रैकों में ऐसा परिवर्तन उपस्थित करदे कि मन चाहे गुण या शक्तियां ही मानव जाति पैतृक लक्षणों के रूप में प्राप्त करे—यहां तक कि मानव जाति के स्वभाव को ही वह बदल दे। विज्ञान आज मनुष्य को आश्वस्त कर रहा है कि एक-न-एक दिन वह सृष्टि, प्राण और चेतना के सम्पूर्ण रहस्य को अवश्य जान लेगा।

अध्याय २

पृथ्वी की उत्पत्ति—यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं कैसे अस्तित्व में आई ? कहां से आये वे पदार्थ जिससे यह निर्मित है—पत्थर, लौह, मिट्टी, जल इत्यादि । कौन, या क्या शक्तियां इसके निर्माण का कारण हैं ? वैज्ञानिक आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर देने का सबसे प्रथम प्रयास १७५६ई० में एक फ्रेंच वैज्ञानिक कोम्ट दी बफून (Comte de Buffon) ने किया था । उनकी कल्पना यह है कि एक उल्का (पुच्छल तारा) अंतरिक्ष में घूमता-घूमता सूर्य से आ टकराया था जिसके फलस्वरूप सूर्य की मात्रा (Mass) में से कोई कण छिटककर उससे अलग गिर पड़े और वे कण सूर्य की घूर्णित गति के अनुसार उसी के चारों ओर घूमने लगे । ये कण पृथ्वी एवं अन्य ग्रह थे ।

कांट एवं लापलेस की कल्पना (निहारिका सिद्धान्त)—जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने पहले तो सृष्टि की आदि स्थिति की कल्पना की । उसका अनुमान था कि प्रारम्भ में सारा विश्व असंख्य छोटे-मोटे स्थिर; ठंडे मृत कणों से परिव्याप्त था । न्यूटन के आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार उक्त कणों में परस्पर आकर्षण हुआ होगा और फलस्वरूप एक कण का दूसरे कण के साथ ऐसा वेगपूर्ण स्पर्श हुआ कि वे एक दूसरे में मिलकर विभिन्न ज्वलंत गैसीय निहारिकाओं गोलाकार वायवीय पिंडों में परिवर्तित हो गये । ऐसा ही एक गैसीय पिंड सूर्य था । इसका पुन्ज इतना बड़ा और घना था कि इसके आयतन में सभी वर्तमान ग्रह समाहित थे । यह अपनी ही धुरी पर घूम रहा था और धीरे धीरे ठण्डा हो रहा था । जिससे इसमें सिकुड़न पैदा हुई । सिकुड़न की वजह से ज्यों ज्यों इसके आयतन में कमी हुई त्यों त्यों इसकी केन्द्र-बहिर्गत शक्ति में वृद्धि हुई, जिसके कारण इस पिण्ड के कुछ ऊपरी भाग उससे छिटकर अलग हो गये ।

ये छिटके हुए भाग सूर्य के चारों ओर गैस की मुद्रिका के रूप में थे । यह अनुमान किया जाता है कि कालान्तर में ये मुद्रिकायें टूट गईं । इनके टूटे हुए भाग ज्वाला रहित होकर ग्रहरूप में सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने लगे ।

फ्रांस के महान् वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ लापलेस (Lapalace) ने उपरोक्त सिद्धान्त का परिष्करण और विकास किया।

१८५० ई० के लगभग एक अंग्रेज वैज्ञानिक मैक्सवैल ने उक्त सिद्धान्त के प्रति कई आपत्तियां उठाई जिनका समाधान उस सिद्धान्त में नही था। अतः ण्ट लापलेस का रिंग (मुद्रिका) या निहारिका सिद्धान्त वैज्ञानिक दुनियां में प्रायः अमान्य हो गया।

चैम्बरलेन और मोल्टन की कल्पना (Planetesimal Hypothesis ग्रहाणु सिद्धान्त)—१९०४ ई० में चैम्बरलेन और मोल्टन नामक दो अमेरिकन वैज्ञानिकों ने निहारिका सिद्धान्त की गल्तियों से मुक्त अपनी ही एक कल्पना प्रस्तुत की जिसके अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य और एक अन्य तारे, (न कि वफून की प्रस्तावना के अनुसार उल्का) के संघर्ष से हुई। इन वैज्ञानिकों ने अनुमान किया कि मूल पिण्ड (सूर्य) गोलाकार, तप्त तथा गैस-पूर्ण नहीं था वल्कि ठोस कणो से निर्मित, चक्राकार (Spiral) तथा ठण्डा था। किसी अन्य तारे के निकट आने से, और उसकी आकर्षण शक्ति के मूल पिण्ड का कुछ भाग टूट कर कल्पित तारे की ओर धावित होगया। मूल पिण्ड का मध्यवर्ती भाग तो वर्तमान सूर्य है; तथा जो भाग टूट कर बिखर गया था उसमें केन्द्र स्थल की भांति कुछ ग्रन्थियां (Knots) होगई जिनमें चारों ओर के बहुत छोटे छोटे ठोसकण (Planetesimals) जो मूल पिण्ड से टूट कर इधर उधर बिखर गये थे, आकर्षण शक्ति से खिचकर समाहित होने लगे, और धीरे-धीरे उन्होने ग्रहों का रूप ले लिया।

उक्त कल्पना के प्रति भी कई आपत्तियां उठाई गईं। उनका समाहार करते हुए प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक जेम्स जीन्स एवं जैफरे ने अपना एक सिद्धान्त प्रस्तावित किया जो ज्वार भाटा सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात है।

जीन्स और जैफरे की कल्पना (ज्वार-भाटा सिद्धान्त) (Tidal hypothesis of Jeens and Jeffreys)—नक्षत्र गण एक दूसरे से करोड़ों मील दूर रहकर घूम रहे हैं, इसलिये यह प्रायः निश्चित है कि उनमें परस्पर धक्का लगना सम्भव नहीं। किसी किसी का अनुमान है कि प्रायः २०० करोड़ (२ अरब) वर्ष पहिले ऐसी हीक दुसम्भव घटना हो गई थी। हमारे नक्षत्र

(सूर्य) के निकट एक अन्य विशाल नक्षत्र आ पहुंचा था। इस नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य के भीतर प्रचण्ड वेग से ज्वार की तरंगें लहरा उठी थीं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वार की तरंगें उठा करती हैं। किन्तु सूर्य की सतह पर से जो गैस की तरंगें उठीं उनकी कल्पना कीजिये—वे समुद्र के ज्वार से कितनी लाख गुणा विशालकाय एवं भयंकर होंगी। अन्त में प्रचण्ड आकर्षण के वेग से कोई कोई तरंग इतनी बढ़ी कि वह सूर्य से पृथक् होकर बाहर निकल आई। खूब सम्भव है उस बड़े नक्षत्र ने इनमें से कइयों को आत्मसात कर लिया होगा किन्तु वह नक्षत्र तो अपने कक्ष में (रास्ते पर) तीव्र गति से दौड़ता हुआ अपनी राह पर चल दिया—अपनी राह चलता चलता एक पल भर के लिये ऐसी स्थिति में आया होगा कि सूर्य में उद्रेक पैदा कर पाया इसी उद्रेक की वजह से गरम गैस की यह तरंग एक जेट (Jet), एक लंबान की शकल में निकली उस नक्षत्र की ओर जो घूमता हुआ आया था और निकल गया था। किन्तु यह तरंग लम्बे जेट की शकल में तो रह नहीं सकती थी। इस जेट में से छोटे बड़े ज्वलन्त वाष्प (Gas) के टुकड़े टूट टूट कर गिर गये, जिस तरह होज पाइप में से निकलकर पानी की जेट बूंदों की शकल में बिखर जाती है। अन्त में गैस की ये बूंदें, ये विशाल-काय ग्लोब, सूर्य के प्रबल आकर्षण से खिचकर उसी के चारों ओर चक्कर काटने लगे, सूर्य से करोड़ों मील दूर अप्रतिहत गति से, और करोड़ों वर्षों में ठण्डे होकर, अपना प्रकाश खोकर ग्रह कहलाये। पृथ्वी उनमें से एक है, जो सूर्य से ९ करोड़ ३० लाख मील दूर आकर पड़ी। किसी किसी ग्रह में गर्मी अब भी हो सकती है, पर रोशनी नहीं। ऐसे ग्रह नव हैं—यथा-पृथ्वी, शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति, शनि, वरुण, नेपच्यून, प्लूटो (यम)। इससे भी अधिक हो सकते हैं, किन्तु अभी तक उनका पता नहीं। प्लूटो का पता तो अभी अभी सन् १९३० में एक विशेष शक्तिशाली दूरबीन की सहायता से लगा था। जिस प्रकार सूर्य में उद्रेक पैदा होने से ग्रह उत्पन्न हुए—उसी प्रकार पृथ्वी अभी जब गैस रूप में ही थी, उसमें भी एक उद्रेक पैदा हुआ, उसी नियम से जिससे सूर्य में हुआ था और उसी प्रकार वाष्पदेही पृथ्वी से एक गैस पिण्ड टूटकर, पृथ्वी से पृथक हुआ और पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा। यही चांद था जो पृथ्वी का उपग्रह कहलाया।

सूर्य के चारों ओर इन ग्रहों के घूमने का रास्ता चक्र रेखा के समान गोलाकार है। किसी का रास्ता सूर्य के निकट है और किसी किसी का सूर्य से बहुत दूर। किसी को सूर्य के चारों ओर घूमने में साल भर से भी कम समय लगता है और किसी को सौ साल से भी ऊपर। किसी भी ग्रह को घूमने में कितना भी समय क्यों न लगे, इस घूमने का निश्चित नियम है। इसका व्यतिक्रम कभी नहीं होता। सूर्य परिवार के सभी ग्रहों को चाहे वे दूर के हों चाहे निकट के, छोटे हों या बड़े, पश्चिम से पूर्व की ओर प्रदक्षिणा करनी पड़ती है,क्योंकि सभी ग्रह एक ही समय धक्का खाकर सूर्य में से छिटक पड़े थे। जिस प्रकार तेज चलती हुई रेल में से आदमी उतरे तो उसे रेल की दिशा में ही दौड़ना पड़ता है, उसी प्रकार जब ग्रह सूर्य से पृथक् हुए, उन्हें सूर्य की झोंक में उसके चारों ओर दौड़ना पड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार आदि अचिंत्यनीय ज्वलन्त वाष्प में कुछ उद्वेग पैदा होने से अन्य विपुल संख्यक नक्षत्रों के साथ साथ हमारे सूर्य का अविर्भाव हुआ उसी प्रकार इस गैस पिण्ड सूर्य में एक उद्वेग पैदा होने से अन्य ग्रहों के साथ हमारी पृथ्वी का अविर्भाव हुआ। पृथ्वी में आज जो सब उपादान– मिट्टी, धातु, पत्थर, जल आदि हैं, वे सब सूर्य में गैस रूप में विद्यमान थे, प्रारम्भ में उसी गैस रूप में ये पृथ्वी में उपस्थित रहे।

फान वायजेकर (Von Weizsacker) का नया सिद्धान्त— सन् १९४३ ई० तक तो सर जेम्स जीन्स का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्व मान्य रहा। किन्तु सन् १९४३ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान-वेत्ता वाइससाकर ने विज्ञान द्वारा उद्घाटित अनेक नए तथ्यों के आधार पर सौर-मंडल की उत्पत्ति के विषय में एक नया सिद्धान्त स्थापित किया जिसको अब अधिक मान्यता दी जाती है। वायजेकर का सिद्धान्त बहुत संक्षेप में इस प्रकार है:—

ब्रह्मांड के द्रव्य-पदार्थ (सूर्याति अर्थात् हीलियम, उद-जन, एवं ब्रह्मांड धूलि) के शनैः शनैः संघनन (कनडेनसेशन) से तो सूर्य नक्षत्र का निर्माण हुआ। सूर्य के चारों ओर अवकाश में उपर्युक्त ब्रह्मांड गैस एवं धूलि, जिसमें पत्थर शीशे इत्यादि के अति सूक्ष्म कण थे, अपने अपने कक्ष में चक्कर लगाते रहे। इस गति में धूलिकण एक दूसरे से बड़ी जोर से टकराते थे, छोटे कण बड़े कणों में समाहित होते जाते थे और इस प्रकार उस धूलि पुंज का आयतन

बढ़ता जाता था, एवं टक्कर की गर्मी से वह पुंज तरल एवं गैसीय स्थिति में परिवर्तित होता जाता था। लगभग १० करोड़ वर्षों तक उपर्युक्त प्रक्रिया होती रही और जब सूर्य के प्रभाव-क्षेत्र में आने वाले अवकाश—यह अवकाश छोटा मोटा नहीं, किन्तु अरबों मील तक विस्तृत के धूलिकण पुंज रूप में परिवर्तित हो गये, तो वे ही पुंज सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने लगे, और ग्रह कहलाये। ये ग्रह धीरे-धीरे ठंडे होते गए; ऊपर की सतह कठोर होती गई, और पृथ्वी नाम के ग्रह का वह रूप बना जो आज है। इस प्रकार अपने सूर्य के ग्रहों का निर्माण आज से लगभग २—३ अरब वर्ष पहले हो चुका था।

इस प्रकार आज से लगभग दो अरब वर्ष पहले जब पृथ्वी अस्तित्व में आई उस समय की पृथ्वी की कल्पना कीजिये। गैस रूप में यह आग का एक भयंकर गोला-सा था—छोटा-मोटा गोला नहीं, ऐसा गोला जिसका आवर्तन उस समय २५ हजार मील से भी अधिक होगा। सोच सकते हैं उस समय पृथ्वी पर जीवन का तो कोई चिन्ह हो ही नहीं सकता था। इस गैसीय पिण्ड का ऊपर का स्तर धीरे धीरे ठंडा होने लगा, और कुछ हजारों वर्षों में यह ठंडा होकर पहले तरल अवस्था में आया और फिर ठोस अवस्था में। भीतर का स्तर आज भी बहुत गरम है। स्यात वहां अनेक तरल और गैस पदार्थ विद्यमान हैं। ऊपर का स्तर ज्यों ज्यों तरल और ठोस होता जाता था तो वह भीतर के स्तर पर जो गैसीय (वाष्पीय) और हल्का था, जोर मारता था। कुछ अन्दर धंस जाता था, कुछ ऊपर ही पहाड़-सा रह जाता था। इस प्रकार धीरे-धीरे कई मीलों अन्दर तक पृथ्वी की सतह ठोस हो गई और उसकी सतह पर अनेक पहाड़ एवं अनेक गड्ढे हो गये। ऊपर का धरातल ठण्डा हुआ, ठंडा होने पर भाप रूप में जो पानी विद्यमान था वह पृथ्वी पर गिरने लगा और उस जल से पृथ्वी के गड्ढे पुर गये—और वे समुद्र बन गये! किन्तु अब भी एक वायव्य (गैसीय) आवरण इस ठोस पदार्थ को ढके हुए था—यह (गैसीय) आवरण उन पदार्थों के गैस का था जिनको तरल एवं ठोस बनाने के लिये बहुत अधिक ठंड) (बहुत कम ताप) की आवश्यकता थी। इतना कम तापमान पृथ्वी पर कभी नहीं हुआ, अतएव जिसका एक आवरण अब भी पृथ्वी को ढके हुए है। ६०० मील की दूरी तक (५ मील तक घना और फिर हल्का होता हुआ) पृथ्वी के चारों ओर वायव्य पदार्थों (गैसों का जिसमें प्रमुख नाइट्रोजन (७७%)

और ओषजन (२१%) हैं एक गोल-सा चढ़ा है जिसे वायुमंडल कहते हैं, और जो पृथ्वी के साथ-साथ घूमता भी है। पृथ्वी का ताप इतना कम नहीं कि ओषजन इत्यादि गैसों को तरल या ठोस रूप में परिवर्तन कर दे। इस प्रकार अनेक करोड़ वर्षों तक नाना रूप में तेज का भयंकर उत्पात चलता रहा—कितना भयंकर वह उत्पात था, इसका समझ लेना कठिन है। कल्पना कीजिये—आज के युग में लाखों अणु-बम एक साथ फट पड़ें और वे उत्पात मचादें तो क्या हो—पृथ्वी कांप उठे—अन्तर में ज्वालामुखी फटने लगे—तप्त तरल धातुओं की मीलों चौड़ी नदियाँ बहने लगे, वह अन्तरिक्ष जिसके आरपार हम सूर्य और चन्द्र देख रहे हैं भारी गैसों से आच्छादित हो उठे—और सब अन्धकारमय हो जाय। चारों ओर एक अव्याकृत (जिसमें भेद की प्रतीति न होती हो) सी दशा हो जाये। इस प्रकार अनेक काल तक उत्पात के बाद आज से यहाँ लगभग ५० करोड़ वर्ष पहिले यह पृथ्वी प्रायः उस स्थिति को प्राप्त हुई, वे भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो पाईं, वह स्टेज बन पाया जिस पर "प्राण" का आगमन हो सके जीवों का प्रादुर्भाव हो सके। इसकी कहानी आगे पढ़िये।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पृथ्वी की आयु के विषय में क्या अनुमान लगाया जाता है ?

२. पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में निम्न सिद्धांतों का क्या मानना है ?
निहारिका सिद्धान्त, ग्रहाणु सिद्धान्त, ज्वार भाटा सिद्धान्त।

३. पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में नवीनतम मान्यता क्या है ? उसे समझाइये।

अध्याय ३

भूगर्भ एवं भूस्तर

पृथ्वी की आन्तरिक अवस्था का अध्ययन सीधे तौर पर सम्भव नहीं है। आरम्भ में तो कुछ वैज्ञानिक तथ्यों को मान कर ही पृथ्वी की आन्तरिक अवस्था का अनुमान लगाया गया था लेकिन बाद में भूकम्प की तरंगों के द्वारा कई मान्यताओं की पुष्टि हुई तथा कई नई बातें मालूम हुईं।

सर्व प्रथम विशेषकर स्वेस (Suess) नामक भूगर्भ शास्त्री ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। पृथ्वी का औसत घनत्व ५.५ है; लेकिन पृथ्वी के केन्द्र से लेकर धरातल तक जिसकी दूरी लगभग ३९६३ मील आंकी गई है, अनेकों प्रकार के घनत्व वाले पदार्थ मिलते हैं। स्वेस के अनुसार परतदार चट्टानों के नीचे पृथ्वी के गर्भ के तीन मोटे विभाग किये जा सकते हैं जिसमें विभिन्न गुण व विभिन्न घनत्व वाली चट्टानें मिलती हैं। वे भाग निम्नलिखित हैं—

(१) स्याल (Sial) (सिलिका+अल्यूमीनियम)
(२) सीमा (Sima) (सिलिका+मेगनेशियम)
(३) नीफे (Nife) (निकल+फेरम—लोहा)
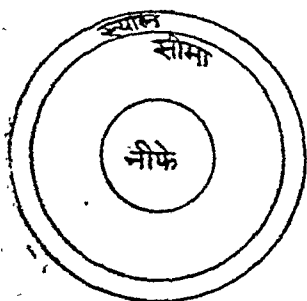
स्याल शब्द सिलिका और अल्यूमीनियम से बना है अर्थात् इसमें सलिका और अल्यूमीनियम पाई जाती है और इन चट्टानों का घनत्व २.७ है। स्याल चट्टानें धरातल से लगभग ३२ मील की गहराई तक पाई जाती हैं। सीमा में सिलिका और मेगनेशियम पाया जाता है। इनको घनत्व ३ से ३.२ तक है। ये चट्टानें १८०० मील तक की गहराई तक पाई जाती हैं। इनके नीचे अर्द्ध द्रवित स्थिति में निकिल और लोहा मिलता है जिसे नीफे कहते हैं। इसका घनत्व १२ है।

भूकम्प की तरंगों से भी हमें पृथ्वी की आन्तरिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त हुआ है। भूकम्प के समय उत्पन्न होने वाली पी. (P) और एस. (S) तरंगें पृथ्वी के अन्दर की ओर चलती हैं लेकिन ठीक विपरीत भाग में केवल P तरंग ही निकलती है जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी का केन्द्र द्रवित अवस्था में है। पृथ्वी के द्रवित केन्द्र की पुष्टि इस बात से भी मिलती है कि पृथ्वी के अन्दर जाने पर प्रति ६० फीट पर १° फ़ेरन् हाइट तापक्रम बढ़ता है और एक सीमा पर तापक्रम इतना अधिक हो जाता है कि चट्टानें ठोस अवस्था में नहीं रह सकती हैं। यदि पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निहारिका सिद्धान्त को सत्य मान लिया जाये तो भी पृथ्वी के केन्द्र को द्रवित मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

पृथ्वी का धरातल

चट्टानें :—पृथ्वी के धरातल पर पाये जाने वाले पदार्थ को चट्टान कहते हैं। ये चट्टानें किसी भी आकार में जैसे बड़ी-बड़ी शिलायें, कंकड़, बालू रेत आदि के रूप में पाई जाती है। इन चट्टानों के रूप गुण और उत्पत्ति के आधार पर तीन भाग किये जा सकते हैं। सर्व प्रथम आग्नेय चट्टानें जो कि पृथ्वी के गर्भ से ज्वालामुखी पर्वतों द्वारा निकली है। दूसरी चट्टान है परतदार :—ये चट्टान परिवर्तनकारी शक्तियों के द्वारा बनी है। तीसरी चट्टान है, परिर्वतित चट्टान— ये आग्नेय परतदार चट्टानों की गहराई में, दवाव व आन्तरिक गर्मी तथा अधोभौमिक जल की रसायनिक क्रिया और दावरा रूप गुण आदि में परिवर्तन हो जाता है जैसे चूना संगमरमर में और कोयला ग्रेफाइट में परिवर्तित हो जाता है।

लेकिन ये चट्टानें वास्तविक रूप में नहीं पाई जातीं। कहीं पर पर्वत, कहीं पर मैदान की घाटी, कहीं झरना, कहीं बालू के टीले के रूप में पाई जाती हैं पृथ्वी पर कुछ परिवर्तनकारी शक्तियां हैं। जिनमें कुछ निर्माणकारी शक्तियां हैं और कुछ विनाशकारी। इन दोनों के द्वारा ही पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं।

निर्माणकारी शक्तियां दो प्रकार की होती हैं। (१) भूचाल (२) ज्वालामुखी।

भूचाल :—चट्टानों के आकार रूप बदलने व तोड़ने की क्रिया को भूचाल कहते हैं। इसका मूल कारण है चट्टानों पर दबाव जिससे चट्टानों में झुर्रियां पड़ती हैं दरार हो जाते हैं, वे टूटकर स्थानान्तरित हो जाती हैं; तथा पर्वतों, पठारों का निर्माण होता है।

झुर्रियां (Folds)
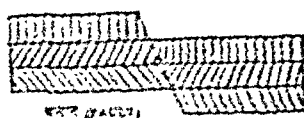
इसके अलावा दूसरी निर्माणकारी शक्ति है ज्वालामुखी क्रिया। पिघली हुई चट्टानों की गति को ही ज्वालामुखी क्रिया कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे पिघली हुई चट्टानें जिसे कि लावा कहते हैं पृथ्वी के धरातल पर ही आवे। ज्वालामुखी प्रक्रिया का प्रमुख कारण है पृथ्वी की आन्तरिक गर्मी जिसके कारण चट्टानें पिघल जाती हैं तथा उस लावा को बाहर निकालने में मदद मिलती है मयोमोमिक जल जो कि लावा के सम्पर्क में आकर गर्म होकर वाष्प में परिणित हो जाता है तथा फैलने के लिये अधिक जगह लेने के प्रयास में निकलने की कोशिश करता है और चट्टानों में कमजोर स्थानों को तोड़ता हुआ बाहर निकल आता है। यदि ऊपर की चट्टानें कठोर हुईं तो वह चट्टानों दरारों में घुस जाता है इस क्रिया को आन्तरिक ज्वालामुखी क्रिया कहते हैं। बाह्य ज्वालामुखी क्रिया द्वारा धरातल पर काफी परिवर्तन होते हैं इसमें ज्वालामुखी पर्वत क्रेटर (मुख) केलडेरा (वृहद मुख) लावा के मैदान जैसे भारत में मालवा का पठार आदि का निर्माण होता है और साथ ही बहुत से बहुमूल्य खनिज पदार्थ पृथ्वी के गर्भ से निकल कर धरातल पर आ जाते हैं अन्यथा मनुष्य शायद उनसे वंचित ही रह जाता है।

इन दोनों आन्तरिक निर्माणकारी क्रिया के कारण धरातल की प्रमुख रूप रेखा पर्वत आदि बनते हैं और ये स्थान आगे चलकर आपस में संतुलन (Balance of Equilibrium) कायम कर लेते हैं जिसे Isostasy कहते हैं। यह भार विनाशकारी शक्तियों के द्वारा एक स्थान की चट्टानों को

लेजाकर दूसरी जगह जमा करने से बिगड़ जाता है। जैसे कि हिमालय में तथा बंगाल की खाड़ी में एक (Balance) स्थापित है लेकिन नदियों द्वारा हिमालय की मिट्टी लेजाकर बंगाल की खाड़ी में जमा करने से वह बिगड़ जाता है क्योंकि हिमालय पर भार कम हो जाता है और बंगाल की खाड़ी में भार बढ़ जाता है। और इस भार की समानता को पुनः स्थापित करने के लिये सिद्धान्त के तौर पर ऐसा अनुमान है कि बंगाल की खाड़ी का तला लगातार नीचे बैठ रहा है तथा हिमालय ऊंचा उठ रहा है।

पृथ्वी पर कार्य करने वाली विनाश कारी व परिवर्तन कारी शक्तियां ही धरातल को उसका वास्तविक रूप देती हैं। ये शक्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) तापक्रम (२) जल (३। बर्फ (४) वायु तापक्रम :—चट्टानें गर्मी पाकर फैलती हैं और सर्दी में सिकुड़ती हैं। लेकिन इस प्रकार जल्दी जल्दी फैलने व सिकुड़ने से चट्टानें टूट जाती हैं इस क्रिया को ऋतु क्षति कहते हैं। तापक्रम का विशेष प्रभाव तो उन स्थानों में देखा जा सकता है जहां तापक्रम हिमांक से नीचा ही जाया करता है ऐसे स्थानों में यदि चट्टानों की दरारों के बीच में पानी भर जाये तो हिमांक से कम तापक्रम वह जम जायेगा और फैलेगा जिससे चट्टान टूट जायेगी।

जल :—पृथ्वी पर कार्य करने वाली शक्तियों में सबसे प्रमुख है वर्षा का जल, बहता हुआ जल। अधोभौमिक जल सामुद्रिक लहरों के रूप में विभिन्न स्थानों में कार्य करता है। वर्षा का जल साधारणतया नदी में मिल जाता है और कुछ भाग भूमि में समा जाता है। नदी एक ऊंचे भाग को घटाकर समतल प्रायः मैदान में बदल देती है। नदी को जन्म से लेकर उसके समुद्र में गिरने तक के काल को तीन भागों में बांट सकते हैं (१) बाल्यावस्था (२) प्रौढ़ अवस्था (३) वृद्धावस्था बाल्यावस्था काल में नदी पहाड़ी में ही रहती है। इस समय नदी का मुख्य कार्य काटना और बहाना है। काटना भी विशेषतौर पर गहराई में और उद्गम की ओर अधिक होता है। नदियां तीव्रगामी होती हैं इस अवस्था में नदी में झरने, गोर्ज (गहरी घाटी) झील और नदी हरण पाये जाते हैं।

प्रौढ़ावस्था (मैदानी भाग) में नदी की गति कुछ मंद हो जाती है जिसके

कारण जल के तीनों कार्य काटना बहाना और जमा करना होते है। इस अवस्था में नदी बाढ़ के मैदान, प्रवाह मोड ओक्स बो (Ox Boio) झील और वृद्धावस्था में डेल्टा या एस्चुरी (एक ही धारा में समुद्र में मिलाना) बनती है।

अधोभौमिक जल का कार्य चूने की चट्टानें वाले प्रदेश में विशेष रूप में देखने को मिलता है।

युगोस्लाविया के कार्स्ट (Karst) प्रांत के नाम पर अधोभौमिक जल के द्वारा विकृत चूने की चट्टानों के प्रदेश को कार्स्ट प्रदेश कहते हैं। इसमें अंधी घाटियां सिंक होल (Sink hole) गुफाएं; स्टैलैक्टाइट और स्टैलगमाइट आदि का निर्माण होता है।

लहरें :—समुद्र की लहरें किनारों पर वेग से टकराया करती है और किनारे को तोड़ती है। उन्हें कटा-फटा बनाती है तथा उस मिट्टी को दूर ले जाकर समुद्र में टीले (Sand Bar) के रूप में जमा कर देती है। ये टीले या तो समुद्र तट पर लम्ब रूप से या उसके समानान्तर होते हैं। इन समानान्तर टीलों से प्रायः समुद्र का कुछ भागतट तथा इन टीलों के बीच में रह जाता है। इन्हें लैगून (Lageon) कहते हैं। इनमें पानी शान्त रहता है।

बर्फ :—बर्फ का ठंड प्रदेश व पर्वतों में दृष्टिगोचर होता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हिमयुग में संसार के एक बहुत बड़े भूभाग पर बर्फ जमी हुई थी। बर्फ को हटे हुये लगभग २५,००० वर्ष ही हुये हैं। उसके कारण बहुत से ऐसे ही दृश्य बन गये हैं—जैसे बर्फ द्वारा काटने से u के आकार की घाटियां, टंगी हुई घाटियां, शीप रॉक (Sheep Rock) अर्द्ध वृत्तीय गर्त (Cirque) फियोर्ड बनते हैं तथा पत्थर को जमा करने से मोरेन आदि बनते हैं। मोरेन के आगे एस्कर (लम्बी पहाड़ियां) ड्रम लिन, (गोल पहाड़ियाँ) आदि बनते हैं। बर्फ के पिघलने से यूरोप व उत्तरी अमेरिका में बड़ी बड़ी झीलें बन गई हैं। ऐसा अनुमान है कि यदि सारी बर्फ पिघल जाये तो समुद्र की सतह १५० फीट ऊँची उठ जावेगी। जिससे समुद्र तट के भागों को संकट उत्पन्न होने की संभावना हर समय लगी रहेगी।

वायु :—वायु का कार्य शुष्क भागों में विशेष रूप से उष्ण मरुस्थल में प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। यहाँ वायु की गति भी तेज होती है और

तापमान भी अधिक होता है। जिससे चट्टानें टूटती रहती हैं तथा वायु के वेग से एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान को भेज दी जाती है। इससे बालू के टीले बनते हैं ये टीले स्थिर नहीं रहते।

मूंगें की चट्टानें :—केवल भौतिक शक्तियाँ ही नहीं बल्कि कुछ जीव भी भूस्तर के निर्माण में अपना योग देते हैं। जैसे मूंगे के कीड़े जल में रहते हुये चट्टानों (Coral reefs) का निर्माण करते हैं। चट्टानें उष्ण भागों में पाई जाती हैं। आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्व की मूंगें की चट्टानें विश्व विख्यात हैं।

इस प्रकार हमने देखाकि विभिन्न प्रक्रियाओं एवं तत्वों के घात-प्रतिघात तथा सहयोग से पृथ्वी के भूगर्भ और भूस्तर का निर्माण हुआ है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. पृथ्वी की आंतरिक शक्तियां किस प्रकार से पृथ्वी की सतह का निर्माण करती हैं। सविस्तार समझाइए।

२. पृथ्वी के भूगर्भ और भूस्तर में क्या अन्तर है तथा दोनों का निर्माण किस प्रकार संभव हो सका है।

३. पृथ्वी पर कार्य करने वाली वाह्य शक्तियों का उल्लेख कीजिए। उन्होंने किस प्रकार विभिन्न दृश्यों को बनाने में सहयोग दिया!

अध्याय ९
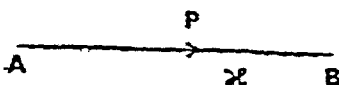
कार्य, शक्ति और सामर्थ्य

(Work, Energy and Power)

विज्ञान में 'कार्य', शक्ति और सामर्थ्य—इन पदों से विशेष तात्पर्य होता है जिनका अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे।

कार्य (Work):—जब कोई वस्तु किसी बल के लगने से अपने स्थान से बल की दिशा में हट जाती तो हम कहते हैं कि कोई 'कार्य' सम्पन्न हुआ। भार उठाते समय मनुष्य कार्य करता है। जब कोई घोड़ा किसी गाड़ी को खींचता है तो घोड़ा कार्य करता है, रेलगाड़ी के डिब्बों को खींचने में इंजिन कार्य करता है। वैसे तो लिखने-पढ़ने को भी काम कहते हैं परन्तु हमारा तात्पर्य मानसिक कामों से न होकर केवल भौतिक कामों से है। कार्य का परिमाण (magnitude) हम बल तथा पदार्थ या बिन्दु जिस पर बल लगाया गया उसके अपने स्थान से हटने की दूरी के गुणनफल द्वारा मालूम करते हैं। यदि एक बल P किसी बिन्दु A पर लग कर उसको X दूरी पर हटा दे तो किया गया कार्य W

या कार्य = बल × दूरी

कार्य की इकाई:—मेट्रिक (Metric) या वैज्ञानिक प्रणाली में कार्य की इकाई अर्ग (Erg) है जो कि एक डाइन (Dyne) बल द्वारा उसी दिशा में एक सेंटीमीटर स्थानान्तर में होने वाला कार्य है। एक डाइन (Dyne) बल वह बल है जो कि एक ग्राम (Gram) मात्रा में एक सेंटीमीटर प्रति सेकण्ड प्रति सेकण्ड वेग वृद्धि पैदा करदे। व्यावहारिक कार्यों के

लिये अर्ग छोटी होने के कारण इंजीनियर लोग कार्य की तीन और इकाइयों का प्रयोग करते हैं—

(१) जूल (Joule) = 10^7 अर्ग

(२) वॉट-ऑवर (Watt-hour) = 3,600 जूल

(३) किलोवॉट-ऑवर (Kilo-watt-Hour) = 3,600,000 जूल
= 1000 × 3600 जूल याने एक घंटे तक 1000 जूल प्रति सेकण्ड की दर से किया गया कार्य।

किलोवॉट ऑवर बोर्ड ऑफ ट्रेड Board of Trade) द्वारा निश्चित नियमित इकाई है और बोर्ड ऑफ ट्रेड इकाई (B. O. T. Unit) कहलाती है। ब्रिटिश प्रणाली में कार्य की इकाई फुट-पाउन्डल (Foot poundal) है जो एक पाउन्डल (Poundal) बल द्वारा किसी वस्तु को एक फुट दूरी अपनी ही दिशा में लेजाने में होता है। एक पाउन्डल वह बल है जो एक पौंड मात्रा में एक फुट प्रति सेकण्ड वेग वृद्धि उत्पन्न करदे।

गुरुत्वाकर्षण इकाई:—व्यवहारत: अधिकतर कार्य को गुरुत्वाकर्षण इकाई में लिखा जाता हैं। मेट्रिक प्रणाली में एक ग्राम मात्रा वाली वस्तु को पृथ्वी के आकर्षण के बल के विपरीत ऊपर की ओर एक सेंटीमीटर ले जाने में होने वाला कार्य इकाई माना गया है और इसे ग्राम-सेंटीमीटर कहते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश प्रणाली में एक पौंड मात्रा वाली वस्तु को ऊपर की ओर एक फुट ले जाने में होने वाला कार्य एक इकाई माना जाता है जिसको फुट-पाउन्ड (Foot pound) कहते हैं।

1 ग्राम-सेंटीमीटर = 980 अर्ग
1 फुट-पाउन्ड = 32 फुट-पाउन्डल
1 फुट-पाउन्ड = 1·36 जूल

सामर्थ्य (Power) :—किसी वस्तु के काम को करने की रफ्तार (Rate) को उसकी सामर्थ्य कहते हैं। अतएव एक सेकण्ड में किया गया कार्य उसकी सामर्थ्य की माप होती है।

या $\frac{\text{पूर्ण कार्य}}{\text{समय}}$ का अनुपात ही औसत सामर्थ्य है।

सामर्थ्य की इकाई:—मैट्रिक प्रणाली में सामर्थ्य की इकाई एक अर्ग प्रति सेकण्ड है। व्यवहार में यह इकाई छोटी होने के कारण विद्युत इंजीनियरिंग में दो और इकाइयां काम में लाई जाती हैं—

(१) वॉट (Watt)=1 जूल प्रति सेकण्ड = 10^7 अर्ग प्रति सेकण्ड
(२) किलोवॉट (Kilowatt) = 1000 वॉट

इसी प्रकार अंग्रेजी प्रणाली में सामर्थ्य की इकाई प्रति सेकण्ड एक फुट-पाउन्डल कार्य करने की रफ्तार है। सामर्थ्य की व्यावहारिक ब्रिटिश इकाई जिसका प्रयोग इंजीनियर लोग करते हैं, अश्व-बल (Horse-Power) कहलाती है। इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग जेम्स वॉट (भाप के इंजिन के आविष्कर्ता) द्वारा किया गया था। अपने नये आविष्कृत इंजिन और घोड़े की कार्य करने की सामर्थ्य की तुलना करने के लिये उन्होंने एक प्रयोग किया। इस प्रयोग द्वारा पता चला कि औसतन घोड़ा खान में से 220 फुट की गहराई से प्रति मिनट 150 पौंड कोयला घिर्री पर चलती हुई रस्सी द्वारा खींचता है। इस घोड़े द्वारा एक मिनिट में किया गया कार्य इस प्रकार (150 × 220) या 33,000 फुट-पौंड या एक सेकण्ड में 550 फुट-पौंड हुआ। सर जेम्स वॉट ने इसे सामर्थ्य की इकाई माना और यह अश्व-बल (Horse-Power) के नाम से प्रचलित हुई। सामर्थ्य की दूसरी इकाई वॉट का नाम भी जेम्स वॉट के नाम पर ही पड़ा।

१ अश्व-बल (H. P.) = 746 वॉट
और 1 किलोवाट (K. W.) = 1·34 अश्व बल (H. P.)

यह ध्यान देने योग्य बात है कि औसत दर्जे का घोड़ा करीब $\frac{8}{9}$ अश्व-बल के हिसाब से ही कार्य करता है। एक चुस्त आदमी $\frac{1}{7}$ अश्व-बल के हिसाब से औसत कार्य करता है। मोटर गाड़ी के इंजिन का सामर्थ्य 6 से 30 अश्व-बल के बीच होता है और 'जीप' का 20 से 80 अश्व-बल; गैस इंजिन का

सामर्थ्य $\frac{1}{2}$ से 270 और बडे जंगी जहाज का 1,20,000 अश्व-बल (H. P.) तक होता है।

कार्य और सामर्थ्य में अन्तरः—चूंकि सामर्थ्य कार्य करने की रफ्तार है, इसलिये इसमें समय की इकाई का समावेश होता है और कार्य और समय का अनुपात निकाल इसे नापा जाता है, (बशर्ते कि कार्य लगातार हो रहा हो); उदाहरण के लिये—

1 अश्व-बल = 550 फुट-पौंड प्रति से०; 1 वॉट=10^7 अर्ग प्रति से०

इस प्रकार, कार्य = सामर्थ्य × समय

इसलिये वॉट-ऑवर (Watt-hour) या किलोवॉट ऑवर (Kilowatt-Hour) जो 'सामर्थ्य' और 'समय' के गुणनफल हैं कार्य की इकाइयां है।

शक्ति (Energy):—किसी पदार्थ की कार्य करने की क्षमता (Capacity) को शक्ति कहते हैं। किसी वस्तु द्वारा अवस्था (System) विशेष में किया गया कुल कार्य उसकी शक्ति का परिमाण बतलाता है। इसलिये 'शक्ति' और कार्य की इकाइयां एक समान होंगी अर्थात् अर्ग, फुट-पौंड, जूल आदि जो कार्य की इकाइयां हैं वे ही शक्ति की इकाइयां है।

ऊँचाई से गिरता हुआ पानी (जल-प्रपात) डाइनेमो चलाने का कार्य करता है जिससे बिजली पैदा होती है। इसलिये ऊँचाई पर रखे हुए पानी में शक्ति है। इसी प्रकार चाभी दी हुई कमानी घड़ी के कांटों को चलाती है, इसलिये उसमे शक्ति होती है। वायु में शक्ति है, क्योंकि जब वह नाव को ठेलती है तो काम करती है।

शक्ति और सामर्थ्य में अन्तरः—शक्ति से वस्तु द्वारा किये हुए उस कार्य का पता चलता है जो वह उस परिस्थिति में जिसमें वह रखी हुई है, कर सकती है। कितने समय मे वह कार्य हो सकता है, इससे कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु एक सेकण्ड में उसी वस्तु द्वारा किया गया कार्य उसकी सामर्थ्य होती है।

शक्ति के विभिन्न रूप (Different Forms of Energy):—किसी वस्तु की शक्ति कई रूपों में प्रकट हो सकती है। शक्ति के मुख्य रूप इस

प्रकार हैं:—(१) यांत्रिक शक्ति (Mechanical Energy) (२) ताप (H at); (३) प्रकाश (Light); (४) ध्वनि (Sound) (५) विद्युतीय और चुम्बकीय शक्ति (Electrical and Magnetic energies); (६) रासायनिक शक्ति (Chemical Energy)। यांत्रिक शक्ति दो प्रकार की होती है—(१) गतिज शक्ति (Kinetic Energy) और (२) स्थितिज-शक्ति (Potential Energy).

गतिज-शक्ति:—अपनी गति (Motion) के कारण किसी वस्तु में जो शक्ति आ जाती है, वह अपनी गतिज-शक्ति कहलाती है। उदाहरण के लिये राइफिल की गोली में उसके बहुत अधिक वेग के कारण बहुत अधिक गतिज-शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण गोली अपने निशाने (Target) को भेद कर उसमें कुछ अन्दर तक घुस जाती है। इसी प्रकार गिरते हुए पानी से पहिया घुमाया जा सकता है, और यह पहिया, डाइनेमो (Dynamo) या और दूसरी मशीनों को चला सकता है।

स्थितिज-शक्ति:—अपनी स्थिति (Position के कारण वस्तु में जो शक्ति आ जाती है वह उसकी स्थितिज-शक्ति कहलाती है। पृथ्वी से ऊँचे स्थान पर रखे हुए पदार्थों के लिये पृथ्वी की सतह ही बहुधा शून्य स्थिति मानी जाती है। जल विद्युतीय यंत्रों (Hydro-electric plants) में ऊँचे तल के जल में स्थितिज-शक्ति होती है। नीचे की ओर गिरता हुआ पानी टरबाइन के कुँओं ((Pits) में जाकर, उनके पहियों को घुमाता है। इस कार्य में उसकी स्थितिज-शक्ति गतिज-शक्ति के रूप में बदल जाती है। टरबाइन के पहियों की गति से डाइनेमो (Dynamo) चलाया जाता है। इस प्रकार यांत्रिक शक्ति, विद्युत-शक्ति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार तनी हुई कमानी (Stretched Spring) घड़ी या ग्रामोफोन की कुण्डलित कमानी, सम्पीडित वायु आदि में स्थितिज-शक्ति होती है, क्योंकि अपनी साधारण हालत पर वापस आने में इनमें से हर एक कार्य कर सकती है।

शक्ति का रूप परिवर्तन और शक्ति-स्थिरता का सिद्धान्त—(Transformation of Energy and the Principle of Conser-

vation of Energy):—शक्ति केवल ऊपर बतलाये रूपों में ही प्रगट नहीं होती, बल्कि एक रूप से दूसरे रूप में बदल भी सकती है। इस क्रिया को शक्ति-परिवर्तन कहते हैं उदाहरणतः जब किसी वस्तु को कुछ ऊँचाई पर ले जाया जाता है तो वहाँ पर उसकी सारी शक्ति- स्थितिज शक्ति-होती है। जब इसको गिरने देते हैं तो संचित की हुई स्थितिज-शक्ति धीरे धीरे गतिज-शक्ति में बदल जाती है और जब वस्तु धरातल से ठीक टकराने वाली होती है, उस समय उसकी सारी शक्ति-गतिज रूप में होती है। जब यह वस्तु धरातल से टकराती है, तो गतिज-शक्ति ध्वनि और ताप के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार बिजली के लेम्प में विद्युत शक्ति ताप और प्रकाश के रूप में बदल जाती है। बिजली की ट्राम में यह यांत्रिक रूप में बदल जाती है। शक्ति के विभिन्न रूपों में परिवर्तन का विस्तृत अध्ययन हम नीचे करेंगे।

ऊपर बतलाये हुए कतिपय उदाहरण इस व्यापक सिद्धान्त को बतलाते है जो विश्व-शक्ति-स्थिरता का सिद्धान्त कहलाता है और जिसे हम इस प्रकार लिख सकते हैं :—

शक्ति न तो उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट ही की जा सकती है परन्तु एक रूप में दूसरे रूप या अन्य रूपों में बदली जा सकती है। इस प्रकार विश्व में-शक्ति का कुल योग हमेशा एक ही रहता है।

यह सिद्धान्त पदार्थ के अविनाशिता के सिद्धान्त (Principle of Conservation of mass) के समान ही है जिससे हम भली भांति परिचित हैं।

सूर्य सब शक्ति का आदि उद्गम है :—सूर्य ही आखिर सब शक्तियों का उद्गम माना गया है। ताप प्रकाश आदि रूप में सारे-विकिरण से हमें बहुत शक्ति मिलती है। उदाहरणार्थ, भाप के इंजिन को शक्ति कोयले से मिलती है। परन्तु स्वयं कोयला कुछ नहीं है बल्कि लकड़ी है जिस पर हजारों साल पृथ्वी का दबाव पड़ा है। लकड़ी की शक्ति पेड़ और पौधों पर सूर्य की क्रिया के फलस्वरूप है। जब कोयला जलता है, तो जमा की हुई स्थितिज रासायनिक शक्ति ताप और प्रकाश शक्तियों में फिर प्राप्त होती है।

मारती है जिससे पिस्टन स्थान D से खिसक कर स्थान F पर चला जाता है। पिस्टन के सरकने से पिस्टन छड़ भी सरकती है और यह—

चित्र वाष्प इंजिन की कार्य-प्रणाली
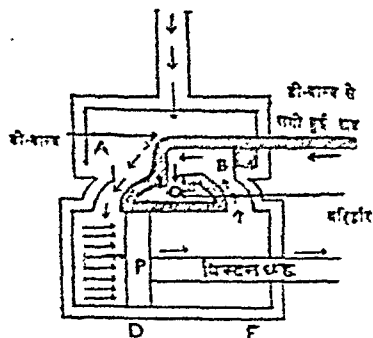
चूंकि शेफ्ट (Shaft) ने होकर पहिये में लगी रहती है, इसकी गति से पहिया कुछ घूमता है। शेफ्ट के घूमने से D-Valve से लगी छड़ भी पिस्टन छड़ की विपरीत दिशा में घूमती है जिससे छिद्र A बंद हो जाता है और छिद्र B खुल जाता है। अब भाप छिद्र B में से हो कर बेलन में प्रवेश है जिससे पिस्टन पर धक्का लगता है और पिस्टन अपने स्थान F से खिसक कर पुराने स्थान D पर चला जाता है। पिस्टन के पीछे की भाप D-वाल्व से होकर बहिर्द्वार (Exhaust Valve) द्वारा बाहर निकल जाती है। पिस्टन के अपने पुराने स्थान पर आने के कारण शेफ्ट गति करता है जिनसे पहिया घूमता है। शेफ्ट की गति से व D-वाल्व से लगी छड़ फिर विपरीत दिशा में सरकती है जिससे D-वाल्व सरक कर छिद्र B को बन्द कर देता है। अब फिर भाप छिद्र A में से बेलन में आती है जिससे पिस्टन सरकता है और फिर वही क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाप की सहायता से पिस्टन आगे पीछे खिसकता है जिससे पहिया घूमता है और इंजिन चलता है।

रासायनिक शक्ति से यान्त्रिक शक्ति :—(Chemical to mechanical energy) :–आधुनिक युग के बढ़िया से बढ़िया वाष्प इंजिन में भी कार्य-क्षमता (Efficiency), जो कि प्राप्त हुई यांत्रिक–शक्ति तथा लगाई गई ताप शक्ति का अनुपात है, 17 प्रतिशत से अधिक नहीं होती। वॉट (Watt) के समय में तो वाष्प इञ्जिनों की कार्य क्षमता केवल 5 प्रतिशत थी। वाष्प-इञ्जिन की ताप–शक्ति का अधिकांश भाग बॉयलर की भट्टी से ही विकीर्ण होकर बाहर चला जाता है, इसीलिये वाष्प–इञ्जिन की कार्य क्षमता का अंक इतना कम

होता है। सादी कार्नाट (Sadi Carnot) (1796-1832) ने सैद्धान्तिक आधारों (Theoritical grounds) पर इस तथ्य को प्रमाणित किया था कि पूर्णतया निर्दोष आदर्श ताप इञ्जिन में भी उसमें व्यय की गयी ताप-शक्ति का केवल एक अंश ही यांत्रिक शक्ति में परिणत हो सकता है। परन्तु अन्तर्दहन इंजिनों की कार्य क्षमता वाष्प-इञ्जिन की कार्य-क्षमता से कहीं अधिक होती है। इनकी कार्य क्षमता लगभग 40 प्रतिशत होती है। ये इञ्जिन दो प्रकार के होते हैं :—

(१) ऑटो इञ्जिन (Otto Engine)

(२) डीजल इञ्जिन (Diesal Engine)

आटो इंजिन :—(Otto Engines):—इस प्रकार का इञ्जिन डॉ, ऑटो द्वारा 1876 में बनाया गया था। इस प्रकार के इंजिनों को एक बार ईंधन देने पर बेलन (Cylinder) का पिस्टन चार बार आगे पीछे सरकता है। इसी लिये इसे 'चार आघात वाला इंजिन' (Four stroke engine) भी कहते हैं। इस इंजिन के बेलन के सिरे पर (चित्र देखो), दो वाल्व V_1 तथा V_2 लगे रहते हैं तथा वहीं एक स्पार्क प्लग (Spark plug) S भी लगा रहता है। वाल्व V_1 तथा V_2 का सम्बन्ध एक घूमते हुए कैम और शेफ्ट (Cam and Shaft) से रहता है जो कि इंजिन द्वारा परिचालित होते हैं इसलिये ये वाल्व ठीक समय पर खुलते और बन्द होते हैं। बेलन के बाहर कार्ब्यूरेटर (Carburetter) में पेट्रोल की भाप अथवा अन्य ज्वलनशील गैस तथा हवा का मिश्रण तैयार होता है और वहां से नली द्वारा प्रवेश वाल्व (Inlet Valve) V_1 के रास्ते बेलन में प्रवेश करता है। V_2 बहिर्वाल्व (Exhaust Valve) है। गैस और हवा का मिश्रण अपना काम कर चुकने के बाद इसी वाल्व के रास्ते बेलन के बाहर निकल जाता है। स्पार्क-प्लग S का काम गैस-वायु के मिश्रण को प्रज्वलित करके उसे विस्फोट कराना है।

अब हम ऑटो इंजिन की चारों गतियों का क्रमशः वर्णन करेंगे :—

(१) प्रवेश आघात :—(Charging stroke)—कल्पना कीजिये कि पिस्टन बेलन के अन्दर अपनी सबसे दूर की स्थिति में है तथा V_1 और V_2 दोनों वाल्व बन्द हैं। इंजिन चालू (Start) कराने पर पिस्टन बाहर की ओर

गति करता है और ठीक इसी समय V_1 खुल जाता है तथा गैस और हवा का मिश्रण वेलन में प्रवेश करता है। पिस्टन की यह पहली गति प्रवेश आघात कहलाती है। जैसा कि चित्र क्रमांक १ में बताया है।
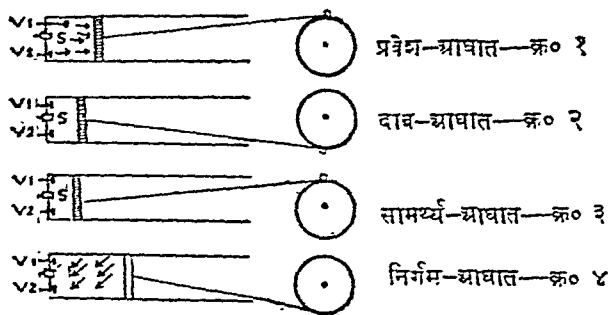
(२) दाब-आघात:—(Compression stroke)—पहली गति के समाप्त होने पर V_1 बन्द हो जाता है और क्रेन्क के घूमने की वजह से पिस्टन वेलन के भीतर आता है। इस क्रिया में वेलन में गैस हवा का मिश्रण दबता है और इसका आयतन पहले की अपेक्षा $\frac{1}{5}$ रह जाता है। मिश्रण का तापक्रम लगभग 600° c हो जाता है। यह दूसरी गति दाब-आघात कहलाती है। जैसा कि चित्र क्रमांक २ में बताया है।

(३) सामार्थ्य-आघात (Power stroke)—दूसरी गति के अंत में स्पार्क प्लग S द्वारा विद्युत-चिनगारी उत्पन्न करके तप्त गैस-हवा मिश्रण को विस्फोट कराते हैं जिससे मिश्रण का तापक्रम 2000° C तक पहुंच जाता है इसलिये इसके अत्यधिक दबाव के बल से पिस्टन तीव्र वेग से बाहर की ओर गति करता है। इस तीसरी गति को सामर्थ्य-आघात कहते हैं क्योंकि इंजिन को वास्तव में पिस्टन की इसी गति से शक्ति मिलती है। जैसा कि चित्र क्रमांक ३ में स्पष्ट है।

(४) निर्गम आघात—(Exhaust stroke)—तीसरी गति के समाप्त होने पर वेलन में गैस-हवा के मिश्रण के विस्फोट से पैदा हुई गैसें बची रह जाती हैं जो इंजन को और अधिक शक्ति देने में असमर्थ होती हैं। अब चौथी गति में जब पिस्टन फिर वेलन के अन्दर की ओर जाता है तब वाल्व V_2 खुल जाता है

और ये गैसें V_2 के रास्ते बाहर निकल जाती हैं। इसी कारण इस चौथी गति को निर्गम-आघात कहते हैं। जैसा कि चित्र क्रमांक ४ में स्पष्ट है।

अब पुनः क्रम से इन्हीं चार गतियों के चक्र (Cycle) की पुनरावृत्ति होती रहती है। हर चक्र में गैस तथा हवा के मिश्रण की नयी मात्रा एक बार-बेलन में प्रवेश करती है। इस प्रकार पिस्टन के वेग से आगे पीछे सरकने से पहिये घूमते हैं और इंजन कार्य करता है।

डीज़ल इंजिन (Diesel Engine) :—इस प्रकार के इंजिन में पेट्रोल की जगह सस्ते खनिज तेल (Crude Oil) को काम में लाते हैं। इस इंजिन का आविष्कार जर्मनी के इंजीनियर रुडोल्फ डिज़ल (Rudolf Diesel) ने सन् 1872 में किया था। इसका कार्य भी चार गतियों से होता है। डीजल-इंजिन पनडुब्बी (Submarines) व कुछ व्यापारी जहाजों में लगाये जाते हैं। अब मोटर-बसों में भी इनका प्रयोग होने लगा है।

रासायनिक-शक्ति से विद्युत्-शक्ति (Conversion of Chemical Energy into Electrical Energy):—जब किसी रासायनिक यौगिक के घोल में हम दो धातुओं की छड़ों को रख कर उन्हें तार द्वारा जोड़ देते हैं तो उस घोल में तथा छड़ों की धातुओं में रासायनिक क्रिया प्रारम्भ होती है जिसके फलस्वरूप उस तार में विद्युत धारा बहने लगती है। दोनों छड़ों में से एक ऊंचे विभव (High potential) पर होती है तथा दूसरी नीचे विभव पर। विद्युत हमेशा ऊंचे विभव से नीचे विभव की ओर बहती है। साधारण सेल (Cell) का निर्माण सबसे पहले सन् 1791 में इटली निवासी वैज्ञानिक वोल्टा-(Volta) ने किया था। साधारण सेल के निर्माण के लिये कांच के एक-बर्तन में गन्धक के अम्ल का हल्का घोल (Dilute Sulphuric acid) लेते हैं और इसमें दो प्लेटें एक तांबे की तथा दूसरी जस्ते की खड़ी की जाती है। घोल के बाहर तार द्वारा दोनों प्लेटों को जोड़ने पर तार में से विद्युत्-धारा तांबे से जस्ते की ओर प्रवाहित होती है, जिससे एक छोटा विद्युत बल्ब जलाया जा सकता

है। इस सेल में तांबे की प्लेट धन-प्लेट कहलाती है और जस्ते की प्लेट ऋण-प्लेट कहलाती है साधारण सेल के अतिरिक्त और भी कई तरह की सेल होती हैं जिनमें से एक सूखे सेल (Dry coll) से हम सभी परिचित हैं जो टॉर्च जलाने के काम आती है।
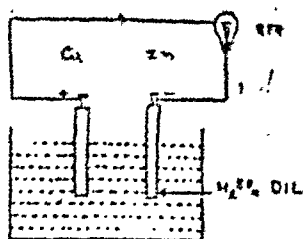
कुछ सेल ऐसे होते हैं जिनमें हम विद्युत शक्ति डाल कर उसे रासायनिक शक्ति के रूप में संचित करते हैं और फिर वही शक्ति विद्युत-शक्ति के रूप में प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे सेल को द्वैतीयिक (Secondary) या संचायक अथवा ग्राही सेल (Storage Cell or Accumulator) भी कहते हैं।

सीसे का ग्राही सेल (Lead Accumul.tor):—कांच के एक बर्तन में नीचे दिये गये चित्र के अनुसार गन्धक के अम्ल का हल्का घोल रख कर उसमें सीसे (Pb) की दो प्लेटें A और B लेड सल्फेट से आवृत्त-करके डाल देते हैं। एक उपयुक्त विद्युत् उद्‌गम S से विद्युत् धारा प्रवाहित कराते हैं ताकि प्लेट A धन द्वार (Anode) हो और B प्लेट ऋण द्वार (Cathode) गन्धक के अम्ल के विद्युद्विच्छेदन के फलस्वरूप प्लेट A पर ऑक्सीजन आयेगी और B पर हाइड्रोजन। बाहर से विद्युत् धारा जब इसमें प्रवाहित की जाती है तो इस क्रिया को चार्ज करना (Charging) कहते हैं। इस क्रिया से धन प्लेट पर स्थित लेड सल्फेट ($PbSO_4$) पर आक्सीजन की क्रिया होती है और वह लेड ऑक्साइड में बदल जाता है।

$$Pb\,SO_4 + O + H_2O = Pb\,O_2 + H_2\,SO_4$$
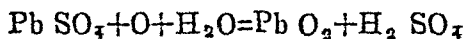
ऋणप्लेट पर हाइड्रोजन क्रिया करके लेड सल्फेट को सीसे (Pb) में बदल देती है।

$$Pb\,SO_4 + H_2 = H_2\,SO_4 + Pb.$$
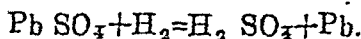
कुछ समय तक चार्ज करने की यह क्रिया जारी रहती है। फिर कुंजी K_1 को खोल कर विद्युत्-उद्‌गम से सर्किट तोड़ देते हैं। कुंजी K_2 को अब

बन्द करने पर हम देखेंगे कि यद्यपि इस सर्किट में कोई सेल नहीं है फिर भी इसमें विद्युत् धारा बर्तन से बाहर प्लेट A से प्लेट B तक प्रवाहित होती है और वोल्ट-मापक यंत्र V में प्रारम्भ में २ वोल्ट अंकित होता है तथा यह विभवान्तर धीरे २ कम होता जाता है यहाँ तक कि कुछ समय बाद धारा एक दम बन्द हो जाती है और वोल्ट मापक में विभवांतर शून्य हो जाता है। स्पष्ट है कि इस क्रिया में जिसे डिस्चार्ज होने की क्रिया (Discharging) कहते हैं, बर्तन में चार्ज की क्रिया के समय की विपरीत दिशा में धारा प्रवाहित होती है; इसलिये अब प्लेट A पर हाइड्रोजन निकलती है जो इसकी लेड आक्साइड ($Pb\ O_2$) को रासायनिक क्रिया करके गन्धकाम्ल की सहायता से सीसे के सल्फेट ($Pb\ SO_4$) में बदल देती है तथा प्लेट B पर आक्सीजन पहुँच कर उसे भी गन्धकाम्ल की सहायता से लेड सल्फेट ($Pb\ SO_4$) में बदल देती है।

धन प्लेट पर $Pb\ O_2+H_2\ SO_4+H_2=Pb\ SO_4+2H_2O.$

ऋण प्लेट पर $Pb_2+H_2\ SO_4+O=Pb\ SO_4+H_2O.$

चूंकि अब दोनों प्लेटें एक ही दशा में आजाती हैं इसीलिये इनके बीच कोई विभवान्तर नहीं रहता और इसी कारण उन्हें तार से जोड़ने पर सर्किट में विद्युत् अब नहीं बहती है।

अब यदि चार्जिंग की क्रिया पुनः दुहराई जावे तो एक बार फिर A प्लेट पर सीसे की आक्साइड ($Pb\ O_2$) बन जाती है और प्लेट B पुनः सीसा बन जाती है। अब इस उपकरण से पहले की तरह फिर विद्युत धारा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राही सेल में हम विद्युत्-शक्ति (Electrical energy) डालकर (चार्जिंग के समय) उसे रासायनिक शक्ति (Chemical energy) के रूप में संचित करते हैं और फिर वही शक्ति विद्युत्-धारा की शक्ति (Electrical energy) के रूप में प्राप्त होजाती है।
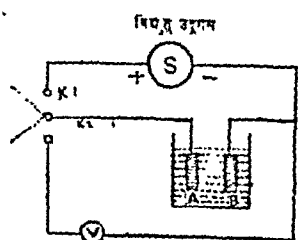
ये भ्राही सेल मोटर कारों और सवारी रेलगाड़ियों तथा मोटर-इंजन को चालू करते समय स्पार्क (Spark) पैदा करने के लिये काम में लाई जाती है। वायुयानों में भी ये काम में आते हैं।

विद्युत-विश्लेपण (Electrolysis.) :—केवल पारे को छोड़ कर लगभग अन्य सब द्रव, अपनी शुद्ध अवस्था और साधारण ताप क्रम पर विद्युत् के लिये कुचालक होते हैं। इन द्रवों में जब किसी प्रकार का धातवीय लवण (Metallic salt) या तेजाब (Acid) घोल देते हैं, तो इनकी विद्युत-चालकता बढ़ जाती है और वे अपने अवयवों में विभक्त हो जाते हैं। इस क्रिया को विद्युत्-विश्लेपण कहते हैं। इसका सबसे सरल उदाहरण पानी का विद्युत्-विश्लेपण है। जब एक कांच के बर्तन में कुछ पानी भर कर उसमें कुछ बूंदें गन्धक या नमक के तेजाब को डाल देते हैं तो उसके अवयव-ओक्सीजन और हाइड्रोजन-अलग २ हो जाते हैं। इनमें से एक अवयव धन विद्युत् द्वार या धनोद-(Positive electrode or anode) पर तथा दूसरा ऋण-विद्युत-द्वार या ऋणोद (Negative electrode or cathode) पर जमा हो जाता है।

विद्युत्-विश्लेपण के व्यावहारिक उपयोग :—विद्युत्-विश्लेपण के कई व्यावहारिक उपयोग हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

(१) विद्युत्-कलई या मुलम्मा करना (Electro-plating) इस-क्रिया में एक धातु की परत दूसरी धातु पर चढ़ाई जाती है। जैसे सोने की परत चांदी पर या चांदी की परत तांबे पर। उदाहरण के लिये यदि तांबे पर चांदी चढ़ाना हो तो कांच के एक बर्तन में पोटेशियम सायनाइड और सिल्वर नाइट्रेट या सिल्वर-सायनाइड का घोल लिया जाता है। इस बर्तन में जिसे वोल्टामीटर (Voltameter) कहते हैं उस तांबे की वस्तु को तथा चांदी की एक छड़ को धातु के तारों द्वारा लटका दिया जाता है। चांदी की छड़ को किसी विद्युत-सेल के धन द्वार से तथा तांबे की वस्तु को ऋण सेल द्वार से जोड़ देते हैं जिससे विद्युत्-धारा-प्रवाहित होने पर शुद्ध चांदी की परत उस तांबे की वस्तु पर चढ़ती जाती है।

इसी प्रकार गिलट (निकल Nickel) का मुलम्मा चढ़ाने के लिये अमोनियम-सल्फेट में-निकल-सल्फेट का घोल लेते हैं। निकल की छड़ धनोद बनती है और जिस पर मुलम्मा चढ़ाना है उसे ऋणोद बनाते हैं।
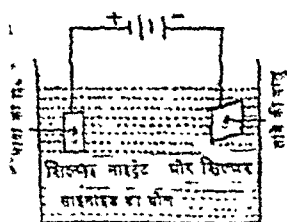
सोने की परत चढ़ाने (Electro-guilding) के लिये प्रायः पोटैशियम साइनाइड में गोल्ड साइनाइड का घोल प्रयोग करके ऋणोद पर सोना रोपित किया जाता है।

जस्तेदार लोहा (Galvanized Iron):—जंग लगने से बचाने के लिये लोहे की चद्दरों में विद्युत् विश्लेषण विधि से जस्ते (Zinc) का मुलम्मा चढ़ाया जाता है।

(२) शुद्ध धातुओं का उत्पादन (Production of pure metals):—तांबा, चांदी, सोना आदि जैसी धातुओं को शुद्ध करने के लिये विद्युत्-विश्लेषण-विधि का प्रयोग किया जाता है। एल्यूमीनियम (Aluminium) की चीजों का सस्तापन परिष्करण की विद्युतीय विधि (Electrolytic Process of Refining) के कारण हैं।

(३) वैद्युतिक मुद्रण (Electro-typing):—साधारण ब्लाक अधिक बार छपने पर घिस जाता है इसलिये जिन पुस्तकों या ब्लाक की ठीक-ठीक प्रतिलिपि काफी संख्या में उतारनी होती है उनको वैद्युतिक-विधि से छापा जाता है।

विद्युत-शक्ति का ताप और प्रकाश में रूपान्तर (Transformation of Electric energy into Heat and Light.) जब हम धातु के किसी पतले तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित करते हैं तो वह तार गर्म हो जाता है। जूल (Joule) ने विद्युत् के ताप उत्पन्न करने वाले इस प्रभाव का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया और प्रयोग द्वारा निम्नलिखित तीन नियमों को मालूम किया जो कि साधारणतया जूल के नियम (Joule's laws) कहते हैं:—

(i) उत्पन्न हुआ ताप, विद्युत् धारा की प्रबलता के वर्ग का समानुपाती है।

(ii) उत्पन्न हुआ ताप, प्रतिरोध (Resistance) का समानुपाती है।

(iii) उत्पन्न हुआ ताप, उस समय का समानुपाती है जिस के लिये धारा बहती है।

अतएव यदि H, I, r· t क्रमशः, उत्पन्न हुआ ताप, धारा, प्रतिरोध और समय बतलावें तो $H \propto I^2 r t$

या $H=KI^2 r t$ जहाँ K एक अचलांक (Constant) है। इस कारण, धातु का तार जितनी अधिक रुकावट डालेगा उतनी ही अधिक विद्युत् शक्ति तापशक्ति में परिवर्तित होगी। तार उसी समय अधिक प्रतिरोध कर सकता है जब की वह अधिक पतला तथा लम्बा होगा; ऐसा तार अधिक गर्म भी होगा। इसी सिद्धान्त पर हमारे दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाली बहुत सी वस्तुएँ बनी हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित है :—

(१) विद्युत सिगड़ी, विद्युत लोहा तथा विद्युत-विकीरक (Electric Stove, Electric Iron and Electric Radiator):—इन उपकरणों में निकल-क्रोमियम-धातु-मिश्रण (Nickel Chromium alloy) (या निक्रोम Nichrome) के बहुत से पतले तथा लम्बे कुण्डल (Coils) होते हैं जो विद्युत् के अधिक प्रतिरोधक हैं। विद्युत् प्रवाह होने पर ये गर्म हो जाते हैं और यह ताप इच्छानुसार उपयोग में लिया जा सकता है। विकीरक (Radiators) में ये कुन्डल इस प्रकार लगे होते हैं कि गर्म होने पर ये अपनी गर्मी विकीरित कर देते हैं जिससे वातावरण गर्म रहता है। इसी सिद्धान्त पर बनी विद्युत भट्टी (Electric fur nace) बिस्कुट बनाने वाले कारखानों में प्रयुक्त होती है।

(२) विद्युत द्वारा कलाई (Electric-Welding or Soldering) धातुओं को पिघलाने और उनकी कलाई के लिये भी विद्युत् शक्ति का उपयोग किया जाता है।

(३) फ्यूज़ तार (Fuse Wire) :—यह एक ऐसे पदार्थ का बना हुआ होता है—सीसे और टिन की मिश्र धातु का—जिसका द्रवणांक (Melting-Point) बहुत कम होता है और यह परिपथ (Circuit) में श्रेणी-बद्ध (In Series) होता है। अगर परिपथ में अचानक बहुत ज्यदा धारा प्रवाहित हो जाय, तो अधिक ताप तार को गला देता है और इस तरह परिपथ टूट जाता है, जिससे परिपथ में शामिल लैम्प या दूसरे विद्युतीय-यंत्र बरबाद होने से बच जाते है।

(४) वैद्युतिक आर्क (Electric Arc) :—यह एक ऐसा उपकरण है जिसमें विद्युत-शक्ति ताप और प्रकाश में बदलती है। इसमें कारबन की दो छड़ें होती हैं जो कि एक दूसरे से लगभग $\frac{1}{4}$ इन्च दूर होती हैं। इन दोनों छड़ों को किसी बैटरी (Battery) अथवा डायनेमो (Dynamo) के दोनों पेचों से जोड़ देते हैं जिनसे उनमें विभवान्तर लगभग 40 वोल्ट का हो जावे। अब यदि दोनों छड़ों को मिलाकर एक दूसरे से अलग करें तो हम देखते हैं कि छड़ों के बीच में एक बहुत तीव्र तथा चमकदार स्फुलिंग (Spark) पैदा हो जाता है। सिरों पर उत्पादित ताप से उस स्थान पर कार्बन गैस बनने लगता है। कार्बन के यह कण, दोनों सिरों के बीच वाले स्थान पर फैल कर परिपथ को टूटने नही देते। आर्क का तापक्रम लगभग 2000° C से 4000° C के बीच रहता है। स्वयम् नियंत्रित आर्क में इसकी लम्बाई आप से आप ठीक रहती है। आर्क में विद्युत-शक्ति का 10% भाग प्रकाश में बदल जाता है जब कि साधारण लेम्पों में शक्ति का केवल 5 % भाग प्रकाश में बदलता है इस कारण आर्क लेम्पों का उपयोग काफी सस्ता पड़ता है।
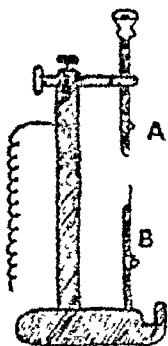
चित्र विद्युत आर्क.

कई धातु जैसे कि तांबा, लोहा इत्यादि, कार्बन-आर्क में पिघल जाती हैं। यही कारण है कि विद्युत-विधि से धातुओं के टुकड़ों को जोड़ने के लिये कार्बन-का ही उपयोग किया जाता है। सर्च-लाइट प्रकाश गृह 'सिनेमा प्रोजेक्टर' विद्युत्-भट्टी इत्यादि में कार्बन-आर्क का व्यावहारिक उपयोग होता है। सड़कों व गलियों में प्रकाश के लिये कभी-कभी आर्क-लेम्प लगाये जाते हैं।

(५) शल्य क्रिया में उपयोग (Uses in Surgery) :—कभी कभी घाव तथा चोट आदि को सेकने में विद्युत जनित ताप का प्रयोग किया जाता है।

(६) ताप-वैद्युतिक निःसरण (Thermo-Electric Emmission) प्रायः सभी धातुओं को जब गर्म करते हैं तो उनकी सतह पर विद्युताणु (Electron) बाहर निकलने लगते हैं। इस तथ्य का, 'बेतार के तार' और एक्स-किरणों की नलियों को बनाने में किया जाता है।

(७) बिजली के लेम्प (Electric Glow Lamps):—सबसे पहले

हम्फ्री डेवी (Humphrey Davy) ने 1810 ई० में कार्बन-आर्क के साथ एक बड़ी बेटरी लगाकर तीव्र प्रकाश उत्पन्न करने का प्रयास किया। 1840 ई० में ग्रोव और मालिस ने प्लेटिनम का काफी बारीक तार बनाकर उसमें विद्युत धारा प्रवाहित की परन्तु फिलामेंट का तार वायुमंडल की ओक्सीजन से प्रभावित होकर कुछ समय बाद, जल्दी ही टूट गया। स्टार और किंग ने 1854 ई० में सर्वप्रथम सुझाया कि लेम्प के दीर्घ-जीवन के लिये बल्ब के भीतर की हवा को बाहर निकाल लेना चाहिये। कार्बन फिलामेन्ट वाले बल्ब का सर्वप्रथम सफल निर्माण अमेरिका में एडीसन और इंगलेंड में स्वान नामक वैज्ञानिकों द्वारा हुआ।

आजकल बिजली की बत्तियों के फिलामेन्ट टेन्टेलम (Tantalum) और टंगस्टन (Tungsten) नामक धातुओं के बारीक तार से बनाये जाते हैं क्योंकि इन दोनों ही धातुओं का द्रवणांक (Melting Point) काफी अधिक होता है—लगभग 3000° C. साथ ही इन धातुओं को सुगमता से तोड़ा-मरोड़ा और काफी पतले तार के रूप में लाया जा सकता है। हवा से शून्य बल्बों में 2 00° C. से ऊपर इन धातुओं का, क्षीण होकर अलग-अलग होना आरम्भ हो जाता है, और ये धातु के कण टूट टूट कर लेम्प की कांच वाली दीवारों पर जमने लगते हैं जिससे लेम्प का कांच धुंधला जाता है और उससे बाहर निकलने वाले प्रकाश की तीव्रता भी घटने लगती है। इस दोष को बल्ब के भीतर कोई निष्क्रिय (Inert) गैस जैसे ऑरगन को भर दूर किया जा सकता है। संचालन द्वारा होने वाले ताप-क्षय को, फिलामेंट को वेष्ठन के रूप में बना कर दूर कर सकते हैं। इस प्रकार के लेम्प का आविष्कार 1913 ई० में अमेरिका के वैज्ञानिक प्रो० लेंगमूर ने किया। आधुनिक लैम्पों में उनके वेष्टन वाले फिलामेन्ट को फिर से घुमा फिराकर वेष्टनाकार लपेट कर, से उनकी दक्षता बढ़ा ली गई है। इस प्रकार काफी लम्बा फिलामेंट, बहुत होथोड़े स्थान में, और सुरक्षा से रखा जा सकता है। ऐसे लेम्प "कुंडलित कुंडल लेम्प" (Coiled Coil Lamp) कहलाते हैं। बाजार में पाये जाने वाले गैस-भरे लैम्प (जिन्हें आधवॉट लेम्प (Half Watt Lamp भी कहते हैं) रोशनी कम कीमत और टिकाऊ होने के नाते संतोषजनक हैं। ऐसे लेम्पों में बहुधा नाइट्रोजन भरी होती है और दिये हुए वोल्टेज पर प्रति दीप-शक्ति C. C. P. 0.5 वॉट (यानी आध-वॉट) बिजली खर्च होती

है। आँरगन (Argon) से भरे हुए लेम्प नीली-सी रोशनी देते हैं जो आंखों को सुखद मालूम पड़ती हैं।
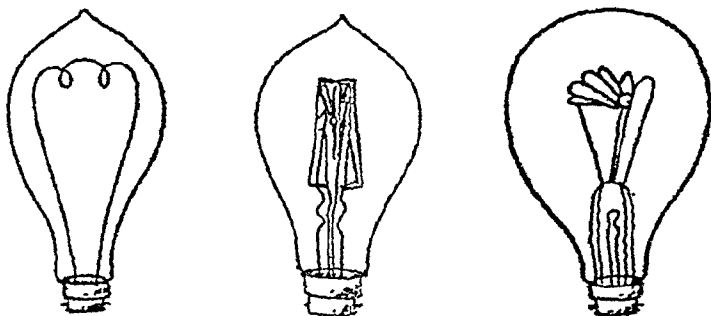
Carbon Filament Vacuum Lamp

Vacuum Lamp Metal Filament

Gas filled Metal Filament

विद्युत शक्ति से चुम्बक शक्ति (Electrical Energy into Magnetic Energy):—विद्युत-चुम्बक (Electro magnet) इसका प्रमुख उदाहरण है। यदि तार के कुन्तल (Spiral) के अन्दर एक नरम
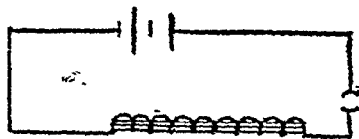
लोहे की छड़ रख दी जाय और इस कुन्तल में से विद्युत् धारा प्रवाहित की जाय, तो छड़ एक चुम्बक बन जाती है। धारा बन्द कर देने से नरम लोहे की छड़ अपना चुम्बकत्व खो देती है। अगर लोहे की छड़ घोड़े के नाल की शक्ल में हो, तो यह घुड़-नाल विद्युत्-चुम्बक (Horse-Shoe Electrmacgnet) कहलाता है।

विद्युत्-चुम्बकों के कई प्रयोग होते हैं बिजली की घंटी, टेलीफोन, लाउड-स्पीकर टेलीग्राफ, उपपादन वेष्ठनें (Induction-Coils) व ट्रांसफार्मर (Transformer) इत्यादि सभी इन्हीं की सहायता
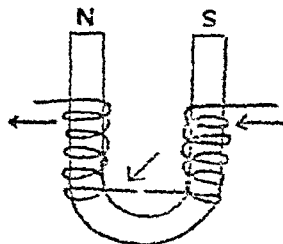
से कार्य करते हैं। विद्युत-मोटर और डायनेमो (Dynamo) जैसे यन्त्रों में आवश्यक तीव्र चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करने के लिये भी इनका प्रयोग होता है। विद्युत-चुम्बकों का उपयोग स्थायी चुम्बक बनाने में भी होता है। लोहे की मीलों में कच्चे लोहे के बड़े-बड़े ढेर जिनका भार कई टनों में होता है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक बड़े-बड़े विद्युत-चुम्बकों द्वारा ही ट्रॉलियों में भर कर ले जाये जाते हैं। बन्दूक की गोली के अंश जो शरीर के अन्दर घुस जाते हैं, कभी-कभी ऑपरेशन के समय विद्युद्-चुम्बकों द्वारा ही बाहर निकाले जाते हैं। भिन्न-भिन्न कामों के लिये विद्युत-चुम्बक बनावट और रूप रेखा में बहुत ज्यादा भिन्न हो सकते हैं; परन्तु सिद्धान्त सबका एकसा ही है।

चुम्बकीय-शक्ति से विद्युत-शक्ति (Magnetic Energy into Electrical Energy)—सन् 1831 में ब्रिटिश वैज्ञानिक फैराडे (Faraday) ने यह बताया कि यदि किसी चालक (Conductor) के निकट चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic Field) में परिवर्तन होता है तो उस चालक में विद्युत-धारा बहने लगती है। चित्र में एक तार के कुण्डल के दोनों सिरे एक विद्युत-धारा मापक यंत्र में जुड़े हुए हैं। इस कुण्डल में जब एक चुम्बक का उत्तरी ध्रुव वाला सिरा प्रविष्ट किया जाता है तो विद्युत्-धारा मापक यंत्र G की सुई घूमती है जिससे यह प्रकट होता है कि चुम्बक के कारण उस कुण्डल में विद्युत्-धारा बहने लग गई है।
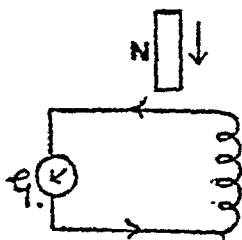
यांत्रिक-शक्ति का विद्युत-शक्ति में रूपान्तर (Conversion of Mechanical Energy into Electrical Energy)—उस यंत्र को जो यांत्रिक शक्ति को विद्युत शक्ति में परिवर्तित कर देता है, डायनेमो (Dynamo) कहते हैं। यदि एक बन्द कुण्डल (Closed Coil) एक चुम्बकीय क्षेत्र में इस प्रकार परिभ्रमण करे कि उसमें से जाती हुई चुम्बकीय रेखाओं की संख्या बदले, तो कुण्डल में विद्युत्-धारा बहने लगती है और उपपादित विद्युत् वाहक-बल (Induced electromotive force) उत्पन्न

हो जाता है। उपपादित विद्युत्-वाहक-बल तार के घुमावों की संख्या, चुम्बक की ताकत और कुण्डल के परिभ्रमण की दर पर निर्भर होता है।

मानलो, ABCD तार का एक कुण्डल, ताकतवर स्थायी चुम्बक या विद्युत्-चुम्बक के ध्रुव N और S के बीच घूम रहा है। मान लो कुण्डल को
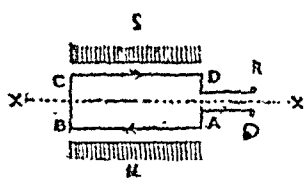
क्षैतिज स्थिति से दायी ओर घुमाया जाता है। यदि AB ऊपर उठता है और CD नीचे जाता है तो उपपादित धारा की दिशा चित्र में बतलाये गये अनुसार होगी। अब दूसरी आधी परिक्रमा पर कुण्डल फिर क्षैतिज हो जाता है। उस समय DC वह जगह ले लेता है जिस जगह पहले AB था इसलिये CD ऊपर जाने लगता है और AB नीचे। इसलिये अब विद्युत् धारा पहले की विपरीत दिशायें यानी DCBA दिशा में बहने लगती है। इससे मालूम होता है कि एक पूरे चक्कर के लिये उपपादित धारा की दिशा में हर आधे परिभ्रमण में परिवर्तन होता है। धारा की ताकत लगातार शून्य मान से अधिकांश तक बढ़ती है और फिर
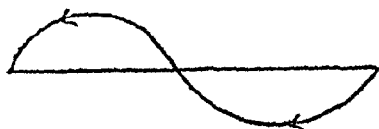
धीरे-धीरे शून्य मान पर पहुँच जाती है। इसके बाद धारा की दिशा पलट जाती है। दूसरे आधे परिभ्रमण में धारा अपने अधिकांश ऋण मान पर पहुँच कर फिर शून्य हो जाती है। धारा में इस क्रम के पूर्ण परिवर्तन को एक चक्र (Cycle) कहते हैं और एक सेकण्ड में पूर्ण चक्रों की संख्या-धारा आवृत्ति (Frequencey) कहलाती है। साधारणतया जो विद्युत-धारा हमको घर के काम-काज के लिये मिलती है उसका औसत विद्युत-वाहक बल २२० वोल्ट होता है और आवृत्ति पचास चक्र सेकण्ड होती है। इस प्रकार उत्पन्न धारा प्रत्यावर्तक धारा [Alternating Current (A. C.)] कहलाती है और ऐसा यंत्र प्रत्यवर्त्तक डायनेमो (A. C. Dynamo) कहलाता है। प्रत्यावर्त्तक धारा को प्रकाश करने या ताप देने के काम में लाया जा सकता है पर विद्युत-विश्लेपण (Electrolysis) या ग्राही सेलों (Accu-

mulators) को आवेशित (Charge) करने के लिये यह उपयुक्त नहीं है।

हिस्से (Parts) :—(१) परिभ्रमण करने वाला कुण्डल आरमेचर (Armature) कहलाता है और डायनेमो में, जो ताकतवर विद्युत्-चुम्बक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करता है, वह (२) क्षेत्र-चुम्बक (Field-Magnet) कहलाता है। आरमेचर में तार के कई घुमाव होते हैं। उसे क्षैतिज अक्ष पर

घुमाने के भाप-इंजन, तेल-इंजन, भाप टरबाइन आदि जैसा कोई प्रधान चालक काम में आता है।
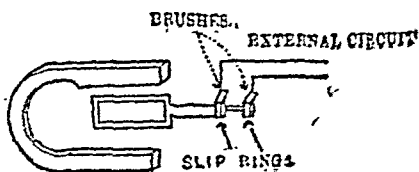
आरमेचर और क्षेत्र-चुम्बक के अतिरिक्त निम्नलिखित हिस्से भी आवश्यक हैं—

(३) स्खलन-छल्ले (Slip-rings) धातु के दो छल्ले ऐसे होते हैं जैसा कि नीचे चित्र में बताया है—जिसमें आरमेचर के दो सिरे जुड़े रहते हैं। परन्तु उससे विसंवाहित (Insulated) होते हैं और वे आरमेचर के साथ घूमते हैं।

(४) ब्रुश (Brushes) :—ये कार्बन छड़ों के बने होते हैं और कमानियों के जरिये स्खलन-छल्लों पर हल्का दबाव देकर रखे जाते हैं और बाह्य परिपथ से जुड़े रहते हैं।

कुण्डल के घूमने से जो विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है, वह स्खलन-छल्लों पर लगे हुए ब्रुश पर इकट्ठी होती है और बाह्य परिपथ में ले जाई जाती है।

समदिशा धारा डायनेमो (D. C. Dynamo) विद्युत्-धाराओं का व्यावसायिक उत्पादन विशेषतः प्रत्यावर्त्तक धारा के रूप में होता है परन्तु

इस धारा को परिवर्त्तक (Commutator) नामक एक खास उपाय से जो कि स्खलन छल्लों की बजाय आरमेचर के दोनों सिरों से जुड़ा रहता है, बाह्य परिपथ में एक ही दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। इस तरह समदिशा धारा डायनेमो बन जाता है।

विकिरण शक्ति से विद्युत् शक्ति (Radiant Energy into Electricel Fnergy)—कुछ वस्तुओं से, खासकर धातुओं से, जब उन पर विकिरण शक्ति गामा-किरणों (Y-rays), क्ष-किरणों (X-rays), परा-बैंजनी किरणों (Ultra violet rays) और दृश्य-प्रकाश (Visible light) के रूप से भी पड़ती है, तो उनमें से विद्युताणु (Electrons) निकलने लगते है। इस घटना को फोटो-इलेक्ट्रिक-घटना (Photo electricity) कहते हैं। सर्वप्रथम स्मिथ (W. Smith) नामक एक टेलीग्राफ-ऑपरेटर ने सन् 1873 में सिलिनियम प्रतिरोधकों (Selenium resistors) से कार्य करते हुए यह देखा कि जब इन पर सूर्य की किरणें पड़ी तो परिपथ में विद्युत्-धारा में काफी परिवर्तन हुआ बाद में हर्ट्ज (Hertz) ने भी 1887 मे ऐसी ही घटना देखी। वे यंत्र जो इस घटना पर आधारित हैं फोटो-इलेक्ट्रिक सेल या विद्युतीय नेत्र या जादुई आंख (Photo electric Cell or Eeletric eye or Magic eye) कहलाते हैं। देखने का कार्य (Act of Seeing) भी फोटो-इलेक्ट्रिक घटना का सरल उदाहरण प्रतीत होता है क्योंकि जब आँख पर प्रकाश गिरता है तो रेटिना पर कुछ वैद्युतिक परिवर्तन (Electrcial Changes) होना पाया गया है।

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल :—ये आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं परन्तु सिद्धान्त सबका एक ही हैं। प्रयोग द्वारा यह मालूम हुआ कि अल्कली धातुओं (सोडियम, पोटेशियम, रूबिडियम, सीज़ियम) से साधारण दृश्य-प्रकाश (Ordinary Visible light) के गिरने पर भी विद्युताणु निकलने लगते हैं। अतएव जिन सेलों में इन धातुओं का उपयोग किया जाता है उन्हें अल्कली-धातु-सेल (Alkali Metal Cells) भी कहते हैं।

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल में कांच का या क्वार्ट्ज़ का बल्ब (Glass or quartz bulb) होता है जिसकी भीतरी सतह पर सोडियम या पोटेशियम

धातु की एक परत चढ़ी होती है। यह परत एक तार द्वारा एक बैटरी के ऋण ध्रुव से जुड़ी रहती है। बैटरी के धनध्रुव का सम्बन्ध धातु की एक छड़ C से होता है। इसलिये प्रकाश
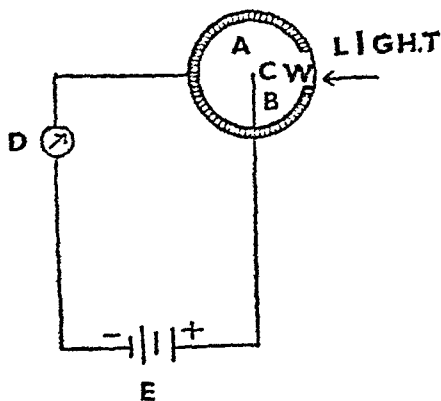
जब द्वार W के द्वारा धातु की परत A B पर गिरता है तो उसमें से विद्युताणु (Electron) निकलने लगते हैं और धनात्मक छड़ C की ओर आकर्षित होते हैं जिससे धातु की छड़ C और परत A B के बीच विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। इसके फल-स्वरूप पूरे परिपथ CB-EDA में विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगती है जिससे विद्युत-धारा-मापक यंत्र D की सूई घूमने लगती है। यह सेल उसी समय कार्य कर सकती है जब कि प्रकाश धातु की परत पर गिरे। जब प्रकाश बन्द हो जाता है तो परिपथ (Circuit) टूट जाता है और विद्युत-धारा का प्रवाह बन्द हो जाता है।

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल के उपयोग (Uses of the Photo-electric Cell):—आजकल जीवन के हर क्षेत्र में फोटो-इलेक्ट्रिक सेल का उपयोग होने लगा है। ज्योति भौतिक विज्ञान (Astro-physics) की घटनाओं. जैसे तारों के तापक्रम (Temperature) के और नक्षत्रीय वर्ण-पट के अध्ययन में; भट्टियों (Furnaces) के तापक्रमों और रासायनिक प्रक्रियाओं के सही नियन्त्रण में; दीप्तिमापन (Photometry) आदि विभिन्न शाखाओं में, अच्छे परिणामों के लिये इनका उपयोग किया जाता है। व्यावहारिक जीवन में, विद्युत-चालित यंत्रों से कार्य करते समय उत्पन्न खतरे से और चोर, आग आदि के भय से बचाव के लिये; सड़क की रोशनी के अपने आप नियन्त्रण (Automatic Control) के लिये, रेलगाड़ियों और मोटर कारों की चालों को अपने आप नियन्त्रित करने के लिये तथा मशीन द्वारा

वस्तुओं की या किसी स्थान पर दर्शकों की गणना के लिये आजकल इनका उपयोग किया जाता है। इनकी सहायता से दरवाजों का स्वयं खुलना और बन्द होना भी नियंत्रित किया जाता है इसके अतिरिक्त चलचित्रों में ध्वनि उत्पादन के लिये भी इनका प्रयोग होता है। फोटो-टेलिग्राफी (Photo-telegraphy) या बहुत कम समय में बहुत दूर स्थानों पर चित्र आदि भेजने में इनका उपयोग किया जाता है जिसके फल-स्वरूप हर देश के समाचार पत्रों में विशिष्ट व्यक्तियों के चित्र और विभिन्न घटनाओं के समाचारों का कुछ ही मिनटों में प्रकाशित किया जाना सम्भव हो गया है। टेलीविज़न (Tele-vision) के आविष्कार की सफलता के मूल कारण भी फोटो-इलेक्ट्रिक सेल ही हैं।

ध्वनि-शक्ति से विद्युत-शक्ति (Sound energy into Electrical Energy) :—आधुनिक चलचित्रों का निर्माण इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि हम ध्वनि-शक्ति को विद्युत्-शक्ति में परिवर्तित कर सकते हैं और पुनः विद्युत्-शक्ति से ध्वनि-शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार टेलीफोन में प्रेषक-यंत्र (Microphone) तथा ग्राहक-यंत्र (Receiver) की सहायता से हम ध्वनि को एक जगह से दूसरी जगह भेज सकते हैं उसी प्रकार सिने-अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की ध्वनि का अभिलेखन (Recording of Sound) प्रेषक यंत्र (Microphone) तथा एक नियानलेम्प (Neon Lamp) की सहायता से एक फोटोग्राफिक प्लेट पर किया जा सकता है। चित्र में ध्वनि-अभिलेखन का एक विद्युत्-परिपथ दिखाया गया है। माइक्रोफोन M के सन्मुख ध्वनि उत्पन्न की जाती है जो परिपथ MBL से प्रवाहित की जाती है। T एक ट्रांस्फॉर्मर है जो विद्युत्-धारा को दूसरे परिपथ में भेज देता है। अतएव जिस प्रकर प्रथम
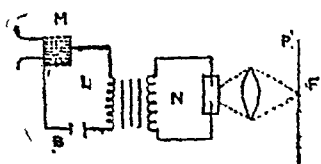
परिपथ में उतार-चढ़ाव है उस प्रकार दूसरे परिपथ में भी उतार-चढ़ाव उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे परिपथ में एक नियॉन लेम्प N लगा होता है। इस लेम्प

के सामने एक उन्नतोदर ताल (Convex Lens) होता है जिसके सामने फोटोग्राफिक प्लेट लगी होती है। विद्युत्-धारा के उतार-चढ़ाव के कारण नियॉन-लेम्प के प्रकाश में भी उतार-चढ़ाव होता है या वह बुझता तथा जलता है। नियॉन-लेम्प का यह उतार-चढ़ाव उन्नतोदर ताल के द्वारा बढ़ा कर फोटोग्राफिक प्लेट पर काली, भूरी तथा श्वेत रेखाओं के रूप में अंकित हो जाता है।

ध्वनि की पुनरुक्ति (Reproduction of Sound) :—ध्वनि की पुनरुक्ति के समय उस फोटोग्राफिक प्लेट पर जिस पर ध्वनि काली तथा सफेद धारियों के रूप में अंकित रहती है, प्रकाश केन्द्रित किया जाता है। इस फोटोग्राफिक प्लेट P के पीछे एक फोटो-इलेक्ट्रिक सेल C लगी
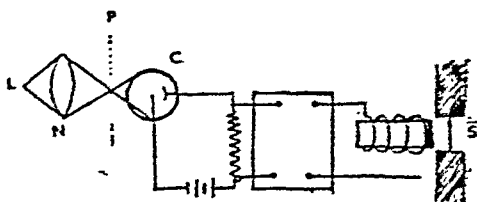
होती है जो कि ट्रांसफार्मर और एम्प्लीफायर (Amplifier) से होती हुई एक ग्राहक-यंत्र के विद्युत्-चुम्बक से जुड़ी रहती है। प्रकाश के सामने से प्लेट उसी गति से जाती है जिस गति से वह अभिलेखन के समय नियॉन लेम्प के सामने से गई थी। प्लेट पर सफेद व काली रेखाओं के कारण फोटो इलेक्ट्रिक सेल पर प्रकाश की मात्रा कभी कम या ज्यादा गिरती है अतएव इस प्रत्यावर्त्ती धारा की शक्ति कभी न्यून व कभी तीव्र हो जाती है इस कारण ग्राहक यंत्र का विद्युत्-चुम्बक भी कम या अधिक शक्तिशाली होता रहता है। इसके फलस्वरूप चुम्बक के सामने लगी हुई झिल्ली S भी चुम्बक की ओर कभी आकर्षित होती है और कभी नहीं। झिल्ली इस प्रकार कम्पन करने लगती है और ध्वनि उत्पन्न हो जाती है।

विद्युत्-शक्ति से विकिरण-शक्ति (Electrical Energy into Radiant Energy) :—प्रायः सभी गैसें साधारण दबाव पर विद्युत् की कुचालक होती हैं। परन्तु दबाव कम करने और दो विद्युत् द्वारों (Electrodes) के बीच काफी ऊंचा विभवान्तर (लगभग दस हजार वोल्ट) स्थापित करने पर एक कांच की नली में भरी हुई वायु या अन्य गैस की

चालकता बढ़ जाती है। ऋण ध्रुव से, जिसे ऋणोद (Cathode) भी कहते हैं, अदृश्य किरण-पुंज जो और कुछ नहीं केवल विद्युताणु (Electrons) ही होते हैं, निकलने लगते हैं जिन्हें हम ऋणोद-किरणें (Cathode-rays) कहते हैं। इस विषय पर अध्ययन कई वैज्ञानिकों ने किया जिनमें सर जे. जे. थामसन, लेनार्ड, विलियम क्रुक्स, एच. ए. विल्सन और रोंजन (Rontgen) प्रमुख हैं।

सन् 1895 में जर्मन वैज्ञानिक प्रो० रोंजन (Prof. Rontgen) ने प्रयोग करते समय देखा कि जब ऋणोद किरणें किसी प्रतिदीप्तिक पर्दे (जैसे बेरियम-प्लेटिनम-साइनाइड से पुती हुई प्लेट) पर पड़ती है तो वह अंधेरे में भी चमक उठती है। उन दिनों इस घटना का कारण नहीं ज्ञात हो सका था इसलिये इन किरणों को क्ष-किरण (X-Rays) कहने लगे। इनके आविष्कर्ता के नाम पर 'रोंजन किरणें (Rontgen Rays) भी कहते हैं। बाद की खोज बीन से यह सिद्ध होगया है कि ये अज्ञात-किरणें बहुत कम तरंग-लम्बाई (Wavelength) वाली लगभग 10^{-8} सें० मी० की-वैद्युतिक चुम्बकीय तरंगें (Electro-magnetic Waves) है। जब ऋणोद-किरणें (Cathode-rays) किसी वस्तु से जाकर टकराती हैं तो क्ष-किरणें (Radiant Energy) उत्पन्न हो जाती हैं। ऋणोद C प्रायः अल्यूमिनियम की नतोदर गोल चकती के रूप में होता है ऋणोद किरणें निकल कर टार्जेट (Target) B पर टकराती हैं फल-स्वरूप क्ष-किरणें उत्पन्न होती हैं। टार्जेट के लिये काफी ऊंचे द्रवणांक की धातु जैसे टंगस्टन, प्लेटिनम, मालिब्डिनम आदि काम में लाते हैं। ऐसा होने पर उसके तल पर
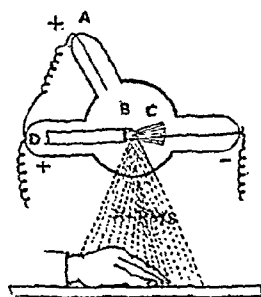
ऋणोद किरणों के संघात से जो ताप उत्पन्न होता है, उसमें वह पिघल नहीं पाता। लगातार काम आने वाली नलिकाओं में इस टार्जेट को पानी द्वारा ठंडा करने का प्रबन्ध रहता है। ऋणोद किरणों की शक्ति का बहुत ही कम अंश लगभग 0·2 से 0·3% तक ही क्ष-किरणों में परिवर्तित होता है और शेष सब अंश ताप के रूप में बदल जाता है।

क्ष-किरणों के उपयोग :—ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न-क्षेत्रों में क्ष-किरणों का कई प्रकार से उपयोग किया है। इनका संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) शल्य-चिकित्सा (Surgery) में—क्ष-किरणों का सबसे अधिक उपयोग शल्य-चिकित्सा में किया जाता है। कागज, रुई, मांस, चमड़ा इत्यादि, इन सब वस्तुओं को क्ष-किरणें भेद कर पार निकल जाती हैं परन्तु भारी पदार्थ जैसे कि लोहा, सीसा, हड्डी इत्यादि को यह पार नहीं कर सकतीं। अतएव, शरीर के जिस अंग का छाया-चित्र (Photograph) लेना होता है, उसको क्ष-किरण उत्पादक नलिका और फोटो-प्लेट के बीच रख देते हैं। नलिका को चालू करने पर क्ष-किरणें उस अंग के मांस इत्यादि को भेद कर फोटो-प्लेट को प्रभावित कर देती हैं। इस छाया-चित्र की सीधी छाया (Positive) को रेडियोग्राफ (Radiograph) या क्ष-किरणीय फोटो कहते हैं। शरीर के भीतर घुसी हुई गोलियों इत्यादि का पता इसी प्रकार के छाया-चित्रों से लगाया जाता है।

(२) शारीरिक चिकित्सा (Therapeutics) में—प्रयोगों से पता चला है कि शरीर के अयोग्य भाग पर क्ष-किरणें थोड़े समय तक डालने से वह अंग ठीक हो जाता है। कैन्सर इत्यादि असाध्य रोगों तक का इलाज इनसे हो सकता है परन्तु अधिक समय तक किरणों को लगातार डालने से हानिकारक प्रभाव भी होता है।

(३) इञ्जीनियरिंग में—धातु के मोटे ठोस के भीतर दरार या छेद इत्यादि का पता, उस वस्तु का रेडियो-ग्राफ लेकर, लगाया जाता है। इसी प्रकार लकड़ी के लट्ठों के समांगीपन की जाँच, सीपियों में मोतियों का अस्तित्व अचालक वस्तुओं का समांगीपन, इत्यादि बातों का पता क्ष-किरणों से लग जाता है। नकली हीरों में से यह किरणें, असली हीरों की बजाय, कठिनता से पार जाती हैं इनसे इनकी पहचान हो सकती है।

(४) कानूनी विभाग में—चमड़े या लकड़ी के बन्द बक्सों में विस्फोटक पदार्थ अथवा अन्य निषिद्ध वस्तुओं का पता क्ष-किरणों की सहायता से लगाया जाता है। इसी प्रकार चोरों के पेट में जमा आभूषण इत्यादि का पता भी लग जाता है।

(५) प्रायोगिक विज्ञान में—मणिओं (Crystals) की भीतरी रचना जानने में इनका अत्यधिक उपयोग हुआ है। इस कारण पदार्थ को ठोस अवस्था का अध्ययन अधिक सूक्ष्म और सही ढंग से हो पाया है। परमाणु की आन्तरिक रचना जानने में भी इनका उपयोग हुआ है।

द्रव्य से शक्ति (Conversion of Matter into Energy):—प्राचीन मत के अनुसार शक्ति और पदार्थ या द्रव्य अलग-अलग वस्तुएं मानी जाती थी। ये दोनों पूर्ण स्वतन्त्र समझी जाती थी। भौतिक-विज्ञान में शक्ति की अविनाशिता का वर्णन होता है और रसायन-विज्ञान में पदार्थ की अविनाशिता का। परन्तु अलवर्ट आइन्स्टाइन (Albert Einstein) ने सर्वप्रथम सन् 1905 में संसार के सामने अपना सापेक्षवाद का सिद्धान्त (Theory of Special Relativity) रखा जिसके अनुसार पदार्थ और शक्ति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं है परन्तु एक को दूसरे में बदला जा सकता है। पदार्थ शक्ति में और शक्ति पदार्थ में परिवर्तित की जा सकती है। इस कारण प्रकृति में जो द्रव्य चारों ओर फैला हुआ है, उसमें अपरिमित शक्ति भरी पड़ी है। पदार्थ की शक्ति में रूपान्तर का विस्तार पूर्वक अध्ययन हम आगे करेंगे।

शक्ति का क्षय (Dissipation of Energy) :—शक्ति की अविनाशिता के सिद्धान्त के अनुसार, शक्ति एक रूप में लुप्त होने पर, किसी दूसरे रूप में प्रकट हो जाती है। परन्तु शक्ति-परिवर्तन के इस चक्र में शक्ति का कुछ भाग ऐसे रूप में भी आ जाता है जिससे कुछ भी लाभदायक कार्य नहीं लिया जा सकता। व्यवहारतः शक्ति का यह भाग, एक प्रकार से समाप्त हुआ कहा जा सकता है। इसको ही शक्ति का क्षय कहते हैं। उदाहरण के लिये, रेलगाड़ी के इंजन में ताप से प्राप्त यांत्रिक शक्ति का काफी अंश घर्षण-बल के कारण लगने वाले प्रतिरोधक के प्रभाव को समाप्त करने में लग जाता है। यही भाग पटरियों और धुरियों में गर्मी के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार सभी मशीनों में दी जाने वाली शक्ति का एक भाग घर्षण के प्रतिरोध को दूर करने में लगता है और फिर वही भाग ताप-शक्ति के रूप में वदल जाता है। इस ताप से किसी भी ज्ञात विधि से कोई लाभदायक काम नहीं लिया जा सकता है। इसी प्रकार किसी ताप-स्रोत (Source of Heat) से विकीर्ण

ताप को किसी उपयोगी शक्ति में नहीं बदला जा सकता है। इसी कारण यह हमारा सूर्य भी, जो प्रतिदिन ताप और प्रकाश के रूप में शक्ति विकर्ण कर रहा है, किसी दिन ठण्डा हो जावेगा। तब सारा विश्व ही समान तापमापक वाला पिण्ड मात्र ही रह जावेगा जिसके फल-स्वरूप शायद जीवन-प्रक्रिया समाप्त हो जावेगी। वैज्ञानिकों के मतानुसार सूर्य आज जिस रफ्तार से शक्ति खर्च कर रहा है, यदि उसकी यही रफ्तार रही तो वह $4{\cdot}7 \times 10^{10}$ वर्ष बाद ठंडा हो जावेगा और शक्ति देना बन्द कर देगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. कार्य, शक्ति और सामर्थ्य से क्या आशय है? इनमें अन्तर भी बतलाओ इनकी क्या इकाइयां हैं? लिखो।
२. शक्ति किसे कहते हैं और इसके विभिन्न रूप कौन-कौन से हैं? उदाहरणों की सहायता से यह बतलाओ कि शक्ति का विनाश नहीं होता, केवल रूपान्तर मात्र होता हैं।
३. ताप-शक्ति से यान्त्रिक शक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाती है?
४. अन्तर्दहन इंजिन किसे कहते हैं? इसकी कार्य-विधि का वर्णन करो।
५. सीसे के ग्राही सेल का क्या सिद्धान्त है? इसके उपयोग लिखो।
६, विद्युत विश्लेषण किसे कहते हैं? इससे क्या लाभ हैं?
७, क्या विद्युत्-शक्ति ताप और प्रकाश में परिवर्तित हो सकती है? उदारण देकर बतलाओ।
८. यान्त्रिक-शक्ति से विद्युत्-शक्ति कैसे प्राप्त की जाती है?
९. फोटो-इलेक्ट्रिक सेल का क्या सिद्धान्त है? इसके उपयोग लिखो।
१०. ध्वनि-शक्ति से विद्युत्-शक्ति और विद्युत्-शक्ति से ध्वनि-शक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाता है?
११. X—किरणें क्या हैं? ये कैसे पैदा होती हैं और इनके क्या उपयोग हैं?
१२. 'शक्ति की अविनाशिता' से क्या आशय हैं? दो उदाहरण देकर समझाओ।

अध्याय ५

द्रव्य या पदार्थ (Matter)

द्रव्य क्या है ? :—हमारे चारों ओर हजारों वस्तुएं फैली हुई हैं–जिनका ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है जैसे आंखों से देखने पर, नाक से सूंघने पर, हाथ से छूने पर, जिह्वा से चखकर और कानों से सुनने पर। साधारणतया द्रव्य की पहचान यह है कि ये स्थान घेरते है, इनमें भार होता है और ये रुकावट पैदा करते हैं। प्रकृति (Nature) का दर्शन हमें दो रुप में होता है। (१) द्रव्य (Matter) और (२) शक्ति (Energy) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक द्रव्य और शक्ति दोनों को भिन्न २ माना जाता था परन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ही विश्व-प्रख्यात महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन (Albert Einstein) ने सर्वप्रथम संसार के सन्मुख अपने सापेक्षवाद के सिद्धान्त (Theory of Relativity) को रखा और यह बतलाया कि वस्तुतः द्रव्य और शक्ति अलग अलग नहीं है। समुचित अवस्थाओं में हम द्रव्य को शक्ति और शक्ति को द्रव्य में परिवर्तित कर सकते हैं। इसका सविस्तार अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे।)

द्रव्य की बनावट : अणु और परमाणु :— (Constitution of Matter : Molecules and Atoms) यह सर्व विदित सिद्धान्त है कि कोई भी पदार्थ बहुत से छोटे २ टुकड़ों से मिल कर बना है। ये छोटे टुकड़े इतने छोटे होते हैं कि एक साधारण सूक्ष्म दर्शक यंत्र (Microsoope) से नही दिखलाई पड़ते। ये वे छोटे से छोटे टुकड़े हैं जिनमें, अपना गुण होते हुए भी, वस्तु की मात्रा विभाजित की जा सकती है। पदार्थ का यह सूक्ष्मतम कण जिसमें उस पदार्थ के गुण विद्यमान रहें और जो स्वतंत्र रुप में स्वतः

विद्यमान रह सकता है, अणु कहलाता है। इस प्रकार पानी के अणु में पानी के सब गुण रहेंगे, नमक के अणु में नमक के तथा शक्कर के अणु में शक्कर के। हर प्रकार के द्रव्य का अपना विशेष अणु होता है अथवा दूसरे शब्दों, में हम यों कह सकते हैं कि एक ही पदार्थ के अणु हमेशा समान होते हैं और भिन्न पदार्थों के विभिन्न।

फिर अणु स्वयं भी, परमाणु (Atom नामक और भी छोटे २ कणों से मिलकर बना हुआ होता है जो मूल रसायनिक पदार्थ (Elementary Chemical substances) हैं तथा रासायनिक तत्व (Chemical Elements) कहलाते हैं। अणु जब खंडित होते हैं, तो मूल पदार्थ अपना अस्तित्व खो देता है। अन्तिम विश्लेषण में आधुनिक ज्ञान के आधार पर प्रकृति में पाये जाने वाले तत्वों की संख्या बानवे है जिनका वर्णन आगे दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने पदार्थ हमें मालूम हैं, वे दो बड़े वर्गों में बांटे जा सकते हैं :—तत्व (Elements) और यौगिक (Compounds)। तत्व वह पदार्थ है जो अपने से सरल पदार्थ में न तो विभाजित किया जा सकता है और न ही ऐसे अन्य सरल पदार्थों से बन सकता है। जब दो या अधिक तत्व रासायनिक रूप से संगठित होते हैं तो यौगिक बनते हैं। इनमें संगठन इस प्रकार होता है कि यौगिक के गुण संगठित होने वाले तत्वों के गुणों से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये, हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्व हैं। हाइड्रोजन स्वयं नीली लौ से जलने वाली गैस है और आक्सीजन गैस जलने में सहायता देती है। परन्तु पानी जो हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है, आग को बुझा देता है। इस प्रकार पानी में हाइड्रोजन और आक्सीजन से एकदम विपरीत गुण हैं।

मिश्रण (Mixture) दो या अधिक विशुद्ध पदार्थों के मिलाने से बनता है। ये विशुद्ध पदार्थ तत्व अथवा यौगिक हो सकते हैं। मिलाये जाने वाले पदार्थों के गुणों में परिवर्तन नहीं होता और मिश्रण के अवयव किसी भी अनुपात में मिलाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये हवा, आक्सीजन, नाइट्रो-

APPENDIX

[To Chapter V Matter]

TABLE OF ELEMENTS.

S. No. 1.	Name of the element. 2.	Symbol 3.	Atomic No. 4.	Atomic Weight 5.
1.	Actinium.	Ac	89	227
2.	Aluminium.	Al	13	26.98
3.	Americium	Am	95	243
4.	Antimony.	Sb	51	121.76
5.	Argon.	A	18	39.944
6.	Arsenic	As	33	74.91
7.	Astatine	At	85	211
8.	Barium	Ba	56	137.36
9.	Barkelium	Bk	97	245
10.	Beryllium	Be	4	9.013
11.	Bismuth.	Bi	83	209.0
12.	Boron	B	5	10.82
13.	Bromine	Br	35	79.916
14.	Cudmium	Cd	48	112.41
15.	Calcium	Ca	20	40.08
15.	Coliformium	Cf	98	(246)
17.	Carbon	C	6	12.01
18.	Cerium	Ce	58	140.13
19.	Cesium	Cs	55	132.91
20.	Chlorine	Cl	17	35.457
21.	Chromium	Cr	24	52.01
22.	Cobalt	Co	27	58.94
23.	Copper	Cu	29	63.54

1.	2.	3.	4.	5.
24.	Curium	Cm	96	244
25.	Dysprosium	Dy	66	162.46
26.	Einsteinium	E	99	(253)
27.	Erbium	Er	68	167 2
28.	Europium	Eu	63	152
29.	Fermium	Fm	100	(254)
30.	Flourine	F	9	19
31.	Francium	Fr	87	223
32.	Gadolinium	Gd	64	156.9
33.	Gallium	Ga	31	69.72
34.	Germanium	Ge	32	72.5
35.	Gold	Au	79	197.2
36.	Hafnium	Hf	72	178.6
37.	Helium	He	2	4.003
38.	Holmium	Ho	67	164.94
39.	Hydrogen	H	1	1.008
40.	Indium	In	49	114.76
41.	Iodine	I	53	126.92
42.	Iridium	Ir	77	193.1
43.	Iron	Fe	26	55.85
44.	Krypton	Kr	36	83.80
45.	Lanthanum	La	57	138.92
46.	Lead	Pb	82	207.21
47.	Lithium	Li	3	6.94
48.	Lutecium	Lu	71	174.99
49.	Magnesium	Mg	12	24.32
50.	Manganese	Mn	25	54.93
51.	Mendelevium	Me	101	(256)
52.	Mercury	Hg	80	200.61
53.	Molybdenum	Mo	42	95.95
54.	Neo-dymium	Nd	60	144.27

1.	2.	3.	4.	5.
55.	Neon	Ne	10	20.183
56.	Neptunium	Np	93	237.07
57.	Nickel	Ni	28	58.69
58.	Niobium	Nb	41	92.91
59.	Nitrogen	N	7	14.008
60.	Nobelium		102	(.)
61.	Osmium	Os	76	190 2
62.	Oxygen	O	8	16 00
63.	Palladium	Pd	46	106 7
64.	Phosphorous	P	15	30 975
65.	Platinum	Pt	78	195.23
6.	Plutonium	Pu	94	239.08
67.	Polonium	Po	84	210
68	Potassium	K	19	39.100
69.	Praseodymium	Pr	59	140.92
70.	Promethium	Pm	61	145
71.	Protoactinium	Pa	91	231
72.	Radium	Ra	88	226.05
73	Radon	Rn	86	222
74.	Rhenium	Re	75	186.31
75.	Rhodium	Rh	45	102.91
76.	Rbi	Rb	37	85.48
77.	Ruthenium	Ru	44	101.7
78.	Samarium	Sm	62	150.43
79.	Scandium	Sc	21	44.96
80.	Selemium	Se	34	78.96
81.	Silicon	Si	14	28.09
82.	Silver	Ag	47	107.880
83.	Sodium	Na	11	22.997
84.	Strontium	Sr	38	87'63
85.	Sulphur	S	16	32.066

1	2	3	4	5
86.	Tantalum	Ta	73	180.88
87.	Technetium	Tc	43	99
88.	Tellurium	Te	52	127.61
89.	Terbium	Tb	65	159 2
90.	Thallium	Tl	81	204.39
91.	Thorium	Th	90	232.12
92.	Thulium	Tm	69	169.4
93.	Tin	Sn	50	118.70
94.	Titanium	Ti	22	47.90
95.	Tungsten	W	74	183-92
96.	Uranium	U	92	238.07
97.	Vanadium	V	23	50.95
98.	Xenon	Xe	54	131.3
99.	Ytterbium	Yb	70	173 04
100.	Yttrium	Y	39	88.92
101.	Zinc	Zn	30	65.38
102.	Zirconium	Zr	40	91.22
103.	Not known.	...	...	...
104.	—do—	...	...	...

Note :—Atomic weights of Transuranic elements given in the small bracket are not yet fixed.

अध्याय ६

परमाणु-नाभिक और परमाणु-शक्ति

(Atomic Nuclei and Atomic Energy.)

प्रस्तावना :—पिछले अध्याय में हम परमाणु की रचना के विषय में पढ़ चुके है। हमें यह मालूम है कि परमाणु के मुख्य दो भाग होते हैं। (१) नाभिक (Nucleus) और (२) वाहरी भाग, जिसमें इलेक्ट्रान होते हैं जो कि निश्चित कक्षों में नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं। वास्तव में परमाणु के नाभिक की रचना के विषय में जितना ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है उसका मुख्य श्रेय रेडियम-धर्मिता (Radio-activity) के आविष्कार को है। अतएव हम पहले रेडियम-धर्मिता (Radio-activity) का अध्ययन करेंगे।

रेडियम-धर्मिता की खोज (Discovery of Radio-activity) :—सन् 1896 में फ्रेंच वैज्ञानिक हेनरी बेक्वरल (Henry Becquerel) ने देखा कि यूरेनियम व इसके यौगिकों में कुछ ऐसे खास गुण पाये जाते हैं जो और तत्वों में—जो उस समय तक ज्ञात थे—नहीं पाये जाते। ये पदार्थ अंधेरे में एक फोटो-ग्राफिक प्लेट पर ऐसा प्रभाव डालते हैं मानों इन पदार्थों में से कोई अज्ञात किरणें निकल रही हों जो X—किरणों के समान हों। इन पदार्थों से निकलने वाली किरणें अल्यूमिनियम जैसे ठोस पदार्थों में से पार हो जाती हैं, गैसों को अयनित कर देती हैं (Ionisation of gases) और जिंक सल्फाइड व बेरियम प्लेटिनो-साइनाइड जैसे लवणों को दीप्तिमान (Luminous) बना देती हैं। ऐसे पदार्थों को जिनमें से ऐसी क्रिया शील किरणें निकलती हों रेडियो-एक्टिव या रेडियम धर्मी (Radio-active) पदार्थ कहते हैं और पदार्थों के इस गुण को रेडियम धर्मिता (Radio-activity) कहते हैं।

मैडम क्यूरी और श्मिट (Schmidt) ने स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए सन् 1898 में यह देखा कि रेडियम धर्मिता का गुण थोरियम (Thorium) धातु के यौगिकों में भी पाया जाता है। सन् 19 2 में प्रोफेसर क्यूरी और उनकी पत्नी मैडम क्यूरी को यह मालूम हुआ कि यूरेनियम के एक खनिज, पिच ब्लेंडी (Pitch blende) में यह गुण यूरेनियम से चौगुनी मात्रा में होता है। काफी परिश्रम व कठिनाइयों के बाद क्यूरी दम्पत्ति रासायनिक-विधि द्वारा, कई टन पिच ब्लेंडी में से केवल एक या दो ग्रेन प्रबल रेडियम-धर्मिता वाला पदार्थ अलग करने में सफल हुए जिसका नाम उन्होंने रेडियम (Radium) रखा। (लगभग दस टन पिच ब्लेंडी से एक ग्राम रेडियम मिलता है।) अपने आविष्कारों के फलस्वरूप मैडम क्यूरी को 1911 में नोबेल-पुरस्कार प्राप्त हुआ था। रेडियम धर्मी तत्वों में रेडियम का पहला स्थान है क्योंकि यूरेनियम से यह लगभग दस लाख गुना अधिक रेडियम धर्मी (Radio-active) है। यूरेनियम, रेडियम, थोरियम और एक्टीनियम (Actinium , प्रमुख रेडियम धर्मी तत्व हैं।

रेडियम-धर्मिता क्या है ? (What is Radio-activity):- प्रकृति में पाये जाने वाले कई भारी तत्वों से, जिनका परमाणु-भार 206 से अधिक होता है, लगातार, शक्तिशाली अदृश्य किरणें निकलती रहती हैं जिनमें तीन प्रकार की किरणें सम्मिलित होती हैं (१) अल्फा-किरणें (α—rays) (२) बीटा-किरणें (Beta rays और ३) गामा-किरणें γ—rays।। इन किरणों के निकलते रहने के कारण रेडियम-धर्मी तत्व टूटते रहते हैं और उनसे नये तत्व बनते रहते हैं। यह क्रिया स्वाभाविक रूप से और निर्बाध गति से चलती रहती है और इस पर किसी भी भौतिक और रासायनिक परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् वाह्य-परिस्थितियों से यह क्रिया अप्रभावित रहती है। चाहे किसी तत्व को पिघलाने वाली गर्मी हो, चाहे किसी वस्तु को जमा देने वाली शीत हो या चाहे अत्यन्त प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र हो, परन्तु इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी यह क्रिया अपनी स्वाभाविक गति से चलती रहती है।

रेडियम-धर्मी किरणें (Radio Active rays) :—लार्ड रदरफोर्ड (Lord Rutherford) ने अल्फा और बीटा-किरणों का पता लगाया और कुछ समय बाद विलार्ड (Villard) ने यह बतलाया कि इन दोनों किरणों से भी अधिक भेदन-शक्ति वाली एक तीसरे ही प्रकार की किरणें भी रेडियम धर्मी पदार्थों से निकलती हैं, जिन्हें गामा-किरणें (γ—rays) कहा गया।

अल्फा किरणें :— अल्फा—किरणें किरणें नहीं परन्तु धन-विद्युत् से युक्त छोटे २ कणों की बौछारें है। एक अल्फा-कण की मात्रा हाइड्रोजन से चार गुना होती है और वह दो धन-विद्युत् की मात्रा से युक्त होता
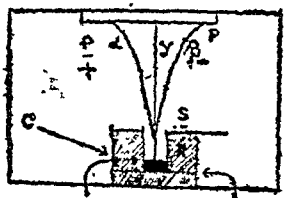
Radium Read Block

है अतएव यह एक हीलियम का नाभिक ही हुआ (He^{++})।

अल्फा-किरणों के गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) ये कण रेडियम धर्मी तत्व के परमाणुओं में से अत्यन्त तीव्र वेग से, जिसका मान लगभग प्रकाश की गति का दसवाँ भाग हो सकता है, निकलते हैं (२) आकार में अपेक्षाकृत कुछ बड़े होने के कारण, α—कण आसानी से पदार्थ (Matter) को नहीं भेद सक्ते हैं। ये अभ्रक (Mica), अल्यूमिनियम की पतली परतों को पार कर सकते हैं। 0.1 मि.मी. मोटे अल्यूमिनियम पत्र से ये रुक जाते हैं परन्तु हवा में 2 से 8 सेंटीमीटर तक चले जाते हैं। (३) तीव्र गति के कारण, — α कण जब किसी गैस (जैसे आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि) के अणुओं से टकराते हैं तो उनके परमाणुओं में से इलेक्ट्रान निकाल डालते हैं और इस प्रकार गैस का आयनन (Ionisation) हो जाता है (४) α—कण जिंक सल्फाइड को दीप्तिमान (Luminous) कर देते हैं और फोटोग्राफिक प्लेट पर अपना प्रभाव डालते हैं।

बीटा-किरणें (β—rays) :—ये ऋण विद्युत्-से युक्त कण होते हैं जिनकी मात्रा इलेक्ट्रान के बराबर होती है और विद्युत् की मात्रा भी

वही होती है अतएव ये और कुछ नहीं—केवल इलेक्ट्रॉन ही हैं। इनके कुछ विशेष गुण निम्नलिखित हैं:—

(1) β—कणों का वेग औसतन ∝—कणों से दस गुना अधिक होता है।

(2) अपने छोटे आकार और अत्यधिक वेग के कारण इनकी भेदन-शक्ति (Penetrating power) ∝—कणों से कहीं अधिक होती है। ये हवामें ∝—कणों से सौ गुना अधिक दूर जा सकते हैं। इनको रोकने के लिये एक सेंटीमीटर मोटा अल्यूमिनियम-पत्र (Aluminium-foil) चाहिये।

(3) जिस गैस में से ये जाते हैं उसे विद्युत् चालक बनादेते हैं परन्तु इनकी आयनन (Ionisation) शक्ति ∝—कणों से कम होती है—इनकी मात्रा कम होने के कारण।

(4) इनका जिंक सल्फाइड को प्रदीप्त करने का बहुत कम प्रभाव होता है परन्तु फोटोग्राफिक प्लेट पर इनका प्रभाव ∝—कणों से अधिक ही होता है।

गामा-किरणें (γ-rays) :—इन पर प्रबलतम चुम्बकीय या विद्युतीय क्षेत्र का कुछ भी प्रभाव नहीं होता है अतएव ये किसी भी प्रकार की विद्युत् से युक्त नहीं हैं। ये केवल प्रकाश की तरंगे हैं जिनकी तरंग-लम्बाई X-किरणों से भी कम है। इनके कुछ गुण नीचे दिये जाते हैं:—

(1) ये बहुत तीव्र गति से-प्रकाश के वेग के बराबर ही अर्थात् एक सेकंड में, 1,86,000 मील की गति से ही यात्रा करती हैं।

(2) इनकी भेदन शक्ति सबसे अधिक है।

(3) इनकी गैसों को आयनित करने की शक्ति बहुत कम है।

(4) फोटो-ग्राफिक प्लेट पर और जिंक सल्फाइड में प्रदीप्ति उत्पन्न करने का प्रभाव भी इनका बहुत कम होता है।

(5) ये फोटो इलेक्ट्रिक प्रभाव (Photo-Electric Effect) भी बतलाती हैं।

(6) भारी तत्वों (Heavy elements) पर जब अधिक शक्ति वाली (High energy) किरणें टकराती हैं तो इलेक्ट्रान और पाजिट्रान Y- का जोड़ा (Positron-electron pair) उत्पन्न होता है जो शक्ति के द्रव्य में रूपान्तरण का बहुत सुन्दर उदाहरण है।

रेडियम धर्मिता का सिद्धान्त (Theory of Radio-activity) :- रेडियम-धर्मी वस्तुओं से निकलने वाली किरणों की प्रकृति का अध्ययन हो चुकने पर, यह माना जाने लगा कि रेडियम-धर्मिता अनिवार्यतः परमाणुओं के नाभिकों में होने वाली प्रक्रिया है। रदरफोर्ड और सादी (Soddy) ने 1903 में अपना सिद्धान्त रखा जिसके अनुसार (1) रेडियम धर्मी तत्व के परमाणु अस्थायी (Unstable) होते हैं। (2) इन परमाणुओं में विखंडन (Disintegration) की प्रक्रिया होती रहती है जिससे नये परमाणु बनते रहते हैं जिनके भौतिक और रासायनिक गुण जनक परमाणु (Parent atom) से बिल्कुल भिन्न होते हैं। किन्तु यह नवीन तत्व भी स्थाई नहीं होता है, यह स्वयं भी रेडियम धर्मिता के कारण टूट कर नवीन तत्व का रूप धारण करता है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि अंत में अक्रियाशील तत्व नहीं बन जाता।

हम पीछे पढ़ आये हैं कि रेडियम धर्मिता परमाणु के नाभिक का गुण है। परमाणु नाभिक में इलेक्ट्रान तो मौजूद नहीं होते हैं, फिर ये β—कण कहाँ से आते हैं? वास्तव में β—कणों की उत्पत्ति का कारण यह है कि नाभिक में पाये जाने वाले न्यूट्रान जब प्रोटॉन में परिवर्तित होते हैं तो उसी समय इलेक्ट्रॉन उत्पन्न होता है और पदार्थ का कुछ भाग विलुप्त होकर गामा किरणों के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि बीटा-किरणें सदा गामा-किरणों के साथ निकलती हैं।

जब रेडियम धर्मी किसी परमाणु से एक अल्फा-कण निकलता है तो उस परमाणु के नाभिक की कुल विद्युत-मात्रा में २ की कमी हो जाती है और इसके परमाणु-भार में ४ की कमी हो जाती है। यदि उपरोक्त परमाणु में से एक β—कण निकलता है तो परमाणु के नाभिक की विद्युत-मात्रा में एक की वृद्धि हो जाती है किन्तु परमाणु भार में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

रेडियम धर्मी परमाणुओं का विखंडन (Disintegration of Radio-active Atoms) :—यूरेनियम, थोरियम तथा एक्टिनियम, प्रत्येक तत्व अपनी २ श्रेणी (Series) के रेडियम धर्मी विखंडन की शृंखला के उद्गम स्थान हैं। तीनों श्रेणी की अन्तिम कड़ी सीसा (Lead) है जो स्वयं रेडियम धर्मिता के गुण से विहीन है। यूरेनियम श्रेणी से प्राप्त सीसे का परमाणु–भार 206 है, एक्टिनियम से प्राप्त सीसे का भार 207 है और थोरियम से प्राप्त सीसे का परमाणु भार 208 है। सीसे के ये तीनों रूप परस्पर समस्थानीय (Isotopes) कहलाते हैं। समस्थानीय तत्वों का अध्ययन हम आगे करेंगे। नीचे हम यूरेनियम श्रेणी के रेडियम धर्मी परिवर्तनों का वर्णन कर रहे हैं।

$$ {}_{92}UI^{238} \xrightarrow{\alpha} {}_{90}UX_1^{234} \xrightarrow{\beta} {}_{91}UX_2^{234} \xrightarrow{\beta} {}_{92}UII^{234} \xrightarrow{\alpha} {}_{90}Io^{230} $$

$$ \downarrow \alpha $$

$$ {}_{84}RaC'^{214} \xleftarrow{\beta} {}_{83}RaC^{214} \xleftarrow{\beta} {}_{82}RaB^{214} \xleftarrow{\alpha} {}_{84}RaA^{218} \xleftarrow{\alpha} {}_{86}Rn^{222} \xleftarrow{\alpha} {}_{88}Ra^{226} $$

$$ \downarrow \alpha $$

$$ {}_{82}RaD^{210} \xrightarrow{\beta} {}_{83}RaE^{210} \xrightarrow{\beta} {}_{84}RaF^{210} \xrightarrow{\alpha} {}_{82}RaG^{206} \quad \text{(Stable)} $$

(Lead)
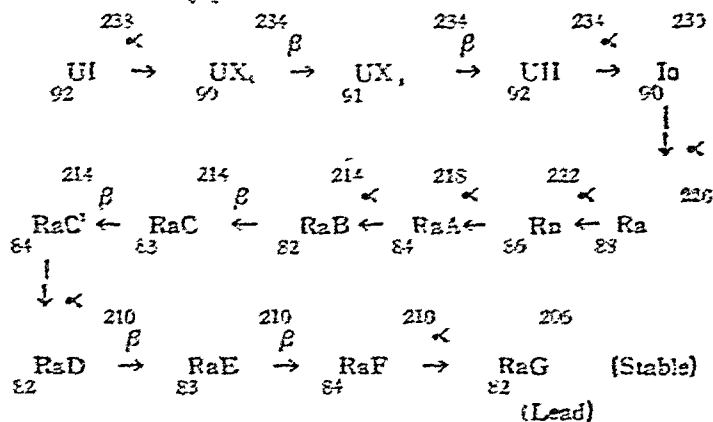
तत्व के चिन्ह के सिरे पर तत्व का परमाणु भार लिखा है और नीचे परमाणु संख्या। उदाहरणतः ${}_{92}UI^{238}$ का अर्थ यह है यूरेनियम तत्व का एक परमाणु जिसकी परमाणु संख्या 92 व परमाणु भार 238 है। ${}_{92}UI^{238}$ में से जब एक अल्फा–कण निकलता है तो एक नया तत्व UX_1 बनता है जिसका परमाणु भार 234 व परमाणु-संख्या 90 होती है। इसी प्रकार ${}_{90}UX^{234}$ में से β—कण निकलने पर नया तत्व ${}_{91}UX_2^{234}$ बनता है। इस प्रकार यह क्रिया चलती रहती है और अन्त में RaG जो

केवल सीसा है व जिसका परमाणु-भार 206 तथा परमाणु संख्या 82 है, बनता है। यह स्थायी है और इसमें से किसी प्रकार की किरणें नहीं निकलती हैं।

समस्थानीय तत्व (Isotopes) और समभारी तत्व (Isobars):—रेडियम धर्मी तत्वों के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो उनके परमाणु भार और रेडियम धर्मिता के गुण को छोड़ कर शेष सब बातों में समान (Identical) होते हैं। ऐसे तत्व जिनकी परमाणु-संख्या एक ही हो (और इसलिये वे आवर्त तालिका Periodic Table में भी एक ही स्थान पायेंगे) परन्तु जिनके परमाणु-भार भिन्न २ हों उन्हें समस्थानीय तत्व (Isotopes) कहते हैं। जैसा हम अभी ऊपर पढ़ आये हैं, सीसे के तीन समस्थानीय रूप (Isotopes) होते हैं $_{82}Pb^{206}$, $_{82}Pb^{207}$ और $_{82}Pb^{208}$ जो कि रेडियम धर्मी नहीं हैं। इसी प्रकार RaB, RaD और RaG समस्थानीय हुए। आजकल कई तत्वों के समस्थानीय रूप मालूम हो चुके हैं जैसे हाइड्रोजन के तीन [H_1^1, H_1^2, H_1^3,] आक्सीजन के तीन [O^{16}_{10}, O^{17}_{10}, O^{18}_{10}] लोहे के दो [Fe^{54}_{26}, Fe^{56}_{26}], पारे के 8, चांदी के 2, और टिन के 10।

इनके अतिरिक्त, कुछ तत्व ऐसे पाये जाते हैं जिनका परमाणु-भार समान ही होता है परन्तु परमाणु संख्याएं भिन्न २ होती हैं। ऐसे तत्वों को समभारी (Isobars) कहते हैं, जैसे $_{82}RaD^{210}$, $_{83}RaE^{210}$, $_{84}RaF^{210}$; $_{82}RaB^{214}$, $_{83}RaC^{214}$ और $_{84}RaC'^{214}$ और $_{18}Ar^{40}$ तथा $_{20}Ca^{40}$।

रेडियमधर्मी तत्वों का अर्ध-जीवन-काल (Half-life-Period of Radio active Elements):—जितने समय में किसी रेडियमधर्मी तत्व की प्रारम्भिक मात्रा विखंडित होकर आधी रह जाये, उस समय को उस रेडियम धर्मी तत्व का अर्ध जीवन काल या आधा जीवन कहते हैं। जैसे रेडियम (Radium) का अर्धजीवन काल 1580 वर्ष है, ऐसा कहने का यह अर्थ है कि रेडियम की कोई दी हुई मात्रा 1580 वर्ष बाद विखंडित

होकर आधी रह जावेगी । रेडोन (Radon) का आधा जीवन 3.8 दिन है। रेडियम A का आधा जीवन तीन मिनट का है। कोबाल्ट (Co_{27}^{60}) का आधा जीवन 5.3 साल है और जस्ते (Zn_{30}^{65}) का आधा जीवन 250 दिन है।

परमाणुओं का कृत्रिम विखंडन और कृत्रिम रेडियम धर्मिता- (Artificial Disintegration of Atoms and Artificial Radio activity):—सन् 1919 में रदरफोर्ड ने रेडियमधर्मी पदार्थ से प्राप्त α— कणों की बौछार को नाइट्रोजन परमाणुओं पर डालकर कृत्रिम रीति से परमाणु विखंडन का उदाहरण प्रयोगशाला में पहली बार उपस्थित किया। तीव्र वेग के कारण अल्फा-कण नाइट्रोजन के नाभिक के निकट पहुँचने में समर्थ होते हैं और उसमें से प्रोटान निकालकर स्वयं प्रविष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप नाभिक के भार में 3 की वृद्धि हो जाती है और धन विद्युत् मात्रा भी एक बढ़ जाती है। स्पष्ट है कि यह तत्व आक्सीजन का समस्थानीय रूप (Isotope) है। समीकरण के अनुसार—

$_7N^{14} + _2He^4 \rightarrow _8O^{17} + _1H^1$ यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। प्रयोगशाला में एक मूल तत्व (Element) को दूसरे मूलतत्व में बदलने का यह सर्वप्रथम उदाहरण था।

जब किसी हल्के तत्व पर α—कणों की बौछार फेंकी जाती है, तो उस तत्व के नाभिक से प्रोटॉन निकलने लगते हैं। उसके फलस्वरूप नाभिक अस्थायी स्थिति में आ जाता है और उनमें से रेडियम धर्मी किरणें निकलने लगती हैं। इस घटना को, जिसमें एक स्थायी तत्व कृत्रिम विखंडन (Artificial Disintegration) की क्रिया द्वारा रेडियम धर्मी बना दिया जाता है, कृत्रिम रेडियम धर्मिता (Artificial Radio-activity) कहते हैं। पदार्थों पर न्यूट्रॉन कणों की बौछार फेंकने पर भी उनमें कृत्रिम रेडियम धर्मिता उत्पन्न की जा सकती है। प्रोटॉन आदि धनविद्युन्मय कणों को साइक्लोट्रान (Cyclotron), सिन्क्रो-साइक्लोट्रान (Syncro cyclotron), बीटॉट्रान (Betatron) आदि विद्युत्-यन्त्रों द्वारा तीव्र वेग प्रदान करके उन्हें पदार्थों पर फेंकने से भी उन पदार्थों में कृत्रिम रेडियम धर्मिता

का विकास किया जा सकता है। कृत्रिम रेडियम धर्मिता अल्पकालीन होती है।

सर्वप्रथम सन् 1913 में इरेनी (Irene — मेडम क्यूरी की पुत्री— और उनके पति फेड्रिक जूलियट ने यह देखा कि जब अल्यूमिनियम जैसे हल्के तत्व पर ∝—कणों की बौछार गिरती है, तो उससे एक न्यूट्रान और रेडियम धर्मी फॉस्फोरस उत्पन्न हो जाते हैं। रेडियम धर्मी फॉस्फोरस से इलेक्ट्रान के बजाय पाजिट्रान (Positron) निकलता है और नया तत्व सिलिकन बन जाता है। रेडियम धर्मी इस फॉस्फोरस का अर्धजीवन-काल ग्यारह मिनट का होता है।
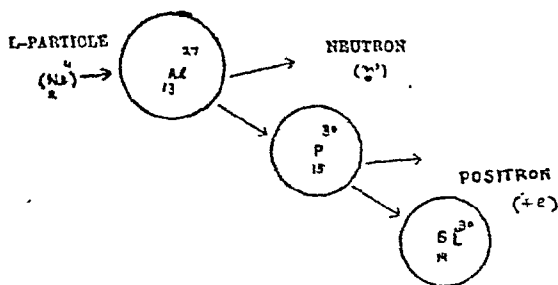
रेडियम धर्मिता के उपयोग (Uses of Radio-activity):— रेडियम धर्मिता की खोज और उसके अध्ययन ने भौतिक विज्ञान व रसायन-विज्ञान के क्षेत्र में हलचल मचा दी है। परमाणु के आधुनिक ज्ञान का श्रेय रेडियम धर्मिता को खोज की ही है। इसके अतिरिक्त आज हमारे दैनिक जीवन को प्राय: हर क्षेत्र में ही रेडियम-धर्मिता के गुण का किसी न किसी रूप में उपयोग किया जाता है।

(1) नये तत्वों की खोज:—गत अठारह वर्ष पूर्व केवल बानवे तत्व ही मालूम थे परन्तु जैसा हम पहले पढ़ आये हैं, आज ज्ञात तत्वों की संख्या एक सौ दो है—'नोबेलियम' (Nobelium सन् 1957 में प्रयोगशाला में निर्मित कर लिया गया है। यह सब रेडियम धर्मिता के ज्ञान के कारण ही संभव हो पाया है।

(2) परमाणु रचना का ज्ञान:—डाल्टन के परमाणु को, जो अवि-भाज्य माना जाता था, अब छोटे २ कणों से बना हुआ माना जाता है। लार्ड रदर फोर्ड के '∝–कणों के बिखरने' Scattering of ∝-particles के प्रयोग द्वारा यह मालूम हुआ कि परमाणु में धन-विद्युत् से युक्त नाभिक होता है। फिर नाभिक में प्रोटॉन और न्यूट्रॉन की उपस्थिति का पता लगा। इस प्रकार आज हमारा परमाणु का ज्ञान रेडियम-धर्मिता के अध्ययन के कारण ही है।

(3) समस्थानीय (Isotopes) और समभारी (Isobars) तत्वों की खोज:—समस्थानीय तत्वों की खोज ने तत्वों के भिन्नात्मक (Fractional) परमाणु-भारों को समझाने में भारी सहायता दी है। प्राउट के सिद्धान्त को जिसके अनुसार प्रकृति में सभी तत्व हाइड्रोजन परमाणु के बने होते हैं फिर से नये रूप में बल मिला है क्योंकि आजकल की मान्यतानुसार किसी भी तत्व के परमाणु के नाभिक में प्रोटॉन और न्यूट्रॉन होते हैं। इसलिये-नाभिक का भार प्रोटॉन के भार का गुणक (Multiple) ही होगा। कृत्रिम रेडियम धर्मिता की खोज से आज हम लगभग सभी पदार्थों को रेडियम धर्मी बना सकते हैं। रेडियो-समस्थानीय तत्वों (Radio-Isotopes का उपयोग सारे विश्व में कृषि-विकास के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में एवं उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में किया जाने लगा है। चिकित्सा के क्षेत्र में इनके उपयोग का अध्ययन हम आगे अलग से करेंगे। भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने के लिये रासायनिक खादों में कुछ मात्रा में रेडियो-आइसोटोप मिला दिये जाते हैं। साधारण तत्व की भांति ही वे भी भूमि द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। अन्तर केवल यही है कि इन रेडियो समस्थनीय तत्वों (Radio-Isotopes) से रेडियम धर्मी विकिरण निकलते रहते हैं। इस कारण हम यह आसानी से मालूम कर सकते हैं कि किस पेड़ या पौधे के लिये कौनसी रासायनिक खाद सर्वोत्तम है, वह किस मात्रा में डाली जावे तथा उसे कब और कहाँ इस्तेमाल किया जाय। इसी प्रकार शीतकारी साधनों के अभाव में, जिन कीटाणुओं के खूब बढ़ जाने से खाद्य-पदार्थ गल-सड़ कर अभक्ष्य हो जाते हैं, उन्हें सीधी विकिरण-क्रिया द्वारा खत्म किया जा सकता है। इस दिशा में अभी परीक्षण

चल रहे हैं : सफलता मिलने पर सारे संसार में खाद्य-पदार्थों को सुरक्षित रखने की विधियों में एक महान् क्रान्ति हो जावेगी ।

उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी रेडियो-समस्थानीय तत्वों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। कागज, रबड़ वस्त्र और धातुओं के निर्माण कार्य में रेडियो-आइसोटोपों द्वारा उनकी चादरों की मोटाई मापना और उन पर नियन्त्रण रखना सम्भव हो गया है। रंग-रोगन और मोम आदि के निर्माता अब बड़ी आसानी से अपनी चीजों की खराबियों को जांच सकते हैं और इस कारण इन चीजों की अच्छी किस्में तैयार कर सकते हैं। रगड़ (Friction) के फलस्वरूप टायरों और मशीन के पुर्जों के घिस जाने के कारणों को मालूम करने के लिये रेडियो-आइसोटोपों का उपयोग किया जा सकता है और इस प्रकार निर्माता अपनी वस्तुओं को सुधार सकता है। ढलाई की भारी चीजों के भीतर छिपे दोषों को पहचाना जा सकता है क्योंकि रेडियो-सक्रिय कोबाल्ट जैसा तत्व अपने विकिरण से धातु की कई इंच मोटी तह के पार जा सकता है।

रेडियम धर्मिता के अध्ययन से हमें समभारी तत्वों (Isobars) का भी ज्ञान प्राप्त हुआ है।

(4) परमाणुओं का कृत्रिम-विखंडन (Artificial Disintegration of Atoms) :—प्राचीन काल से ही मानव लोहा आदि निम्न धातुओं को स्वर्ण में बदलने का स्वप्न देखता आया है और उसने इसलिये पारस पत्थर की भी कल्पना की। परन्तु आज के विज्ञान ने यह संभव बना दिया है। कृत्रिम-रेडियम धर्मिता के कारण एक तत्व को दूसरे तत्व में बदला जा सकता है।

(5) परमाणु-शक्ति का ज्ञान (Clue to Atomic Energy) रेडियम धर्मी तत्वों से α-β और γ-किरणों के निकलने से परमाणु के नाभिक से मिल सकने वाली अगाध-शक्ति भंडार का आभास हमें मिलता है। परमाणु शक्ति को ठीक तरह से नियन्त्रित करके और लोकोपकारी कार्यों में लगाने पर यह संसार में शक्ति के प्रमुख स्रोत (Main Source of Power) का स्थान ले लेगी। इसका विस्तृत अध्ययन हम नीचे करेंगे।

(6) चिकित्सा के क्षेत्र में (Radio Therapy) :—संसार भर की एक हजार से अधिक चिकित्सा-संस्थाओं में अनुसन्धान कर्ता वैज्ञानिक रेडियो-सक्रिय आइसोटोपों का प्रयोग करके मानव शरीर के अवशिष्ट रहस्यों को जानने का सराहनीय प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रकार हृदय रोग, मधुमेह, तथा कई किस्म के कैन्सर (Cancer) रोगों के कारणों की खोज करने के प्रयत्न भी हो रहे हैं। रेडियम धर्मी वस्तुओं से निकलने वाली गामा-किरणें शरीर के रोगी कोषों (Diseased cells) को नष्ट कर देती हैं, यद्यपि इनके अधिक सेवन से स्वस्थ कोषों के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। फास्फोरस आदि के आइसोटोपों ने कैन्सर रोग के सही स्थान का पता लगाने में मदद दी है क्योंकि उनमें कैन्सर के कोषों को सामान्य कोषों से पृथक् करने का गुण होता है। स्वर्ण, आयोडिन, और कोबाल्ट के रेडियो सक्रिय आइसोटोपों ने कैन्सर के कोषों को नष्ट करने में अपनी क्षमता भी सिद्ध कर दी है। हड्डी के फोड़े Bone Tumour के इलाज के लिये रेडियो-सक्रिय स्ट्रांशियम काम में लाया जाता है। अतिश्वेत रक्तता (Leucaemia) में रेडियम धर्मी फॉस्फोरस उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार गले में बढ़ने वाली थाइराइड ग्रन्थि के लिये रेडियम धर्मी आयोडिन का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेडियम-धर्मी समस्थानीय तत्वों का चिकित्सा के क्षेत्र में काफी उपयोग होने लगा है।

(7) पृथ्वी की आयु निकालना (Calculating the Age of the Earth) :—यूरेनियम और थोरियम पृथ्वी के सर्वोच्च रेडियम धर्मी तत्व हैं जो भूपर्पटी (Earth's Crust) के प्रायः सभी शैलों (Rocks) में पाये जाते हैं। जैसा हमें मालूम है, इन तत्वों का विखंडन होता रहता है और अंत में सीसा और हीलियम रह जाता है। यूरेनियम से सीसा बनने में लगभग ६ अरब ६० करोड़ वर्ष लगते हैं। पृथ्वी के शैलों की परीक्षा करने पर उनकी आयु लगभग २ अरब ७० करोड़ वर्ष निकलती है इसलिये पृथ्वी की आयु कम से कम २ अरब वर्ष से अधिक ही मानी जा सकती है। यह बड़े संयोग और आश्चर्य की बात है कि प्राचीन आर्य-कल्पना के अनुसार भी पृथ्वी की आयु २ अरब सौर वर्षों की होती है।

रेडियम धर्मिता के अध्ययन के बाद अब हम परमाणु के नाभिक का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

परमाणु का नाभिक (Nucleus of an Atom):—हमें मालूम है कि प्रत्येक परमाणु के भीतर, केन्द्र पर एक ठोस कण रखा रहता है। परमाणु का लगभग सारा भार इसी कण में निहित रहता है। इस ठोस कण को ही 'नाभिक' (Nucleus) कहते हैं। नाभिक पर धन-विद्युत् की मात्रा होती है और इलेक्ट्रान, जिनकी मात्रा नगण्य होती है, नाभिक के चारों ओर, अपनी २ निश्चित कक्षों में, नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं। पूरे परमाणु के आकार की तुलना में नाभिक का आकार बहुत ही छोटा होता है। नाभिक और परमाणु की बाहरी सतह के बीच वाला भाग भी लगभग खाली ही रहता है। इसी खाली स्थान में इलेक्ट्रान चक्कर काटते रहते हैं। उदाहरण के लिये, हाइड्रोजन के नाभिक का मात्रा—अंक (Mass-number) एक और धन-आवेश एक विद्युत-इकाई ($+e$) होता है। इस नाभिक को 'प्रोटॉन' भी कहते हैं। इसी क्रम में अगला तत्व हीलियम है। इसका मात्रा अंक चार और आवेश (Charge) $+2e$ होता है। नाभिक की मात्रा और नाभिक के आवेश का अन्तर दूर करने के लिये हीलियम के नाभिक को दो प्रोटॉनों और दो न्यूट्रानों से मिलकर बना हुआ माना जाता है। नाभिक के विषय में प्रचलित आजकल के सिद्धान्तों में "न्यूट्रान—प्रोटॉन" सिद्धान्त ही प्रायः सर्वमान्य हैं जिसके अनुसार नाभिक केवल न्यूट्रान और प्रोटान का ही बना हुआ माना जाता है। न्यूट्रॉन और प्रोटॉन को भी अलग २ न मानते हुए एक ही ठोस नाभिक कण के जिसे न्यूक्लियॉन (Nucleon) कहते हैं, भिन्न २ रूप मानते हैं। न्यूट्रॉन और प्रोटॉन एक दूसरे में बदले जा सकते हैं। जब न्यूट्रॉन एक प्रोटॉन में बदलता है तो एक इलेक्ट्रान बनता है और इसी प्रकार जब एक प्रोटॉन न्यूट्रॉन में परिवर्तित होता है तो एक पाजिट्रान (Positron) बनता है।
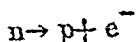
$$n \rightarrow p + e^{-}$$ जहां n=न्यूट्रॉन
p=प्रोटॉन

इस कारण यदि किसी तत्व का परमाणु भार A और परमाणु संख्या Z तो इस तत्व के नाभिक में Z प्रोटॉन और (A-Z) न्यूट्रान होते हैं।

परन्तु नाभिक के इतने थोड़े से स्थान में इतने अधिक न्यूट्रॉन और प्रोटॉन कैसे समा सकते हैं? साथ ही हमें यह भी मालूम है कि एक ही प्रकार के दो आवेश (Similar charges) एक दूसरे को विकर्षित करते हैं। कूलम्ब के व्युत्क्रम-वर्ग-नियम (Coulomb's Inverse Square law) के अनुसार इस विकर्षण-बल (Force of Repulsion) का मान दोनों आवेशों की मात्रा के समानुपाती और उनके बीच की दूरी के वर्ग के व्युत्क्रमानुपाती होता है। इस नियम के अनुसार नाभिक के अन्दर प्रोटॉन जैसे २ एक दूसरे के निकट आयेंगे, उनके बीच विकर्षण-बल बढ़ता जायगा और अन्त में नाभिक की बाहरी सीमा पर इन प्रोटॉनों को छोड़ देगा। बाहर से इन प्रोटॉनों पर यदि आक्रमण हो तो ये सुगमता से नाभिक को छोड़कर विभिन्न दिशाओं में भाग-जावेंगे परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। हमें मालूम है कि नाभिक का आकार लगभग स्थिर ही रहता है और साथ ही, नाभिक के भीतर न्यूट्रॉनों और प्रोटॉनों को एक प्रकार का आकर्षण-बल उन्हें अलग २ होने से रोके रहता है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व यह समस्या वैज्ञानिकों के सन्मुख थी।

नाभिक के भीतर लगने वाले इस आकर्षण-बल का कारण बतलाने का प्रयास कई वैज्ञानिकों ने किया। गेमोव (Gamow) के सिद्धान्त के अनुसार दो समान आवेष्टित बिन्दुओं के बीच लगने वाले विकर्षण-बल का मान लगातार बढ़ता चला जाता है-केवल एक सीमा तक ही। इस सीमा के पार होजाने पर-दोनों बिन्दुओं के निकट आने पर विकर्षण-बल का मान एक साथ घट कर आकर्षण-बल का रूप ले लेता है। उदाहरण के लिये जब दो प्रोटॉन एक दूसरे के निकट आते हैं तो उनके बीच विकर्षण-बल का मान

बढ़ता जाता है। परन्तु जब दोनों प्रोटॉनों के बीच की दूरी 10^{-12} से०मी० हो जाती है तो यह विकर्षण-बल, आकर्षण-बल के रूप में बदल जाता है। इसी कारण परमाणु का नाभिक इतना छोटा होता है। इसी प्रकार दो न्यूट्रॉनों के बीच भी यही बल-कार्य करता है। इसी के फलस्वरूप नाभिक का आकार स्थिर रहता है।

परमाणु-शक्ति (Atomic Energy):— परमाणु-शक्ति को समझने के लिये हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि परमाणु के दो भाग होते हैं :—

(१) केन्द्रीय भाग, जिसे नाभिक (Nucleus) कहते हैं।

(२) बाहरी भाग, जिसमें इलेक्ट्रान रहते हैं जो कि नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं।

साधारण रासायनिक क्रियाओं में परमाणुओं की इलेक्ट्रान-व्यवस्था में अंतर होता है; केन्द्र वैसा का वैसा ही बना रहता है। परन्तु परमाणु-शक्ति के रूप में जब हमें परमाणु से विशाल मात्रा में शक्ति प्राप्त होती है, उस समय परमाणु के इलेक्ट्रानों का नहीं, किन्तु नाभिक (Nucleus) का परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया में परमाणु का कुछ भाग नष्ट हो जाता है और यह विनष्ट भाग आइन्स्टाइन के मात्रा-शक्ति के नियम (Einstein's Mass-Energy Relation) के अनुसार शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। यदि किसी द्रव्य की मात्रा (Mass) m ग्राम हो और उसके रूपान्तर से प्राप्त हुई शक्ति E को यदि हम अर्ग (Ergs) में नापें तो आइन्स्टाइन ने बतलाया कि $E = Mc^2$, जहां c एक स्थिरांक है और इसका मान प्रकाश के वेग के मान के बराबर होता है अर्थात् $C=3\times10^{10}$ (प्रकाश का वेग $= 3\times10^{10}$ सेंटीमीटर प्रति सेकन्ड)। इस प्रकार एक ग्राम द्रव्य से हमें 9×10^{20} अर्ग शक्ति प्राप्त होगी जो कि 200 टन भार वाली एक्स्प्रेस (Express) रेलगाड़ी को 45 मील प्रति घंटा की चाल से लगातार दस वर्ष तक चलाती रहेगी। कितनी अगाध शक्ति मिलती है हमें केवल एक ग्राम पदार्थ से। फिर तो यह इतना सारा द्रव्य हमारे चारों तरफ फैला हुआ है जिसमें अपरिमित शक्ति भरी पड़ी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पदार्थ

शक्ति का गाढ़ा रूप है (Matter is bottled energy) और थोड़े से पदार्थ-नाश से ही बहुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इलेक्ट्रॉन की स्थानापत्ति में पदार्थ का नाश नहीं होता इसलिये अपेक्षाकृत कम शक्ति उत्पन्न होती है।

परमाणु-शक्ति को उत्पन्न करने के लिये नाभिक में परिवर्तन दो प्रकार से किया जा सकता है—

(i) नाभिक को तोड़ने से (Fission—Process)

(ii) नाभिकों को जोड़ने से (Fusion—Process)

(1) नाभिक को तोड़ने से या विखंडन-प्रतिक्रिया (Fission Process):—यूरेनियम धातु प्रकृति में पाई जाने वाली धातुओं में सबसे अधिक भारी होती है। साधारणतया प्रकृति में प्राप्त यूरेनियम में तीन प्रकार के परमाणु पाये जाते हैं:—

U^{238}_{92}, U^{235}_{92} और U^{234}_{92}, जिनकी प्रतिशत मात्रा निम्नानुसार है—

$$U^{238}, = 99{\cdot}282\%$$
$$U^{235}, = 0{\cdot}712\%$$
$$U^{234}, = 0.006\%$$

U^{238}, इस प्रकार U^{235} से 140 गुना अधिक मात्रा में पाया जाता है परन्तु नाभिक को तोड़ने के लिये U^{235} की ही आवश्यकता होती है। यूरेनियम विखंडन की इस घटना को सर्वप्रथम जर्मन वैज्ञानिक हॉन (Hahn) और स्ट्रॉसमेन (Strassman) ने सन् 1938 में मालूम किया था। इस घटना की महत्ता को शीघ्र ही महसूस कर लिया गया और सन् 1940 तक लगभग इस विषय पर सौ से भी अधिक खोज-पत्र (Research papers) प्रकाशित हुए परन्तु शीघ्र ही पूरा विषय 'भूमिगत हो गया' और आगे जानकारी द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर ही वैज्ञानिक साहित्य में प्रकाशित हुई।

विखंडन की क्रिया (Fission-Process समझने के लिये मानलो कि हमारे पास यूरेनियम की कुछ मात्रा है और इसमें कुछ न्यूट्रान छोड़ दिये जाते हैं, U^{235} का नाभिक न्यूट्रान को अपने में समाविष्ट कर लेता है और

अस्थायी U^{236} का नाभिक बनता है जो कि शीघ्र ही विखंडित हो जाता है। विखंडन की क्रिया बड़ी क्लिष्ट (Complex) है और कई प्रकार से हो सकती है जिसमें से एक क्रिया नीचे लिखी समीकरण द्वारा बतलाई जा सकती है।
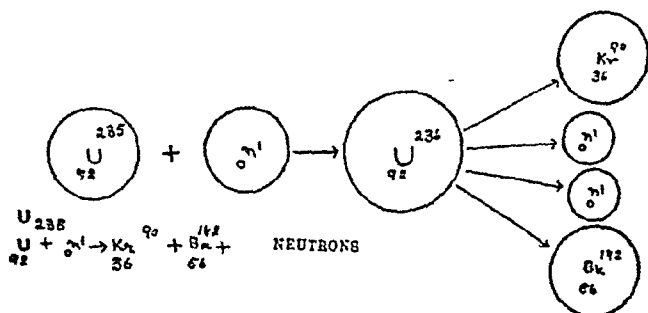
विखंडन में न्यूट्रान निकलने की संख्या स्थिर नहीं है। कहीं किसी प्रतिक्रिया में तीन न्यूट्रान निकलते हैं तो कहीं दो। सरलता के लिये मान लो कि एक न्यूट्रान एक यूरेनियम कण का विखंडन करने के काम आता है और विखंडन के फलस्वरूप दो न्यूट्रान निकलते हैं। ये दो न्यूट्रान अन्य दो यूरेनियम के नाभिकों का विखंडन कर डालेंगे और फलस्वरूप चार न्यूट्रान निकलेंगे। इस प्रकार यह क्रम उस समय तक जारी रहेगा—जब तक कि सारे यूरेनियम

का विखंडन हो जावे। व्यवहार में यह प्रतिक्रिया बहुत देर तक नहीं चलती है। U^{235} पर केवल मन्द न्यूट्रान (Slow Neutrons) का ही प्रभाव पड़ता है और U^{238} पर केवल तीव्रगामी न्यूट्रानों [Fast Neutrons] का। विखंडन में U^{235} का विशेष हाथ रहता है। इसलिये प्रतिक्रिया के सिलसिले को चालू रखने के लिये U^{238} को हटाना आवश्यक है जो कि रासायनिक विधि द्वारा सम्भव नहीं है। केवल भौतिक उपायों जैसे—मास स्पेक्ट्रो ग्राफ [Mass Spectro-

graph] के द्वारा यह संभव है। विखंडन में शक्ति आइन्स्टाइन के मात्रा शक्ति के नियम (Einsteins Mass-Energy Relati n) के अनुसार उत्पन्न होती है। इस कारण यदि एक पौंड U^{235} का विखंडन हो तो कुल उत्पन्न हुई शक्ति एक करोड़ किलोवॉट-घंटे (10 Million Kilowatt Hours) के बराबर होगी या यह शक्ति उतनी ही होगी जितनी कि निम्नलिखित को जलाने से प्राप्त होती है—
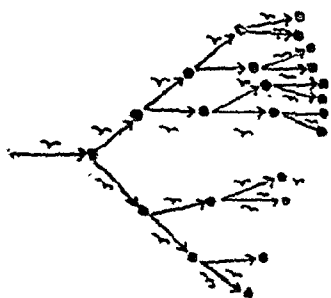
3000 टन कोयला

या 9000 टन उच्च विस्फोटनशील T. N. T.

या 2,50,000 [¼ million] गैलन पेट्रोल

इसका अनुमान लगाते समय हमें यह याद रखना चाहिये कि एक पौंड कोयले के जलने पर केवल 3 या 4 किलोवॉट-घंटा शक्ति प्राप्त होती है।

नाभिकीय विखंडन के व्यावहारिक उपयोग (Practical applications of Nuclear Fission):—नाभिक के विखंडन के फलस्वरूप जो इतनी अगाध मात्रा में शक्ति उत्पन्न होती है उसे व्यावहारिक तौर पर दो प्रकार से काम में लाया जाता है।

(i) परमाणु-रीएक्टर Atomic Reactor or Atomic Pile)

(ii) परमाणु बम (Atom Bomb)

परमाणु-रीएक्टर :—इसमें नियंत्रित दर से शक्ति प्राप्त करने के लिये मन्द न्यूट्रान काम में लाये जाते हैं। तीव्रगामी न्यूट्रानों की गति को मन्द करने के लिये ग्रेफाइट या बेरीलियम धातु या भारी पानी (जिसमें साधारण हाइड्रोजन के स्थान पर भारी हाइड्रोजन या Deutron के परमाणु होते हैं) को काम में लाते हैं और इन्हें मॉडरेटर (Moderator) कहते हैं। इसमें प्राकृतिक यूरेनियम के विशिष्ट आकार के टुकड़े काम में लाये जाते हैं। सर्वप्रथम शिकागो विश्वविद्यालय में दिसम्बर 1942 में प्रसिद्ध वैज्ञानिक फर्मी (Fermi) के निर्देशन में पहला सफल रीएक्टर बना जिसका निरूपण चित्र में किया गया
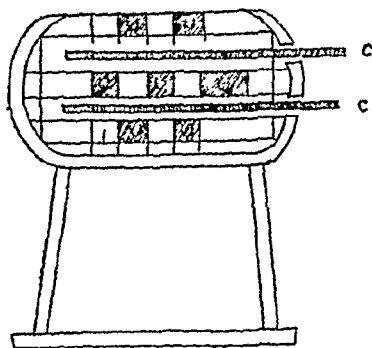
है। रीएक्टर की आकृति चित्र में बतलाये गये अनुसार थी। विशुद्ध ग्रेफाइट को ईंटों की परतों से यह बनाया गया था जिनके बीच में चित्र में बताये अनुसार एकान्तर क्रम से यूरेनियम के टुकड़े U रखे गये। यदि न्यूट्रॉन तीव्र गति से बनने लगते है तो केडमियम छड़ C C को (जो कि न्यूट्रान की अच्छी शोषक है) रख कर उनकी मात्रा कम की जा सकती थी या इनको निकालकर न्यूट्रान की मात्रा अधिक की जा सकती थी। इस यन्त्र के चारों ओर ग्रेफाइट की मोटी तट लगाई गई थी जिससे कि अधिक से अधिक न्यूट्रान परिवर्तित होकर रीएक्टर में ही गिरें। इस यन्त्र में छ: टन यूरेनियम और कुछ सौ टन ग्रेफाइट का उपयोग किया गया था। यंत्र से निकलने वाली हानिकारक किरणों [जिनमें न्यूट्रान मुख्य हैं] से बचने के लिये सीमेण्ट की मोटी दीवार यंत्र के चारों ओर खड़ी कर दी गई थी। यूरेनियम को भी विशुद्ध अल्यूमिनियम की नलिकाओं में रखा था जिसका ताप वायु या पानी की सहायता से 100°C से नीचे ही रखा जाता था। इस यंत्र से केवल 200 वॉट सामर्थ्य [Power] उत्पन्न हुआ परन्तु इस प्रयोग ने आगे का मार्ग खोल दिया। आजकल तो कई हजार किलोवॉट सामर्थ्य वाले रीएक्टर बनने लगे हैं।

प्लुटोनियम [Plutonium]:—मॅकमिलन और एबेलसन (Mec-Millan and Abelson) ने 1940 में सर्व प्रथम प्रयोगशाला में निर्मित एक नये तत्व का आविष्कार किया जिसे नेप्चूनियम (परमाणु संख्या 93) कहते है। न्यूट्रान की जब U^{238}_{92} पर क्रिया होती है तो अस्थायी U^{239}_{92} बनता है जो स्वयं β—कण छोड़कर नेप्चूनियम में बदल जाता है। नेप्चूनियम स्वयं भी रेडियम धर्मी होने के कारण β—कण छोड़कर एक नये तत्व प्लुटोनियम

में बदल जाता है जो कि आसानी से रासायनिक विधि से यूरेनियम से अलग किया जा सकता है। इन प्रतिक्रियाओं को निम्न समीकरणों द्वारा बतलाया जा सकता है—

$$_{92}U^{238} + {_0}n^1 \rightarrow {_{92}}U^{239}$$

$$_{92}U^{239} \rightarrow \bar{e} + {_{93}}Np^{239}$$ (अर्ध जीवन काल T = 23 mins)

$$_{93}Np^{239} \rightarrow \bar{e} + {_{94}}Pu^{239}$$ (T = 2.3 days)
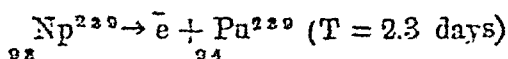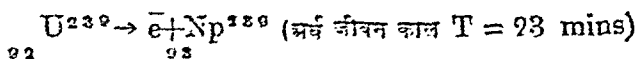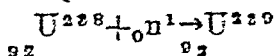
प्लुटोनियम का अर्ध जीवन काल 25,000 वर्ष है और यह स्वयं भी $_{92}U^{235}$ में बदलता रहता है।

$$_{94}Pu^{239} \rightarrow (\alpha\text{-particle})\ {_2}He^4 + {_{92}}U^{235}$$

$$(T = 2.5 \times 10^4 \text{ yrs.})$$
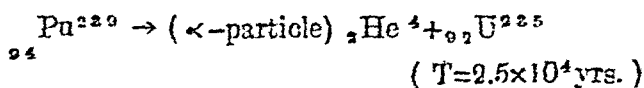
प्लुटोनियम भी रीएक्टर एवं परमाणु बम बनाने के काम आता है अतएव उपयोगी है।

भारत में प्रगति :—रीएक्टर का मुख्य उद्देश्य अणु-शक्ति को लाभदायी शक्ति-स्रोत के रूप में लाना है। एशिया के देशों में भारत का अणु शक्ति सम्बन्धी कार्यक्रम सबसे बढ़ा-चढ़ा और व्यापक है। इसका संचालन भारतीय अणुशक्ति कमीशन के निरीक्षण और नियन्त्रण में होता है जिसकी स्थापना सन् 1948 में हो चुकी है। भारत के पास अपने लिये पर्याप्त मात्रा में यूरेनियम है। इसके अतिरिक्त भारत में मोनाजाइट (Monazite) के भण्डार, जो कि ट्रावनकोर में पाये जाते हैं और जिनसे थोरियम निकलता है, संसार में सम्भवतः सबसे अधिक हैं 4 अगस्त, 1956 के दिन भारत में "अप्सरा" (Swimming-pool Reactor) का उद्घाटन बम्बई के पास ट्राम्बे (Trombay) में हुआ। जैसा इसके नाम से विदित है, यह रीएक्टर पानी का एक तालाब है जिसमें यूरेनियम के छड़ लटकाये गये हैं। यूरेनियम की छड़ों में 50% U^{235} की मात्रा है, जिन्हें अल्यूमिनियम से बने आवरण में रखा गया है। इसमें कैडमियम से आवृत्त अल्यूमिनियम की चार छड़ें न्यूट्रान-शोषक के रूप में काम में लाई गई हैं। मॉडरेटर (Moderator)

शीत कारक (Coolant) और सुरक्षा की दृष्टि से भारी पानी का उपयोग किया जा रहा है। इसके चारों ओर मोटी सीमेण्ट की दीवार है जिसकी मोटाई नीचे 8½ फीट है और यह ऊपर पतली होती चली गई है। इस रीएक्टर का मुख्य उद्देश्य केवल अनुसन्धान (Research) है, विद्युत्-उत्पादन नहीं।

परमाणु-बम (Atom bomb) :— विखंडन-प्रक्रिया से प्राप्त अगाध-शक्ति को विनाश के क्षेत्र में परमाणु-बम के रूप में प्राप्त किया जाता है। विखंड को प्रक्रिया एक शृंखला के समान (Chain-reaction) है जिसमें एक न्यूट्रॉन यूरेनियम के किसी एक नाभिक पर प्रहार करके दो न्यूट्रॉन उत्पन्न कर देता है, फिर उससे चार, आठ, सोलह, बत्तीस आदि इस क्रम से न्यूट्रॉनों की संख्या बढ़ती जाती है। परन्तु साथ ही कुछ न्यूट्रॉन वातावरण में इधर उधर फैल भी जाते हैं अतएव जब तक हम एक निश्चित आकार में विखंडनीय वस्तु न लें, तब तक यह क्रिया अपने आप नहीं चलती रहेगी। यह आकार Critical size कहलाता है। इसके लिये गोल आकार सबसे अधिक उपयुक्त होता है। इसलिये यदि किन्हीं दो विखंडनीय टुकड़ों को मिलाने पर उनका आकार Critical size से अधिक हो जाता है, तो भयंकर विस्फोट होगा और अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होगी। एक साधारण परमाणु बम 20,000 टन T.N.T के समान होता है और यह बम एक ढाई लाख आबादी वाले नगर को नष्ट कर सकता है। संसार के इतिहास में 6 अगस्त 1945 का दिन कभी नहीं भुलाया जा सकेगा जिस दिन प्रातः सवा आठ बजे जापान के हिरोशिमा (Hiroshima) नगर पर पृथ्वी से 2000 फीट की ऊंचाई पर परमाणु बम गिराया गया था। बम के गिरने के एक मिनट बाद ही 8 ,000 आदमी तत्काल मर गये अस्पताल और अन्य भवन तथा संचार और संवाहन के समस्त साधन नष्ट भ्रष्ट हो गये। इसी प्रकार 9 अगस्त 1915 को दूसरा परमाणु बम नागासाकी शहर पर गिराया गया जिसके फलस्वरूप कुल मरने वालों की संख्या एक लाख से ऊपर थी। परमाणुओं के विस्फोट से उत्पन्न रेडियम धर्मी धूल (Radio-active Dust)

काफी ऊंचाई पर वायुमंडल में छा जाती है जिसका विनाशकारी प्रभाव काफी समय तक रहता है।

परमाणु-शक्ति को प्राप्त करने की दूसरी विधि—नाभिकों के संयोग से (Fusion-Process) :— जब किसी हल्के तत्व (Light Element) के या किन्हीं दो हल्के तत्वों के नाभिक आपस में संयोग करते हैं, तो एक नया तत्व बनता है जिसकी मात्रा (Mass) संयोग करने वाले तत्वों के नाभिकों की मात्रा से कुछ कम होती है और विनष्ट हुई मात्रा, आइन्स्टाइन के मात्रा-शक्ति के नियमानुसार, शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इन प्रतिक्रियाओं को होने के लिये लाखों डिग्री सेंटीग्रेड ताप (Temperature) चाहिये। इस प्रकार यदि हाइड्रोजन परमाणु के चार नाभिक संयोग करके हीलियम परमाणु का एक नाभिक बनायें तो एक पौंड हाइड्रोजन हीलियम में पूर्णतया परिवर्तित होने पर दस करोड़ किलोवॉट-घंटा (100 Million Kilowatt Hour) शक्ति उत्पन्न करेगा, जब कि एक पौंड कोयले के जलने से केवल 3 या 4 किलोवॉट घंटा शक्ति उत्पन्न होती है।

$$H^1 + H^1 + H^1 + H^1 \rightarrow He^4.$$
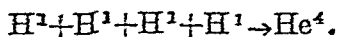
इसी प्रकार यह प्रतिक्रिया भी संभव है— ${}_3Li^7 + {}_1H^1 \rightarrow {}_2He^4 + {}_2He^4$. लिथियम परमाणु का नाभिक हाइड्रोजन के परमाणु के नाभिक से क्रिया करके हीलियम के दो नाभिक कण उत्पन्न करता है।

हाइड्रोजन बम (Hydrogen Bomb) :—यह परमाणु-बम से करीब एक हजार गुना अधिक विनाशकारी होता है। यह दो करोड़ (20 Million) टन T.N.T के समान होता है। इसमें परमाणु बम को विस्फोट कराकर प्रतिक्रिया के अनुरूप ताप लाया जाता है और संभवतः निम्न क्रियायें होती हैं—

$${}_1H^2 + {}_1H^2 = {}_0n^1 + {}_2He^3 + \text{energy}.$$

$${}_1H^2 + {}_1H^2 = {}_1H^1 + {}_1H^3 + \text{energy}.$$

(Tritium)

$${}_1H^2 + {}_1H^3 = {}_0n^1 + {}_2He^4 + \text{energy}.$$
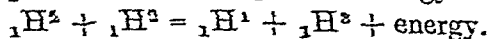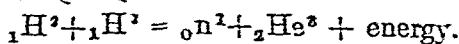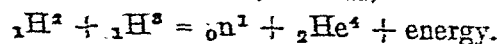
इस बम के प्रभाव से 5 मील के अर्धव्यास में पूरा विनाश हो जाता है।

सूर्य और तारों की शक्ति का स्रोतः-(Source of Solar and Stellar energy) :—सूर्य और तारों की शक्ति का स्रोत भी ये ही नाभिकीय प्रतिक्रियायें (Nuclean reactions) हैं जिनके लिये आवश्यक ताप सूर्य आदि तारों के मध्य भाग में मिलता है। सूर्य के धरातल (Surface) का ताप 6000°c है जब कि उसके आंतरिक भाग का ताप 20,000,000°c दो करोड़ °c) केन्द्र पर है। इस ताप पर हाइड्रोजन-परमाणु के नाभिक हीलियम—परमाणु के नाभिक के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं और इन प्रक्रियाओं के कारण अगाध मात्रा में शक्ति बनती रहती है।

अ तरिक्ष किरणें (Cosmic Rays) :—सन् 1900 में विल्सन, ऐलसटर और गीटेल ने यह अवलोकन किया कि एक साधारण विद्युत् दर्शक (Electro scope) की आवेष्टितपत्तियों का पूर्णतः पृथक करण (Insulation) करने पर भी वे धीरे २ सिकुड़ती जाती हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि इन पर कुछ ऐसे विकिरण (Radiations) गिर रहे हैं जो इनके आवेश को नष्ट कर रहे हैं। रदरफोर्ड और कुक (Cooke) ने 1903 में विद्युत् दर्शक यंत्र के चारों ओर मोटी लोहे और सीसे की चादरें लगा कर इस घटना का अध्ययन किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि कुछ भेदन शील (Penetrating) विकिरण इस यंत्र के बाहर से प्रवेश कर रहे हैं। गोकल, हेस और कोल्हास्टर नामक जर्मन वैज्ञानिकों ने विद्युत् दर्शक यंत्रों को गुब्बारों में भर कर पृथ्वी से लगभग 9000 मीटर दूर ऊपर भेजा (1909-1914)। आश्चर्य की बात यह निकली कि इतनी ऊंचाई पर इन विकिरणों का प्रभाव घटने के बजाय बढ़ गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन विकिरणों का उद्गम पृथ्वी के वायुमंडल से बाहर अनन्त आकाश में है। सन् 1926 से 1931 तक इन अज्ञात किरणों का अध्ययन करने के लिये मिलिकन और बोवेन ने कई प्रयोग किये। विद्युत् दर्शक यंत्रों को आवेष्टित करके पूरी तरह से बन्द करके गहरी झीलों में उतारा गया। यह देखा गया कि जैसे २ पानी की गहराई बढ़ती जाती है, इन विकिरणों की तीव्रता घटती जाती है। इससे स्पष्ट हो गया कि इन विकिरणों का स्रोत

किसी परमाणु की अन्य परमाणु से संयोग कर स्थायी स्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति तीन प्रकार से संतुष्ट हो सकती है। इसी कारण, इलेक्ट्रानों के प्रबन्ध-परिवर्तन से निम्न तीन प्रकार के परमाणु-बंधन बनते हैं :—

(i) वैद्युत्-बन्धन (Electro-Valent Linkage)

(ii) सह-बन्धन Co-Valent Linkage)

(iii दाता-बन्धन (Co-ordinate or Dative Linkage)

वैद्युत् बन्धन:—(Electro Valent Linkage):—अधिकांश अकार्बनिक Inorganic) यौगिकों के अणुओं के निर्माण को उनके परमाणुओं के इलेक्ट्रानों के स्थानान्तर (Displacement of Electrons) से स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, नमक का एक अणु सोडियम के एक परमाणु और क्लोरीन के एक परमाणु के संयोग से बनता है। सोडियम के बाहरी कक्ष में एक इलेक्ट्रान होता है और क्लोरीन के बाहरी कक्ष में सात इलेक्ट्रान होते हैं। इसलिये इनके संयोग करने पर सोडियम जब अपना एक इलेक्ट्रान क्लोरीन को दे देता है तो दोनों को बाहरी कक्षों में आठ आठ इलेक्ट्रान हो जाते हैं और इस प्रकार स्थिति स्थायी हो जाती है। एक इलेक्ट्रान के आदान-प्रदान से सोडियम धनावेश-युक्त और क्लोरीन ऋणावेश-युक्त हो जाता है। अपनी विद्युत्-युक्त अवस्था में यह परमाणु अयन (ion) कहलाता है। विपरीत विद्युत्-गुण के कारण ये अयन एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं और निकट आने का प्रयत्न करते हुए सोडियम क्लोराइड या नमक का एक अणु बनाते हैं जो कि पूर्ण अवस्था में विद्युत् रूप से उदासीन होता है।

$$\overset{\times}{Na} + \ddot{\underset{..}{Cl}}: \longrightarrow \overset{+}{Na}\left(\overset{\times}{\cdot}\ddot{\underset{..}{Cl}}:\right)^{-} \text{ OR } \overset{+}{Na}\overset{-}{Cl}.$$

Na: 2, 8, 1 — एक इलेक्ट्रान देता है। Cl: 2, 8, 7 — एक इलेक्ट्रान लेता है। Na^+: 2,8; Cl^-: 2, 8, 8.
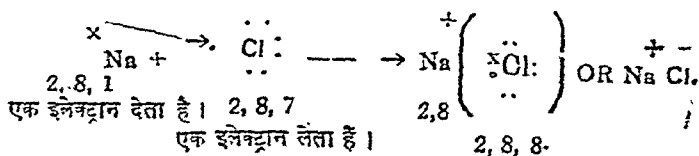
इलेक्ट्रानों के स्थानान्तर विधि से प्राप्त यौगिकों को वैद्युत्-बन्धनीय यौगिक (Electro-valent compounds) कहते हैं और इस प्रकार के

बन्धन को वैद्युत-बन्धन (Electro-Valent Linkage) कहते हैं। इस प्रकार स्थापित संयोजकता को वैद्युत-बन्धनीय संयोजकता (Electro-valency) कहते हैं। घुलने पर ऐसे यौगिक अयनों को स्वतंत्र कर देते हैं अथवा इनका आयनन (Ionisation) हो जाता है।

सहबन्धन (Co-valent Linkage) :— कार्बनिक (Organic) और अन्य अधातु (Non-metals) तत्वों के यौगिक बनने में प्रायः इलेक्ट्रानों का स्थानान्तर नहीं होता है परन्तु बाहरी कक्ष के इलेक्ट्रान अपनी २ कक्ष को न छोड़कर दूसरे की बाहरी कक्ष में भाग लेते हैं इस प्रकार कि जैसे ये इलेक्ट्रान दोनों परमाणुओं की संपत्ति (Property) हों और इनके सहयोग से दोनों ही परमाणुओं की अष्ट समूह (Octet) सम्बन्धी स्थायी स्थिति बन जाती है। ऐसी स्थिति प्रायः उन परमाणुओं की होती है जिनके बाहरी कक्ष में स्थायी समूह के लिये आवश्यक कुछ ही इलेक्ट्रान कम होते हैं। जैसे क्लोरीन–परमाणु के बाहरी कक्ष में सात इलेक्ट्रान होते हैं। ऐसे दो परमाणुओं में से प्रत्येक को एक-एक और इलेक्ट्रान की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में दोनों परमाणु एक एक इलेक्ट्रान देकर सहयोग कर लेते हैं अतएव इलेक्ट्रानों का स्थानान्तरण हुए बिना ही दोनों परमाणुओं के बाहरी कक्षों में आठ-आठ इलेक्ट्रानों जैसा ही प्रभाव स्थापित हो जाता है और फलस्वरूप क्लोरीन गैस का एक स्थायी अणु बन जाता है।

Shared electrons.

$$\overset{\times\times}{\underset{\times\times}{{}^{\times}_{\times}Cl\times}} + \overset{..}{\underset{..}{\cdot Cl:}} \longrightarrow \overset{\times\times}{\underset{\times\times}{{}^{\times}_{\times}Cl}}\overset{\times}{\cdot}\overset{..}{\underset{..}{Cl:}} \quad OR \quad Cl-Cl.$$
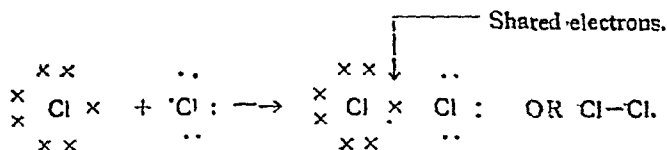
इसी प्रकार आक्सीजन एवं हाइड्रोजन तथा पानी के अणुओं का भी निर्माण होता है जैसा कि नीचे बतलाया गया है।

$$:\overset{..}{O}: \; \overset{\times\times}{{}^{\times}_{\times}O{}^{\times}_{\times}} \quad OR \quad O=O \;\Big|\; H^{\cdot} + {}_{x}H \rightarrow H\underset{x}{\cdot} H \; OR \; H\text{-}H$$

$$2H^{x} + \cdot\overset{..}{\underset{..}{O}}\cdot \rightarrow H\cdot_{x}\overset{..}{\underset{..}{O}}\underset{x}{\cdot} H \quad OR \quad H—O—H.$$
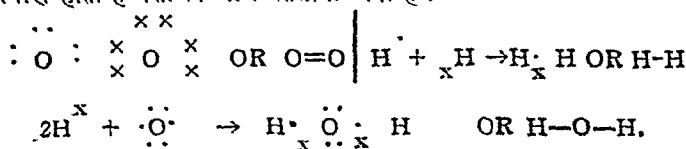
इस प्रकार के इलेक्ट्रॉन सहयोग को रेखा से बतलाया जाता है और इस बंधन को सह-बन्धन (Co-valency) कहते हैं। ऐसी संयोजकता को सह-संयोजकता (Co-valency) कहते हैं। सहबन्धित यौगिकों का आयनन (Ionisation) नहीं होता है और इनके अणुओं के किसी भाग में विद्युत् का संग्रह न होने के कारण ये अविद्युतीय (Non-polar) होते हैं।

दाता-बन्धन (Co-ordinate or Dative Linkage) :— यह एक विशेष प्रकार का सह-बन्धन है जिसमें एक परमाणु ही केवल, इलेक्ट्रान युग्म (Electron pair) देता है और दूसरा परमाणु, अपने इलेक्ट्रान सहयोग में दिये बिना ही, इस युग्म को उपयोगार्थ ग्रहण कर लेता है। इलेक्ट्रान प्रदान करने वाला परमाणु दाता (Donor) और प्राप्त करने वाला ग्राहक (Acceptor) कहलाता है। इसमें किसी परमाणु की बाहरी कक्ष तो पूर्ण होती है परन्तु यह किसी दूसरे परमाणु को कुछ इलेक्ट्रान देकर स्थायी स्थिति प्राप्त कराने में सहायक होता है। इस प्रकार स्थापित हुए बन्धन को दाता-बन्धन (Co-ordinate or Dative Linkage) कहते हैं और संयोजकता को दाता-बन्धन संयोजकता (Co-ordinate Valency) कहते हैं। इस प्रकार यदि A और B दो परमाणु हों तो,

$A: + B \rightarrow A:B$ or $A \rightarrow B$. (दाता बन्धन)

$A^{\cdot} + B^{\cdot} \rightarrow A:B$ or $A — B$. (सह बन्धन)
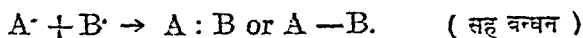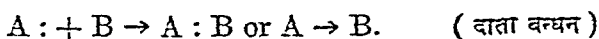
दाता-बन्धन के समय A दाता-परमाणु है और B ग्राहक-परमाणु। दाता-बन्धन को तीर के चिन्ह से प्रकट करते हैं जिसका अग्रभाग ग्राहक-परमाणु की ओर होता है। दाता-बन्धन की स्थापना का कारण यह है कि यदि किसी परमाणु A की बाहरी कक्ष में स्थानान्तर विधि से या सह-बन्धन से आठ-इलेक्ट्रानों का समूह एकत्रित हो जाय तो इस परमाणु के अन्य इलेक्ट्रानों के साथ बन्धन करने की क्षमता तो नहीं रहती परन्तु यदि ऐसा परमाणु किसी अन्य परमाणु B के साथ संयोग करे तो सहयोग के लिये A अपना स्वतंत्र इलेक्ट्रान-युग्म (Electron-Pair) दे तो सकता है परन्तु दूसरे परमाणु B के इलेक्ट्रानों में भाग नहीं ले सकता। इसके विपरीत,

परमाणु B में इलेक्ट्रानों के पर्याप्त न होने के कारण इलेक्ट्रानों को ग्रहण करके स्थायी स्थिति प्राप्त करने की प्रवल इच्छा वनी रहती है और इसी कारण परमाणु B सहयोग के लिये बराबर का हिस्सा दिये विना ही इलेक्ट्रान ग्रहण करने को उत्सुक रहता है। उदाहरण के लिये पानी के एक अणु में आक्सीजन परमाणु के लिये आवश्यक आठ इलेक्ट्रान पूरे हो गये हैं और इसमें दो स्वतंत्र इलेक्ट्रान–युग्म हैं। यदि यह इनमें से एक दूसरे आक्सीजन परमाणु को दे देवे, तो हाइड्रोजन–पेरा आक्साइड नामक एक यौगिक का एक अणु बन जावेगा।

$$H \ \overset{\cdot}{\underset{\times\cdot\cdot\times}{\cdot O \cdot}} \ H + \overset{\circ\circ}{\underset{\circ\circ}{O}}\,\vdots \ \rightarrow H \ \overset{\cdot\cdot}{\underset{\times\cdot\cdot\times}{\cdot O \cdot}} \ H \ \text{OR} \ H-\underset{\underset{O}{\downarrow}}{O}-H$$

$$\vdots O \vdots$$
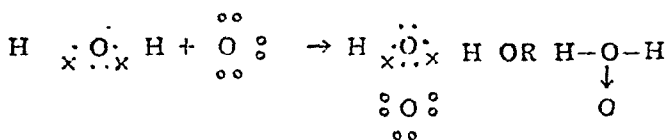
सल्फर डाइ-आक्साइड का अणु भी ऐसा ही उदाहरण है—

$$:\overset{\cdot\cdot}{O}: \ \ \overset{\times\times}{{}^{\times}_{\times}S^{\times}_{\times}} \ \ \overset{\circ\circ}{\underset{\circ\circ}{O}}\,\vdots \quad \text{OR} \quad O = S \longrightarrow O.$$
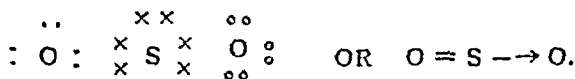
इस वन्धन से प्राप्त अणु यद्यपि अविद्युतीय होता है परन्तु फिर भी अणु के एक भाग में कुछ विद्युत् एकत्र व दूसरे भाग में कुछ कमी होने के कारण इस प्रकार के अणुओं को अर्धविद्युतीय (Semi-Polar) अणु भी कहते हैं।

ऊपर दिये गये विवेचन से हमें यह पता चलता है कि क्यों एक परमाणु स्वतंत्र अवस्था में नहीं रह सकता है और किस प्रकार वह अपने समान या अपने से भिन्न परमाणुओं से संयोग करके अणुओं का निर्माण करता है, जो कि स्वतंत्र अवस्था में रह सकते हैं। अब हम उन नियमों का अध्ययन करेंगे जिनके आधार पर विभिन्न तत्वों के परमाणु और अणु आपस में संयोग करके नये यौगिकों के अणु बनाते हैं। इन नियमों को रासायनिक संयोग के नियम (Laws of Chemical Combination) कहते हैं। ये निम्न प्रकार हैं—

(1) द्रव्य के अविनाशत्व का नियम (Law of Conservation of Mass)

(2) स्थिर-अनुपात का नियम (Law of Constant Proportions)

(3) गुणक-अनुपात का नियम (Law of Multiple Proportions)

(4) व्युत्क्रम-अनुपात का नियम (Law of Reciprocal Proportions)

(5) गैसीय आयतन का नियम (Law of Gaseous Volumes

द्रव्य के अविनाशत्व का नियम (Law of Conservation of Mass):—लोमोनो सोफ [Lomonessoff] ने सर्व प्रथम सन् 1756 में इस नियम का वर्णन किया और फिर अन्य वैज्ञानिकों, जैसे लेवोजियर, स्टॉस, मार्ले आदि ने इसे स्वीकार कर लिया। इस नियम के अनुसार—किसी भी रासायनिक परिवर्तन में संयोग करने वाले पदार्थों [Reacting Substances] की कुल मात्रा [Mass] बने हुए पदार्थों (Products) की कुल मात्रा के बराबर होती है अथवा किसी रासायनिक क्रिया में भाग लेने वाले सब पदार्थों की सम्पूर्ण सम्मिलित मात्रा समस्त परिवर्तन में अपरिवर्तित रहती है।

लेंडोल्ट (1900–1908) ने इस नियम की जांच करने के लिये कई प्रयोग किए और इस नियम की सत्यता को सिद्ध कर दिया। इन्होंने प्रयोगों के लिये ऐसी क्रियाओं को चुना था जिनमें अधिक ऊष्मा (Heat) की उत्पत्ति न हो। उन्होंने नीचे दिये गये उपकरण की सहायता से कुछ क्रियाओं का अध्ययन किया जिनमें से दो नीचे दी जाती है—

(i) आयोडिन+सोडियम सल्फाइट = सोडियम आयोडाइड+सोडियम सल्फेट

(ii) आयोडिक अम्ल+हाइड्रियोडिक अम्ल = आयोडिन+पानी।
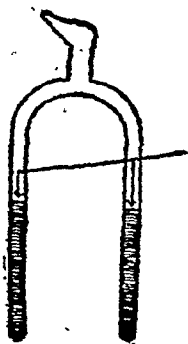
उपकरण में, संयोग करने वाले पदार्थों को अलग २ एक एक भुजा में ले लिया गया और फिर नली को सीलबन्द कर दिया गया। नली का भार अत्यन्त सूक्ष्म ग्राही [Sensitive] तुला द्वारा मालूम कर लिया गया। नली में द्रवों को मिलाने पर रासायनिक क्रिया हुई। कुछ समय तक ठंडा करने के पश्चात् जब फिर उस नली को तोला गया तो भार में कोई अन्तर नहीं आया।

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर यह मालूम हुआ है कि यह नियम काफी हद तक सही है। परन्तु लगभग सभी क्रियाओं में जिनमें शक्ति उत्पन्न होती है, द्रव्य के कुछ भाग का चाहे वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो—विनाश होता है और फलस्वरूप मात्रा में कमी भी होती है जो कि आइन्स्टाइन के मात्रा-शक्ति के सम्बन्ध $E=mc^2$ के अनुसार होता है जिसमें E शक्ति, m मात्रा और c प्रकाश का वेग है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिन क्रियाओं का हम प्रयोगशाला में अध्ययन करते हैं, उनमें द्रव्य का शक्ति में रूपान्तर इतनी थोड़ी मात्रा में होता है कि किसी उच्च से उच्च सूक्ष्म ग्राही रासायनिक तुला के द्वारा भी नहीं मालूम किया जा सकता है।

स्थिर अनुपात का नियम (Law of Constant Proportions):—इस नियम का वर्णन सर्वप्रथम प्राउस्ट (Proust) ने 1799 में किया था। इस नियम के अनुसार जब किन्हीं दो या अधिक तत्वों के संयोग से वही एक यौगिक बनता है, तो फिर वह चाहे जिस विधि से बनाया जावे, उसमें उन तत्वों के भारों (Weights) का अनुपात एक ही होगा अर्थात् किसी योगिक का संगठन (Composition) निश्चित होता है। उदाहरण के लिये कार्बन डाइ-आक्साइड गैस हम कई विधियों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं जैसे, (i) कार्बन जलाकर (ii) केल्शियम कार्बोनेट को गर्म करके (iii) सोडियम

बाइ-कार्बोनेट को गर्म करके, इत्यादि। परन्तु हर बार हम यह देखेंगे कि कार्बन-डाइ-आक्साइड में भार की दृष्टि से कार्बन के बारह भाग सदा ऑक्सीजन के बत्तीस भागों से संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार, चाहे किसी भी यौगिक का विश्लेषण किया जाय, उसका संगठन हमेशा एक ही रहता है यद्यपि वह किसी भी विधि से बनाया गया हो। आज तक ऐसे यौगिक का पता नहीं चला है जिसका संगठन बनाने की विधि पर निर्भर हो।

स्टॉस [1860-65] और रिचर्ड (1939) के प्रयोगों ने इस नियम की सत्यता को स्थापित कर दिया है।

समस्थानीय तत्वों [Is topes] की खोज से यह पता चला है कि यह नियम सर्वथा सदा सत्य नहीं है। उदाहरण के लिये यदि हम लेड क्लोराइड बनाते समय सीसे के दोनों समस्थानीय तत्वों का, जिनके परमाणु-भार 206 और 208 हैं, प्रयोग करें तो एक समय लेड क्लोराइड के अणु का भार ($PbCl_2 = 206 + 2 \times 35·5$) = 277 होगा और दूसरे समय ($208 + 2 \times 35·5$) अणु भार 279 होगा। लेड क्लोराइड में दोनों समय सीसे और क्लोरीन के परमाणुओं का भार भिन्न भिन्न होगा, जो कि स्थिर अनुपात के नियम के विपरीत है। दोनों प्रकार के लेड क्लोराइड, के रासायनिक गुण समान ही होते हैं।

गुणक-अनुपात का नियम (Law of Multiple Proportions):—इस नियम का वर्णन डॉल्टन ने 1803 में किया था। इस नियम के अनुसार जब दो तत्व परस्पर संयोग करके दो या दो से अधिक यौगिक बनाते हैं तो एक तत्व के वे भार जो दूसरे तत्व की किसी निश्चित मात्रा से संयोग करते हैं, परस्पर एक सरल अनुपात होते हैं।

उदाहरण के लिये नाइट्रोजन और ऑक्सीजन संयोग करके पांच प्रकार के स्थायी ऑक्साइड बनाते हैं। आक्सीजन की मात्राएं, जो नाइट्रोजन की निश्चित मात्रा, 28 ग्राम, के साथ संयोग करती हैं, निम्न-लिखित हैं :—

सं०	आक्साइडों के नाम	सूत्र	भार की दृष्टि से संगठन	
			नाइट्रोजन	आक्सीजन
1	नाइट्रोजन आक्साइड	N_2O	28	16×1
2	नाइट्रोजन डाइ आक्साइड	N_2O_2	28	16×2
3	नाइट्रोजन ट्राइ आक्साइड	N_2O_3	28	16×3
4	नाइट्रोजन टेट्रा आक्साइड	N_2O_4	28	16×4
5	नाइट्रोजन पेन्टा आक्साइड	N_2O_5	28	16×5

हम देखते हैं कि आक्सीजन की भिन्न २ मात्राएं, जो नाइट्रोजन की एक निश्चित मात्रा से संयोग करती हैं, 1 : 2 : 3 : 4 : 5 के सरल अनुपात में हैं। इसी प्रकार अन्य यौगिकों के अणुओं की रचना भी समझाई जा सकती है, जो कि किन्हीं दो तत्वों के संयोग करने पर दो या उससे अधिक यौगिक बनाते हैं। यहां भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह नियम उन्हीं यौगिकों के साथ लागू होगा जो कि एक ही समस्थानीय तत्व (Same Isotope) या निश्चित संगठन वाले समस्थानीय तत्त्वों के मिश्रण से बनते हैं।

व्युत्क्रम-अनुपात का नियम (Law of Reciprocal Proportions):—इस नियम का वर्णन रिचटर (Richter) ने 1792 में किया था। इस नियम के अनुसार यदि किसी तत्त्व (A) के एक निश्चित भार (X) से दो अन्य तत्त्वों (B और C) के भिन्न २ भार (Y और Z क्रमशः) अलग २ संयोग करते हों और यदि इन दो तत्त्वों (B और C) में परस्पर
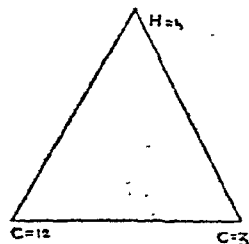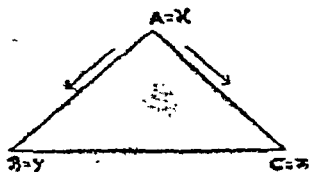
संयोग सम्भव हो, तो ये तत्त्व या तो इन्हीं भारों के अनुपात (Y : Z) में संयुक्त होंगे या इसके सरल गुणक अनुपात में (जैसे 2Y : Z या 3 Y : Z आदि)। यह नियम ऊपर के चित्रों से स्पष्ट हो जावेगा:—

उदाहरण के लिये कार्बन व ऑक्सीजन दोनों हाइड्रोजन के साथ तथा आपस में भी संयोग करते हैं। इस कारण हम मेथेन (CH_4), पानी (H_2O) और कार्बन डाई-ऑक्साइड (CO_2) यौगिकों का अध्ययन करेंगे।

H_2O में 16 ग्राम ऑक्सीजन 2 ग्राम हाइड्रोजन के साथ संयोग करता है।

या 32 ग्राम ऑक्सीजन 4 ग्राम हाइड्रोजन के साथ संयोग करता है।

CH_4 में 12 ग्राम कारबन 4 ग्राम हाइड्रोजन के साथ संयोग करता है। इस प्रकार यदि कार्बन और आक्सीजन संयोग करें तो वे 12 : 32 के अनुपात से या इसी अनुपात के किसी सरल गुणन खण्ड में संयोग करेंगे और कार्बन डाइ आक्साइड (CO_2) में हम देखते हैं कि दोनों तत्त्व इसी अनुपात (12 : 32) में संयोग करते हैं।

गैसीय आयतन का नियम (Law of Gaseous Volumes):— इस नियम का वर्णन गेलुसाक (Gay Lussac) ने सर्वप्रथम सन् 1898 में किया था। इस नियम के अनुसार जब गैसें संयोग करती हैं, तो उनके संयुक्त होने वाले आयतनों में सरल अनुपात होता है और यदि क्रिया-फल भी गैसीय पदार्थ ही हो, तो उसके आयतन का भी उन गैसों के आयतन से सरल अनुपात होता है बशर्ते कि सब आयतन एक ही दबाव और ताप पर मापे जाने चाहियें। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन का एक आयतन क्लोरीन के एक आयतन से संयोग कर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का दो आयतन बनता है। (अनुपात 1 : 1 : 2) इसी प्रकार हाइड्रोजन के दो आयतन ऑक्सीजन के एक आयतन से मिलकर पानी की वाष्प के दो आयतन बनाते हैं। (अनुपात 2 : 1 : 2)। इसके अतिरिक्त, नाइट्रोजन का एक आयतन हाइड्रोजन के तीन आयतन से मिलकर अमोनिया के दो आयतन बनाता है (अनुपात 1 : 3 : 2) इस प्रकार प्रत्येक दशा में संयोग करने वाली गैसों के आयतन तथा संयोग से बनी हुई गैस के आयतन में एक सरल सम्बन्ध पाया जाता है।

ऊपर दिये हुए विवेचन से हमें द्रव्य के विभिन्न अणुओं के निर्माण के विषय में जानकारी मिलती है। क्योंकि विभिन्न परमाणु आपस में संयोग करके अणु बनाते हैं और फिर भिन्न २ अणु या परमाणु किस प्रकार और किन

नियमों के आधार पर आपस में संयोग करके इस संसार में भांति-भांति की वस्तुओं का निर्माण करते हैं, इन सबका संक्षेप में अध्ययन करने का प्रयास हमने किया है। इस अध्ययन से हमें यह मालूम होता है कि प्रकृति में अणुओं के निर्माण की क्रिया कितनी वैज्ञानिक है!

प्रश्न

१—अणुओं का निर्माण किस प्रकार होता है? उदाहरण देकर समझाओ।

२—अणुओं का निर्माण किन नियमों पर आधारित है? वे नियम लिखकर उन्हें उदाहरण-सहित समझाओ।

३—निम्न लिखित पर टिप्पणियां लिखोः—

(i) संयोजकता का इलेक्ट्रॉनिक सिद्धान्त (ii) रासायनिक संयोग के नियम।

अध्याय ८

कार्बन की अद्भुतता

(Uniqueness of Carbon)

प्रस्तावना:—कार्बन पृथ्वी पर विद्यमान तत्वों में से एक प्रमुख तत्व है। यद्यपि पृथ्वी पर पाये जाने वाले तत्वों में कार्बन केवल 0.2 प्रतिशत के लगभग ही मिलता है परन्तु यह तत्व जन्तु और वनस्पति के जीवन निर्माण में अत्यन्त आवश्यक है। यह जीव शरीरों का एक आवश्यक अंग है। इस समय तक ज्ञात रासायनिक यौगिकों की संख्या साढ़े दस लाख के लगभग है जिनमें कार्बन के यौगिकों की संख्या लगभग दस लाख है और शेष अन्य तत्वों के यौगिकों की सम्मिलित संख्या केवल पचास हजार के करीब है। और भी प्रति-दिन नये कार्बनिक यौगिक बनते जाते हैं। इस कारण इसके यौगिकों का अध्ययन रसायन-विज्ञान के एक अलग विभाग में किया जाता है जिसे कार्ब-निक रसायन-विज्ञान कहते हैं। शेष बचे हुए वे समस्त पदार्थ, जिनकी उत्पत्ति खनिजों से होती है जैसे नमक, चूना, गन्धक, लोहा इत्यादि, अकार्बनिक रसायन विज्ञान में अध्ययन किये जाते हैं। अब हम कार्बन के विषय में अध्ययन करेंगे।

प्रकृति में कार्बन की उपस्थिति:—प्रकृति में शुद्ध व मुक्त रूप से कार्बन हीरे व ग्रेफाइट के रूप में मिलता है, जिनका ज्ञान हमें प्राचीन काल से ही है। कुछ मात्रा में स्वतन्त्र कार्बन कोल (Coal) में भी पाया जाता है। [यह जानकर आश्चर्य ही होता है कि गुणों में बिल्कुल भिन्न पदार्थ, कोयला और हीरा, एक ही तत्व कार्बन के दो भिन्न रूप हैं। लेवोइजर ने सन् 1775

में यह बतलाया कि कोयले का टुकड़ा और हीरा, रासायनिक दृष्टि से एक ही है—क्योंकि दोनों जलने पर कार्बन-डाइ-आक्साइड गैस देते हैं।]

संयुक्त अवस्था में यह जीव, जन्तुओं और पौधों के शरीरों में, प्रोटीन कार्बोहाइड्रेट और दूसरे जटिल यौगिकों के रूप में पाया जाता है। वायु मंडल में यह कार्बन डाइ-ऑक्साइड के रूप में पाया जाता है। हाइड्रोकार्बन के रूप में यह मार्श गैस (या मेथेन CH_4) पेट्रोलियम, मोम आदि में उपस्थित है। यह कार्बोनेट के रूप में भी मिलता है जैसे खड़िया, संगमरमर, चूना-पत्थर, केल्शियम कार्बोनेट, मेगनीशियम कार्बोनेट, जिंक कार्बोनेट आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्बन प्रकृति में विस्तृत रूप से मिलता है।

कार्बन के अपरूप (Allotropic Forms of Carbon):—कार्बन कई रूपों में मिलता है। इनमें से दो मणिभीय (Crystalline) और शेष अमणिभीय (Amorphous) होते हैं। मणिभीय कार्बन के दो रूप होते हैं। (i) हीरा—(Diamond) और (ii) ग्रेफाइट (Graphite)। अमणिभीय रूपों में कोल (Coal), चारकोल (Charcoal), काजल (Lamp-black) आदि हैं जैसा कि नीचे बतलाया गया है। हीरा संसार में सबसे कठोर पदार्थ है। ऐसा विचार है कि हीरे द्रवित कार्बन के बहुत अधिक दबाव पर रवे बनने के कारण बनते हैं। सन् 1893 में मोइसन (Moissan) ने सर्वप्रथम कृत्रिम रीति से विद्युत् भट्टी के प्रयोग से बहुत छोटे २ हीरे बनाये। उन्होंने शुद्ध लोहे व चीनी के कोयले को एक क्रुसिबल (Crucible) में रख कर एक विद्युत् भट्टी में गर्म किया। लोहा पिघल कर उबलने लगा। तब इसमें कुछ कार्बन घुल गया। 4000°C ताप हो जाने पर मोइसन ने क्रुसिबल को पानी में छोड़ कर ठंडा होने दिया जिससे लोहे की बाहरी सतह ठोस होने लगी। लोहे के ठोस होकर फैलने के गुण के कारण अन्दर के द्रव पर बहुत ही दबाव पड़ा। इस कारण घुलित कार्बन छोटे २ हीरों के रूप में अलग हो गया। ठोस लोहे को तनु (Dilute) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में घोल लिया। बचे हुए कार्बन में बहुत से छोटे २ कृत्रिम हीरे पाये गये। मोइसन के प्रयोगों को सन् 1917 में रफ़ (Ruff) ने सफलता पूर्वक दोहराया।

हीरा	ग्रेफाइट	अमणिभीय कार्बन
(i) बहुमूल्य जवाहरात के रूप में। (ii) कांच काटने में, (iii) खोदने (Drilling) और चट्टानों को कुरेदने में। (iv) अन्य पत्थरों को काटने व चमकाने में काम आता है।	(i) लेड पेन्सिल बनाने में। (ii) इलेक्ट्रो-टाइपिंग या इलेक्ट्रोप्लेटिंग में विद्युत् कुचालकों पर सुचालक तह बनाने के काम में। (iii) विद्युत्-द्वार बनाने में। (iv) भारी मशीनों में स्वेदन (Lubrication) के लिये सूखे पाउडर के रूप में या तेल अथवा पानी में कोलायडल अवस्था में. (v) सूखे सेलों में। (vi लोहे की वस्तुओं को पालिश करने के लिये काम आता है।	(i) चारकोल—ईंधन के रूप में, बारूद बनाने में, तेल, शक्कर आदि को रंगहीन करने में। (ii) काजल—छापे की स्याही, पेन्ट आदि बनाने में। (iii) कोल—ईंधन के रूप में, कोल-गैस (Coal-gas) बनाने में। (iv) गैस-कार्बन-विद्युत् द्वार बनाने में। (v) कोक (Coke)—जलाने के काम में और धातु-विज्ञान (Metallurgy) में काम आता है।

हमें मालूम है कि कार्बन के लगभग दस लाख यौगिक ज्ञात हैं और नित्य नये कार्बन के यौगिक बनते जा रहे हैं जिनका हमारे जीवन में उपयोग होता रहता है। इसका क्या कारण है कि अकेला कार्बन तत्व इतने अधिक यौगिक बना सकता है, शेष तत्व नहीं बना पाते ? इसका अध्ययन हम नीचे की पंक्तियों में करेंगे।

कार्बनिक यौगिकों के निर्माण का प्राण-शक्ति सिद्धान्त (Vital Force Theory) :—कार्बन के यौगिकों का अध्ययन हम कार्बनिक

रसायन में करते हैं जिसे अंग्रेजी में ऑरगेनिक केमिस्ट्री (Organic Chemistry) कहते हैं। 'आरगेनिक' शब्द से जीवन का वोध होता है। सन् 1800 तक कार्वनिक यौगिकों की प्राप्ति वनस्पतियों से अथवा प्राणियों से ही होती थी। उदाहरण के लिये, चीटियों के आसवन (Distillation) से फार्मिक अम्ल (Formic acid) नींबू के रस से साइट्रिक अम्ल (Citric acid) गन्ने के पेड़ (Sugarcane) से शक्कर (Sugar) जानवरों के पेशाब से यूरिया (Urea) प्राप्त किया जाता था, इत्यादि।

तत्कालीन वैज्ञानिक यह मानते थे कि कार्वनिक यौगिकों का निर्माण प्रयोग शाला में नहीं किया जा सकता। स्वीडन के प्रसिद्ध रसायनज्ञ वर्जिलियस (Berzilius) ने 1815 में 'प्राण-शक्ति सिद्धान्त' (Vital force-Theory) की घोषणा की जिसके अनुसार कार्वनिक यौगिकों की रचना के लिये प्राण-शक्ति की आवश्यकता है जो कि वनस्पतियों और प्राणियों में तो मिलती है परन्तु प्रयोगशाला में नहीं मिल सकती। इस लिये कार्वनिक यौगिकों का प्रयोगशाला में निर्माण नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः प्राणशक्ति-सिद्धान्त का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था परन्तु वर्जिलियस जैसे प्रसिद्ध रसायनज्ञ द्वारा प्रतिपादित होने के कारण यह कुछ समय तक प्रचलित रहा

प्राण-शक्ति सिद्धान्त का अन्त (Fall of Vital force Theory) :—धीरे २ समय बीतने पर वैज्ञानिकों के मन में प्राण-शक्ति सिद्धान्त के विषय में कुछ अविश्वास उत्पन्न होने लगा। सन् 1828 में जर्मनी के रसायनज्ञ फ्रेडरिक वोहलर (F. Wohler) ने अकार्वनिक यौगिक अमोनियम सायनेट को गर्म करके यूरिया (Urea) प्राप्त किया, जो कि इनके पूर्व जानवरों के मूत्र से प्राप्त होने के कारण कार्बनिक पदार्थ समझा जाता था। इसी प्रकार सन् 1845 में कोल्वे (Kolbe) ने कार्वन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के संयोग से ऐसिटिक एसिड (Acetic acid) का निर्माण किया, जो कि एक कार्वनिक पदार्थ है। सन् 1856 में वर्थेलो (Berthlot) कार्वन और हाइड्रोजन के संयोग से मेथेन गैस प्राप्त करने में सफल हुए। इन और ऐसे ही अन्य प्रयोगो ने प्राण-शक्ति सिद्धान्त का अन्त कर दिया और यह वात

स्पष्टतया सिद्ध कर दी कि प्रयोग-शाला में भी कार्बनिक यौगिकों का निर्माण अकार्बनिक यौगिकों से किया जा सकता है।

अब हम कार्बन-परमाणु के इस अद्भुत गुण का अध्ययन करेंगे जिसके कारण यह लाखों यौगिक बनाने की क्षमता रखता है।

कार्बनिक यौगिकों में संयोजकता बन्धन :—कार्बन-परमाणु की संयोजकता चार होती है और यह सहबन्धन (Covalent Linkages) बनाता है। इस कारण कार्बन के यौगिक प्रायः सहबन्धनीय यौगिक होते हैं और इन सब में कार्बन चतुः संयोजक [Tetravalent] होता है। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन के चार परमाणु कार्बन के एक परमाणु के साथ संयोग करके मेथेन (Methane) बनाता है। कार्बन की चारों संयोजकतायें भी समान होती हैं और वे परमाणु के चारों ओर संमितिक [Symmetrical] रूप से स्थित हैं। हेनरी ने मेथेन के चार हाइड्रोजन परमाणुओं को क्रम से बदल कर नाइट्रो मेथेन के चार नमूने [Samples] प्राप्त किये और यह देखा कि वे सब एक समान ही हैं अर्थात् उनमें कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कार्बन की चारों संयोजकतायें एक समान हैं।

```
     H₁                  H₂                  No₂
     |                   |                   |
H₃ — C — H₂,       H₁ — C — No₂        H₃ — C — H₁   इत्यादि
     |                   |                   |
     H₄                  H₄                  H₄
   मेथेन            1—नाइट्रो-मेथेन        2—नाइट्रोमेथेन
```
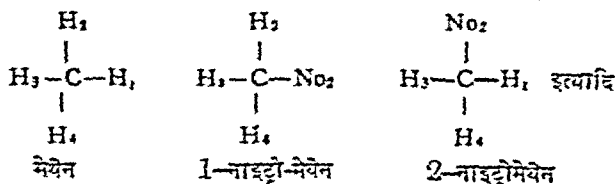
कार्बनिक यौगिकों का विभाजन (Classification of organic Compounds) : — कार्बनिक यौगिकों को हम मोटे रूप में दो श्रेणियों में बांट सकते हैं—

(१) वसीय या विवृत्त-शृंखल यौगिक (Aliphatic or open-chain compounds) :— ऐसे यौगिक जिनमें कार्बन परमाणु दोनों सिरों से खुली शृंखलाओं के रूप में जमे हुए हों, विवृत्त-शृंखल (Open-chain) यौगिक कहलाते हैं। क्योंकि इस श्रेणी के जिन कुछ

यौगिकों का अध्ययन प्रारम्भ में किया गया था, वे वसा में पाये जाने वाले अम्ल थे, इसलिये इन सब यौगिकों को वसीय यौगिक कहा जाने लगा। इस श्रेणी के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—:

```
    H          H  H          Cl           H
    |          |  |          |            |
 H—C—H     H—C—C—H      H—C—Cl       H—C—OH
    |          |  |          |            |
    H          H  H          Cl           H
  मेथेन        एथेन        क्लोरोफॉर्म     मेथिल अल्कोहल
```
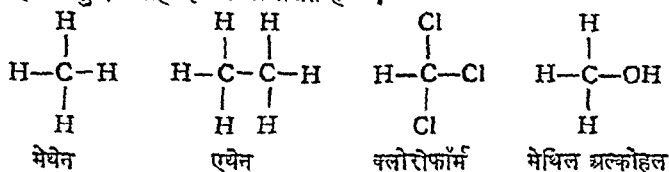
(२) संवृत्त-श्रृंखल या चक्रीय यौगिक (Closed-chain or Cyclic compounds) :— इन यौगिकों में कारबन के परमाणु परस्पर संयोग करके संवृत्त-श्रृंखलाएं बनाते हैं। इस श्रेणी के कुछ यौगिकों की संवृत्त-श्रृंखलायें कार्बन के छः परमाणुओं की बनी होती है और ये अधिकतर पौधों में मिलते हैं। क्योंकि इस श्रेणी के बहुत से यौगिक सुगन्ध या सौरभ वाले हैं इसलिये इस वर्ग के यौगिक (सब चक्रीय-यौगिक नहीं) सौरभिक यौगिक (Aromatic Compounds) कहलाते हैं। जैसे :—

```
     H           NH2          H
   //C\         //C\        //C\
  HC   CH      HC   CH     HC   C.OH
  |    ||      |    ||     |    ||
  HC   CH      HC   CH     HC   CH
   \\C/         \\C/        \\C/
     H            H           H
   बेंजीन        एनिलिन
 (Benzene)     (Aniline)
```
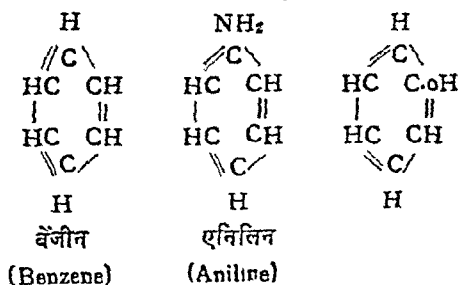
अब हम कार्बन के यौगिकों के कुछ महत्वपूर्ण गुणों का अध्ययन करेंगे—जिनसे कार्बन की अद्भुतता का हमें ज्ञान होता है :—

(1) कार्बनिक पदार्थों की संख्या :— जैसा हम ऊपर पढ़ चुके हैं, आज कार्बन के यौगिकों की संख्या लगभग दस लाख तक पहुँच चुकी है और नित्य नये कार्बनिक यौगिक बन रहे हैं जब कि अकार्बनिक यौगिकों की संख्या केवल पचास हजार है।

[2] विशिष्ट गंध और रंग :—अनेक कार्बनिक यौगिकों में प्राय: विशिष्ट गंध होती है और प्राय: विशिष्ट रंग भी होता है। पेट्रोल, शराब, सिरका, कपूर, बेन्जीन आदि अपनी विशिष्ट गंध से पहचाने जाते हैं। अकार्बनिक यौगिकों में प्राय: ऐसी कोई खास गन्ध (Odour) या रंग [Colour] भी नहीं होता है। जैसे—पानी, नमक, शोरा, नौसादर आदि।

[3] उद्भव :— अकार्बनिक यौगिक खानों से प्राप्त होते हैं जबकि कार्बनिक यौगिक प्राय: प्राणियों और वनस्पतियों से मिलते हैं।

[4] घुलनशीलता :— कार्बनिक यौगिक प्राय: पानी में नहीं घुलते। ये कार्बनिक विलायकों (Organic solvents) जैसे ईथर, अल्कोहल आदि में घुल जाते हैं। इसके विपरीत, अकार्बनिक यौगिक बहुधा पानी में घुल जाते हैं परन्तु कार्बनिक विलायकों से नहीं घुलते।

[5] निर्माण में कम तत्वों का उपयोग :—कार्बनिक यौगिकों की संख्या इतनी अधिक होते हुए भी इनके निर्माण में कुछ ही तत्व लगते हैं जैसे कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडिन इत्यादि। परन्तु अकार्बनिक यौगिकों की रचना से प्राय: सभी तत्वों में से कोई न कोई तत्व उपस्थित रहता है जैसे सोडियम, गंधक, फास्फोरस, लोहा, जस्ता, मैंगनीज, मेगनेशियम, केलशियम इत्यादि।

[6] आयनीकरण :—कार्बनिक यौगिकों की रचना में कार्बन के परमाणु सहबंधनों द्वारा संयोग करते हैं इसलिये जल में घुलने पर आयनीकृत [Ionised] नहीं होते हैं जबकि अकार्बनिक यौगिकों की रचना में तत्वों के परमाणु विद्युत-बंधनों से संयोग करते हैं इसीलिये पानी में घुलने पर आयनीकृत हो जाते हैं। उदाहरण के लिये एथिल क्लोराइड [Ethyl Chloride] C_2H_5Cl—आयनीकृत नहीं होता है परन्तु पोटेशियम क्लोराइड आयनीकृत हो जाता है।

$$KCl = \overset{+}{K} + \overset{-}{Cl}.$$
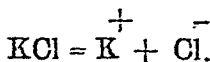
[7] वाष्पशीलता :— कम ताप पर ही कार्बनिक यौगिकों की वाष्प बनने लग जाती हैं और इनके द्रवणांक [Melting-point] तथा क्वथनांक [Boiling-point] भी कम ही होते हैं। उदाहरण के लिये अल्कोहल का

क्वथनांक 78°c और ईथर का 35°c है ! इसके विपरीत, अधिकतर अकार्बनिक यौगिक वाष्पशील [Volatile] नहीं होते हैं और इनके क्वथनांक तथा द्रवणांक भी ऊंचे होते हैं जैसे पारे का क्वथनांक 357°c होता है और नमक का द्रवणांक 850°c है।

[8] **प्रक्रियायें और उनकी गति** :—कार्बनिक यौगिकों में प्रक्रियायें प्राय: जटिल [Complex] होती हैं। मुख्य प्रक्रिया के साथ ही गौण प्रक्रियायें (Side-reaction) भी होती रहती हैं। इस कारण मुख्य प्रक्रिया की गति बहुत धीमी होती है। ये प्रक्रियायें प्राय: पूर्णत तक भी नहीं पहुँचती और निर्मित पदार्थ की मात्रा उतनी नहीं बैठती जितनी गणना करने [Calculations] से प्राप्त होनी चाहिये। इसके विपरीत अकार्बनिक यौगिकों में न तो प्रक्रियायें ही जटिल होती हैं और न गति ही मंद होती है। निर्मित पदार्थ की मात्रा भी गणना के अनुसार ही प्राप्त होती है।

(9) **समावयवता (Isomerism)** :— कार्बनिक यौगिकों में समावयवता का गुण पाया जाता है अर्थात् अनेक भिन्न २ यौगिकों का एक ही अणुसूत्र होता है। उदाहरण के लिये एक अणुसूत्र C_2H_6O दो यौगिकों का होता है (i) डाई-मेथिल-ईथर $\begin{matrix}CH_3\\CH_3\end{matrix}>O$ और (ii) एथिल अल्कोहल C_2H_5OH दोनों भिन्न २ गुणों वाले दो अलग यौगिक हैं। इसी प्रकार एक ही अणुसूत्र $C_4H_{10}O$ से छः यौगिक प्रकट होते हैं जिनमें से दो ईथर और चार अल्कोहल हैं।

$C_2H_5-O-C_2H_5$	डाइ-एथिल ईथर	सरल सूत्र $C_4H_{10}O$.
$CH_3-O-C_3H_7$	मेथिल प्रोपिल ईथर	$C_4H_{10}O$.
$CH_3 \cdot CH_2 \cdot CH_2 \cdot CH_2OH$	प्राइमरी ब्यूटिल अल्कोहल	$C_4H_{10}O$.
$\begin{matrix}CH_3\\CH_3\end{matrix}>C<\begin{matrix}H\\CH_2OH\end{matrix}$	आइसो ब्यूटिल अल्कोहल	$C_4H_{10}O$.
$\begin{matrix}CH_3 \cdot CH_2\\CH_3\end{matrix}>C<\begin{matrix}H\\OH\end{matrix}$	सेकन्डरी ब्यूटिल अल्कोहल	$C_4H_{10}O$.
$\begin{matrix}CH_3\\CH_3\end{matrix}>C<\begin{matrix}CH_3\\OH\end{matrix}$	टर्शरी (Tertiary) ब्यूटिल अल्कोहल	$C_4H_{10}O$.

ऐसे और कई उदाहरण कार्बनिक यौगिकों के दिये जा सकते हैं जिनमें एक ही अणुसूत्र प्रायः दो या दो से अधिक यौगिकों को प्रदर्शित करता है। परन्तु अकार्बनिक यौगिकों में ऐसा कोई गुण नहीं पाया जाता है। अकार्बनिक रसायन में एक अणुसूत्र एक ही यौगिक को प्रदर्शित करता है, जैसे H_2O पानी को, Nacl. नमक को, NH_4Cl नौसादर को, $CuSO_4.5H_2O$ नीले थोथे को, KNO_3 शोरे को, HNO_3 नाइट्रिक अम्ल को इत्यादि।

(10) अणुओं की संकीर्णता (Complexity of Molecules) : कार्बनिक यौगिकों के अणु ज्यादातर अधिक संकीर्ण होते हैं। इनके अणुभार काफी उच्च होते हैं जैसे प्रोटीनों के अणुभार तीस हजार तक होते हैं। परन्तु अकार्बनिक यौगिक ऐसे नहीं होते हैं जिनका अणुभार इतना अधिक हो।

(11) सजातीय श्रेणियां (Homologous Series) :— कार्बनिक यौगिकों को कई श्रेणियां में बांटा गया है जिनकी यह विशेषता होती है कि हर एक श्रेणी में सम्मिलित यौगिकों के गुण आपस में मिलते जुलते हैं। इन्हें एक सामान्य सूत्र (General formula) द्वारा बतलाया जा सकता है। इनके गुण वास्तव में लाक्षणिक मूलक [Charactristic Group] के गुण होते हैं। उदाहरण के लिये अलकोहल श्रेणी में निम्नलिखित यौगिक शामिल हैं। इस श्रेणी का सामान्य सूत्र $C_n H_{2n+1}OH$ है और इसका लाक्षणिक मूलक OH है।

$CH_3\,oH$ मेथिल अल्कोहल

$C_2H_5\,oH$ एथिल अल्कोहल

C_3H_7oH प्रोपिल अल्कोहल

अकार्बनिक यौगिकों में समान गुण वाले एक ही सामान्य सूत्र वाले यौगिकों की संख्या बहुत ही कम होती है अतएव उनको श्रेणीबद्ध करने की जरूरत ही नहीं होती।

कार्बनिक यौगिकों के विशेष गुणों के ऊपर दिये हुए विवरण से कार्बन परमाणु की विचित्रता का हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं। अब हम यह

देखेंगे कि किस प्रकार निरन्तर बढ़ते हुए ये कार्बनिक यौगिक हमारे दैनिक जीवन एवं उद्योग-व्यवसाय में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

कार्बनिक यौगिकों का दैनिक जीवन और उद्योग-व्यवसाय में उपयोगः – कार्बनिक यौगिक हमारे जीवन के हर क्षेत्र में उपयोग में आते हैं। स्वयं हमारे शरीर के तन्तु कार्बनिक पदार्थों के बने हुए हैं। हमारे जीवन की अत्यन्त आवश्यक वस्तुयें–भोजन और वस्त्र भी अधिकांश कार्बनिक यौगिक हैं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में काम में आने वाली बहुत सी वस्तुएं जैसे चाय, कॉफी, कागज, पेंसिल, रबर, स्याही, चमड़ा, लकड़ी और इसका सामान, अधिकांश औषधियां इत्यादि अनेक पदार्थ कार्बनिक यौगिक हैं। वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं एवं हमारे शरीर का भी पोषण और विकास अनेक कार्बनिक यौगिकों को रासायनिक क्रियाओं द्वारा ही होता है। इसी प्रकार, विनाश के क्षेत्र में भी कार्बनिक यौगिकों का महत्वपूर्ण भाग है और इसलिये युद्ध-विषयक रसायन-विज्ञान की एक अलग ही शाखा बन गई है। (Chemistry of War Materials)। अब हम नीचे कार्बनिक यौगिकों का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

(1) **खाद्य पदार्थ**— भोजन की आवश्यकता हर एक सजीव प्राणी को होती है। हमारे भोजन की वस्तुओं को हम मुख्यतः छः भागों में बाँट सकते हैं। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा (Fats), खनिज पदार्थ (Minerals) विटामिन और पानी। खनिज पदार्थ और पानी को छोड़कर, शेष सभी भागों में कार्बनिक यौगिक होते हैं। प्रोटीनों में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, आक्सीजन और गंधक (या कुछ में फास्फोरस आदि) होता है। खून में हेमोग्लोबीन (Haemoglobin), दूध, अंडों और अनाज में एल्ब्यूमिन (Albumen), मांस में मायोसिन (Myosin), मछलियों में प्रोटेमीन (Protamine), दूध में केसीन (Casein) और गेहूं के आटे में ग्लूटन [Gluten] नामक प्रोटीन पाये जाते हैं। प्रोटीन की रचना बड़ी जटिल होती है। प्रोटीन के छोटे से छोटे अणु में कम से कम दस हजार परमाणु पाये जाते हैं। इसी प्रकार कार्बोहाइड्रेट कारबन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के यौगिक हैं। इनमें ग्लूकोज, फ्रुक्टोज, लेक्टोज, सुक्रोज, स्टार्च, सेल्यूलोज

आदि शामिल हैं। ग्लूकोज पके अंगूरों, शहद और मीठे फलों में पाया जाता है और रक्त का आवश्यक अंग है। शरीर के लिये यह शक्ति का सुन्दर उत्पादक माना जाता है और रोगियों व बच्चों को खाने के लिये दिया जाता है। फ्रुक्टोज भी फलों और शहद में पाया जाता है। सुक्रोज या चीनी, जिससे हम सभी परिचित हैं, गन्ने और फलों के रस में पाई जाती है। इसी तरह, लैक्टोज समस्त जन्तुओं के दूध में पाया जाता है। स्टार्च हरे पौधों, गेहूँ, जौ, मक्का, चावल, अखरोट और आलू में पाया जाता है। सेल्यूलोज अनाज के छिलकों, फलों और तरकारियों में पाया जाता है।

वसा (Fats) भी कार्बोहाइड्रेट की तरह कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के यौगिक हैं और शरीर को शक्ति प्रदान करते हैं। ये नारियल के तेल, सरसों के तेल, मूंगफली के तेल, तिल के तेल, इत्यादि तेलों में, दूध, घी, मक्खन, पशुओं के मांस, मछली के तेल और सूखे मेवों में बहुतायत से पाये जाते हैं। विटामिन तो हमारे जीवन के लिये बहुत महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य ही हैं। कई विटामिन आजकल मालूम हो चुके हैं जिन्हें विटामिन ए, बी, सी, डी, ई, [A, B, C, D, E] आदि नाम दिये गये हैं। ये दूध, मक्खन, मछली के तेल, हरी तरकारियों, टमाटर, संतरा, नींबू, अंगूर, आदि फलों, चावल, गेहूं, मूंगफली, मांस, अण्डों आदि में पाये जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे भोजन में कार्बनिक यौगिकों को अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

[2] वस्त्रः—हमारे वस्त्र भी कार्बनिक यौगिकों से निर्मित होते हैं। प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त कपास, ऊन और रेशम का प्रयोग हम अपने वस्त्रों के लिये तो करते ही हैं [जो कि सब कार्बनिक यौगिक हैं] परन्तु इसके अतिरिक्त लकड़ी के बुरादे के रूप में उपस्थित सेल्यूलोज से भी हमें कृत्रिम सूतों द्वारा रेयॉन और नाइलॉन प्राप्त होते हैं जिनके वस्त्र बनाये जाते हैं।

[3] औषधियाँ—चिकित्सा के क्षेत्र में भी कार्बनिक यौगिकों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से ही हम जड़ी बूटियों और वनस्पतियों का औषधियों के रूप में उपयोग करते आ रहे हैं। आधुनिक औषधियां जैसे पेनिसीलिन, स्ट्रेप्टोमाइसीन, क्लोरोमाइसिटीन, एक्टिनोमाइसीन, सल्फा

औषधियां, क्लोरोफॉर्म, आयडोफॉर्म, कार्बोलिक अम्ल, कुनैन, एस्प्रिन, कृत्रिम विटामिन आदि सभी कार्बनिक यौगिक ही हैं।

[4] उद्योग और व्यवसाय:– कार्बनिक यौगिकों का उपयोग उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी बहुतायत से किया जाता है। मिट्टी के तेल, पेट्रोलियम, ईंधन गैसें जैसे जल गैस [Water gas], प्रोड्यूसर गैस, अर्ध-जल-गैस [Semi-Water Gas], तेल गैस, कोल गैस इत्यादि, प्राकृतिक और कृत्रिम रबर प्लास्टिक, कागज, कपड़े, रंग, रोगन, साबुन, शक्कर क्रीम, तेल, सुगंधित पदार्थ, शृंगार की सामग्रियों के निर्माण इत्यादि अनेक व्यवसायों और उद्योगों में कार्बनिक यौगिकों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया जाता है।

(5) कृषि :— कृषि के क्षेत्र में खाद के रूप में अकार्बनिक यौगिकों के साथ ही कार्बनिक यौगिकों का भी उपयोग किया जाता है। मिट्टी में केवल खनिज पदार्थ ही नहीं पाये जाते हैं, जो उसे उपजाऊ बनाते हैं परन्तु इसमें एक कार्बनिक पदार्थ ह्यूमस (Humus) भी विभिन्न मात्राओं में होता है जो नष्ट हुए जानवरों या पौधों से बनता है। इसके अलावा, मिट्टी में उपयोगी कीड़े, जैसे केंचुए आदि और असंख्य छोटे २ कीटाणु [जिन्हें हम अपनी आंखों से देख भी नहीं सकते], भी होते हैं जो मिट्टी की उर्वरा–शक्ति को बनाये रखने में काफी मदद देते हैं।

(6) युद्ध–सामग्री :—विनाश के क्षेत्र में भी कार्बनिक यौगिक इस्तेमाल किये जाते हैं। युद्ध–सामग्रियों में दो वस्तुयें महत्वपूर्ण हैं (i) विस्फोटक (Explosives) और (ii विषैली गैसें [Poisonous gases].

विस्फोटक ठोस, तरल या गैसीय पदार्थ होते हैं। इनमें बारूद [जिसमें शोरा, गंधक और कोयला लगभग 75, 10 और 15 के अनुपात में मिले रहते हैं], गॅन–कॉटन (Gun-Cotton), नाइट्रो-ग्लिसरीन, डाइनेमाइट, पिकरिक अम्ल और ट्राइ-नाइट्रो-टालीन (T.N.T) प्रमुख हैं।

युद्ध में काम में आने वाले हथियारों में विषैली गैसों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इनके उपयोग से अधिकतर मृत्यु तो नहीं होती है परन्तु

क्षति-ग्रस्त लोगों की संख्या बढ़ जाती है और दुश्मन का साहस टूट जाता है। इनमें कुछ गैसें तो नेत्रों पर विनाशकारी प्रभाव डालती हैं जैसे अश्रु-गैस। कुछ त्वचा को क्षति पहुँचाती हैं जैसे मस्टर्ड गैस (Mustard Gas) जिसके प्रभाव से त्वचा पर गहरे छाले (या फफोले) पड़ जाते हैं जिनसे असह्य पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त मस्टर्ड गैस नेत्रों में जलन भी पैदा कर देती है और आंखों को नष्ट भी कर देती है। यह महा विषैली गैस है। कभी-कभी इससे मिश्रित पानी पीने से या भोजन करने से मनुष्य मर भी जाता है क्योंकि पाचन संस्थानों पर छाले पड़ जाते हैं। इसी प्रकार लेवीसाइट (Lewisite) गैस के सम्पर्क में आने पर त्वचा लाल पड़ जाती है और एकाध घंटे में छाले भी पड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गैसें फेफड़ों पर भी विनाशकारी प्रभाव डालती हैं जैसे क्लोरीन, फास्जीन इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्बनिक यौगिकों का उपयोग प्राय: हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होता है। इतनी अल्प मात्रा में प्रकृति में होने पर भी कार्बन की यह अद्भुतता ही है कि वह जीवन के लिये आवश्यक है और उसके लाखों यौगिक बनते हैं जो कि हमारे दैनिक जीवन में तथा उद्योग और व्यवसाय में प्रयुक्त होते हैं।

प्रश्न

1. 'कार्बन की अद्भुतता' पर एक निबन्ध लिखिये।
2. कार्बनिक यौगिकों की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
3. कार्बनिक यौगिकों का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्या उपयोग है? संक्षेप में बतलाइये।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखो—
   (i) कार्बन की संयोजन-क्षमता (ii) बर्जीलियस का प्राण-शक्ति सिद्धान्त और उसका पतन (iii) कार्बन के अपरूप और उनके उपयोग।

अध्याय ६

जीव-वस्तु के गुण

(Characteristics of Living Organism)

विज्ञान ने हमारी मान्यताओं में कई मौलिक परिवर्तन किये हैं। पहले यह ाना जाया करता था कि जीव या चेतना पदार्थ या प्रकृति से बिल्कुल भिन्न तत्व है, इन दोनों में कोई संबन्ध है ही नहीं। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डारविन के विकासवाद के बाद वैज्ञानिक लोग यह मानने लगे कि जीव का विकास पदार्थ में से ही हुआ है-कि प्राण और चेतना का उद्भव द्रव्य (Mattr) में से ही हुआ है। धीरे धीरे भौतिकवादी वैज्ञानिक यह सोचने लगे कि चूंकि प्राण या जीव प्रकृति का ही अंग है, उसी में से इसका विकास हुआ है, *इसलिए जो भौतिक नियम जड़ प्रकृति पर लागू हैं वे ही जीव या चेतन* वस्तु पर भी लागू हो सकते हैं। धारणा यहां तक बनी कि चेतन शरीर भी मानो मशीन ही है,-एक एंजिन ही है। जिस तरह एंजिन में अनेक कल पुर्जे होते हैं उसी तरह शरीर में भी हैं; जिस तरह एंजिन कोयला, पानी या पैट्रोल खाकर शक्ति उत्पन्न करता है और चलता है उसी तरह जीव-शरीर भी भोजन रूपी कोयला खाकर शक्ति उत्पन्न करता है और तभी चल सकता है; जिस तरह एंजिन खाए हुए पदार्थ में से अपना तत्व निकाल कर बचे हुए बेकार पदार्थ को बाहर फेंक देता है उसी तरह शरीर भी भोजन तत्व में से शक्ति तत्व पचाकर शेष बेकार भाग को बाहर फेंक देता है; जिस तरह मशीन अनियमित प्रयोग से, या उसकी शक्ति से अधिक प्रयोग से बिगड़ जाती है और बहुत काम आने के बाद बेकार हो जाती है, उसी प्रकार शरीर का भी अनियमित या उसकी शक्ति से अधिक प्रयोग करने से वह बिगड़ जाता है, और पुराना पड़ने पर, अपनी आयु आने पर वह मर जाता है।

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों की दृष्टि में अनेक ऐसे जीव पदार्थ आए जिनको देखकर यह कहना कठिन होजाता था कि वे जीव-वस्तु हैं या जड़-

वस्तु। जैसे, एमिबा को लें जो कि एक एक-कोशीय जीव है और काई से ढके तालाब के पानी में अणुवीक्षण यंत्र से देखा जा सकता है। इसका शरीर सफेद चिकना और गिलगिला-सा होता है, इतना छोटा मानों एक बहुत ही सूक्ष्म बूंद-सी कोई चीज हो; इसके हाथ मुँह पेट, पैर जैसे अवयव अलग नहीं होते और यह केवल एक जड़-वस्तु के कण के समान मालूम होता है। इसके अतिरिक्त बैक्टिरिया-फेज एवं वाइरस जैसे सूक्ष्म जीव पदार्थ देखने में आए जिनके लिए तो यह कहना और भी अधिक कठिन था कि वे जीव वस्तु हैं या जड़ वस्तु-मानो जीव और जड़ वस्तु के बीच में कोई अन्तर ही न हो।

किन्तु शरीर के मशीनवत होते हुए भी, एवं कुछ सूक्ष्म जीवों के जड़-वस्तु के समान दिखते हुए भी जीवप्राणी में कुछ ऐसे गुण ऐसी विशेषतायें होती हैं, जो उसको जड़ वस्तु से सर्वथा पृथक श्रेणी में रखती हैं। इनमें से ६ विशेषताएँ मुख्य हैं जो नीचे दी जाती हैं।

१. उत्तेजित्य:—जब जीव वस्तु पर कोई भी बाहरी प्रभाव पड़ता है तो वह उत्तेजित हो जाता है; उनके शरीर में उस बाहरी प्रभाव के प्रति-क्रिया स्वरूप अपने आप कुछ परिवर्तन कर लेने की शक्ति होती है और वह उस प्रभाव का मुकाबला करने के लिये क्रिया शील हो जाता है; जैसे, किसी छोटे से कीड़े के बदन में सुई चुभो दें तो वह जरा सिकुड़ जाता है। इसी तरह यदि एमिबा जैसे बहुत सूक्ष्म जीव के शरीर को बहुत कम शक्ति वाली विद्युत की धारा से छूदें तो उसके शरीर की गति विपरीत दिशा की ओर हो जाती है। इस प्रकार शरीर में अपने आप परिवर्तन होकर उत्तेजित हो जाना केवल जीव वस्तु का गुण या लक्षण है। इसके बिना कोई भी जीवधारी जलवायु या अन्य भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन उपस्थित हो जाने की स्थिति में जीवित नहीं रह सकते।

२. आत्मीकरण:—जीव बाहर से भोजन ग्रहण करता है, उसको स्वयं पचा लेता है और अपने रक्त, मांस मज्जा में परिवर्तन कर लेता है। कुछ ऐसी-सी अद्भुत प्रक्रिया उसके शरीर में अपने आप होती है कि मानों वह जड़, अन्न,तुल्य प्राण और चेतना में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी प्रक्रिया छोटे से

छोटे जीव से लेकर वड़े से वड़े जीव तक होती रहती है,—एमिबा से लेकर मानव प्राण तक।

३. वर्धनः—भोजन पाकर सभी जीवों का शरीर वढ़ता है, चाहे वह एक सीमा तक बढ़ कर फिर बढ़ना रुक जाता हो। पेड़ भी वढ़ता है, कीड़े-मकौड़े पशु और पक्षी भी वढ़ते हैं, और वालक भी बढ़ता है। इस प्रकार वाहरी भोज्य तत्व को अपने आप में सर्वथा आत्मसात करके वढ़ना पत्थर, मिट्टी आदि जड़ वस्तुओं का लक्षण नहीं होता।

४. मलोत्सर्गः— प्रत्येक जीवधारी, एमिवा भी, वाहरी भोजन को आत्मसात करने के उपरांत शरीर के लिए अनुपयोगी पदार्थ का मल के रूप में त्याग करता है। इस प्रकार की प्रक्रिया किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं होती।

५. सन्तानोत्पादनःप्रकृति की एक यह विलक्षण गति है, कहना चाहिए कि एक आन्तरिक आवश्यकता है कि प्रत्येक प्रकार के जीव अपनी वंश परम्परा नैसर्गिक ढंग से चलाते रहते हैं। पेड़ के पत्ते उगते हैं, और फिर फूल, फल और फिर फल में बीज आते हैं। फिर वीजों से पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। अनेक ऐसे सूक्ष्य जीव हैं जिनकी सन्तानोत्पति के लिए लिग भेद की आवश्यकता नहीं और उनके शरीर ही, आवश्यक स्थिति आने पर, विभक्त होकर दो हो जाते हैं. दो से चार, और चार से आठ,—इसी प्रकार वढ़ा करते हैं; एमिबा ऐसे ही जीव का उदाहरण है। जो जीव, जीव-शास्त्रीय दृष्टि से, ऊंचे होते हैं उनमें लिग भेद होता है और वे अपनी अपनी नैसर्गिक क्रिया से उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार मलज, उद्भिज्य, अण्डज और जरायुज सभी जीव-जातियों की परम्परा इस विश्व में चलती रहती है।

६. उच्चतर चेतनाः—जीव-वस्तु की सर्वोपरि विशेपता तो यही है कि उसमें चेतन तत्व अधिक विकसित और प्रत्यक्ष रूप में होता है। ज्यों ज्यों जीव उच्चतर कोटि का होता जाता है त्यों त्यों उसमें चेतनता गहनतर होती जाती है—उसमें भाव, विचार, स्मरण, विवेक, कल्पना इत्यादि की अभिव्यक्ति

होने लगती है। मानव में चेतन गुण की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति यही है कि वह अपने आपको जानने का प्रयास करता है कोई भी जड़ वस्तु ऐसा नहीं करती।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. मानव शरीर और मशीन की समानता किस तरह से की गई है ?

२. किस आधार पर कहा जाता है कि जीव और अजीव वस्तु में भेद करना कठिन है ?

३. वे कौनसी विशेषतायें हैं जो जीवधारियों में मिलती हैं किन्तु जड़-वस्तुओं में नहीं ?

अध्याय १०

कोषाणु की संरचना

(Structure of the Cell)

मोटी दृष्टि से देखने से तो यह कह सकते है कि जीवों का शरीर किन्हीं अवयवों का बना है, जैसे मानव शरीर को ही लें तो कह सकते हैं कि इसमें सबसे ऊपर खाल; खाल के नीचे चर्बी को झिल्ली और उसके अंदर स्नायु-सूत्र और खून की नलियाँ; फिर मांस को ढकने वाली झिल्ली और मांस, साथ ही मांस के अंदर स्नायु और खून की नलियां; तब हड्डी को ढकने वाली झिल्ली, फिर हड्डी और सबसे अंत में हड्डी के अंदर गूदा और फिर मज्जा होते हैं। किन्तु जीवमात्र के शरीर की संरचना का पता लगाते लगाते जीवशास्त्री ने जाना है कि अन्ततोगत्वा सभी जीवों के शरीर का अंतिम भाग एक बहुत ही सूक्ष्म अंग है जिसको हम बिना सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता के नही देख सकते, और जो अपने आप में एक सम्पूर्ण जीवित इकाई (Living Unit) है। इसको हम कोषाणु (Cell) कहते हैं। इन्हीं कोषाणुओं के समूह से छोटे से छोटे जीव के शरीर से लेकर बड़े से बड़े जीव तक के शरीर का निर्माण होता है। छोटा से छोटा जीव एमीबा है जो केवल एक कोषाणु से निर्मित है, जब कि मानव शरीर ऐसे लाखों कोषाणुओं का संघटन है।

वैज्ञानिकों ने स्थापित किया है कि समस्त जीव वस्तुएं—वनस्पति, पशु-पक्षी, मानव, लघु से लघुतम, विशाल से विशाल तर तत्वतः इन्हीं समान इकाइयों-कोषाणुओं से निर्मित है। जर्मन वैज्ञानिक थियोडोर श्वान (१८१०—१८८२) ने लिखा है, "वनस्पति और पशु संसार में विभेद की—उनकी संरचना में विभिन्नता की—जो दीवार थी वह इस प्रकार लुप्त होती है। पशुओं (Animals) में कोषाणु (Cells), कोषाणु-आवरण,

कोषाणु में स्थित 'वस्तु' और कोषाणु-केन्द्रक सब उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ये भाग वनस्पतियों में हैं।"

जिस जीव शरीर में कोषाणु होते हैं उस जीव का तो अपना प्राण और अपनी चेतना होती ही है किन्तु उसके कोषाणुओं में भी अपना स्वतंत्र प्राण होता है—कोषाणु जीवित वस्तुएं तो हैं हीं। यह बात कि कोषाणुओं में अपना स्वतंत्र प्राण होता है वैज्ञानिक हरीसन ने १९०७ ई. में प्रायोगिक ढंग से सिद्ध की। उसने एक मेंढक के स्नायु-संस्थान में से कुछ छोटे से अंश चीरकर अलग कर लिए और उन्हें रक्त की एक द्रव बूंद में डालकर रखा। वहां मेंढक के वे स्नायु कोषाणु वृद्धि पाते रहे और उनकी संख्या भी बहुत बढ गई। कोषाणुओं से निर्मित विशेष तन्तुओं (Tissues) को इस प्रकार उनके मूल शरीर से पृथक करके किसी द्रव्य में रखकर जीवित रखने के ढंग को टिस्यू कलचर (Tissue Culture) कहते हैं। इससे वैज्ञानिकों को कोषाणुओं के अध्ययन में बहुत मदद मिली है।

कोषाणु की खोज का इतिहास—सन् १६६७ ई० में रोबर्ट हुक (Robert Hook) सूक्ष्म दर्शक यंत्र सुधारने के काम में संलग्न था उस समय उसे डाट (Cork) के एक पतले से भाग को सूक्ष्म दर्शक यन्त्र के नीचे देखने का मौका पड़ा, और उसे यह देखने में आया कि वह पतला डाट का टुकड़ा मानों अनेक छोटे छोटे संदूकचों (या कोषाणुओं) का बना है जो मधु-मक्खी के छत्ते से मिलते-जुलते हैं। उसने इनका नाम कोषाणु रखा। कालान्तर में वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि वनस्पति और जीवधारी सभी का शरीर ऐसे कोषाणुओं का बना है। रूसी वैज्ञानिक गोरिआनिनॉफ (Goryaninov) ने १८२७ ई० में सबसे पहले यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि सभी औद्भिद जीव (Plant Organisms) कोषाणुओं से निर्मित होते हैं। १८३७ ई० में यही सिद्धांत उसने जीव प्राणियों के लिए ठीक ठहराया। १८३८ ई० में जर्मन वनस्पति शास्त्रज्ञ स्लीडेन (Schleiden) ने और फिर १८३९ ई० में प्राणि-शास्त्रज्ञ श्वान (Schwann) ने उक्त सिद्धांत की पुष्टि की। इस प्रकार यह सिद्धांत कि शरीर जीवकोषों का बना होता है, स्थापित हो गया। इस सिद्धांत